॥ श्रीः ॥

श्रीलघुभागवतामृतम् ।

(सटिप्पण–भाषानुवाद और तात्पर्य.)

श्रीमत्पूज्यपाद–रूपगोस्वामि विरचितम् ।
श्रीबलदेव विद्याभूषणकृतया संस्कृतटीकया समलंकृतम् ॥

अनेक ग्रंथोंके टीकाकार, रचयिता व अनुवादक
मुरादाबादनिवासी पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र-
द्वारा अनुवादित और व्याख्यात ।

तथा

वैष्णवसिद्धान्तमें सुपंडित, श्रीमद्भागवतादि शास्त्रोंके सुदक्ष व्याख्याता, श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणके अनुपम व्याख्यालेखक, भारतवर्षके सुविख्यात वक्ता और सुप्रसिद्ध धर्मप्रचारक श्रीराधाकृष्णसेवापरायण श्रीमन्महर्षिकात्यायनवंशावतंस स्वर्गीय-
पं० सुखानंदमिश्रात्मज मुरादाबादनिवासी–पंडित
ज्वालाप्रसादमिश्रद्वारा परिशोधित ।

'शास्त्रक्षीराब्धिसम्भूतं रूपधीमन्दरोद्धृतम् । जीयात्कामिसुरैः सेव्यं श्रीमद्भागवतामृतम् ॥'

जिसको

खेमराज श्रीकृष्णदासने

बंबई

निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) यन्त्रालयमें
मुद्रितकर प्रसिद्ध किया ।

माघ संवत् १९५९, शके १८२४.

॥ ॐ श्री हरिः ॐ ॥

श्रीमद्भागवतालोकं श्रीमद्भागवतैः सह ।
श्रीमद्भागवतैः स्वाद्यं श्रीमद्भागवतामृतम् ॥ १ ॥

यस्य ब्रह्मेतिसंज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्रसत्ता-
प्यंशो यस्यांशकैः स्वैर्विभवति वशयन्नेव यो वै पुमांश्च ।
एकं यस्यैव रूपं विलसति परमे व्योम्नि नारायणाख्यं
स श्रीकृष्णो विधत्तां स्वयमिह भगवान्प्रेम तत्पादभाजाम् ॥ १ ॥

दोहा—मुनिमनमोहन नंदसुत, व्रजजनप्राणअधार ।
कृष्णामृत भाषा करत, आवहु हृदय मँझार ॥ १ ॥
यह रहस्य अद्भुत अधिक, भक्तजननको प्राण ।
कहैं सुनै जे प्रेमतें, पावैं पद निर्वाण ॥ २ ॥
राधा भवबाधा हरो, मनकी जाननहार ।
ध्यान हमारेमें करहु, हरि सँग सदा विहार ॥ ३ ॥
ललिता चन्द्रावलि नमों, और विशाखा वाम ।
करो कृपा जन जानिकै, दीजे मन विश्राम ॥ ४ ॥
दीनदयाल कृपाल हैं, हरौ हमारी पीर ।
लेहु बचाय उठायकर, कृपासिन्धु मति धीर ॥ ५ ॥

समर्पण !

श्रीमहाराजाधिराजप्रबलप्रतापान्वित गुणिजनमंडलीमंडन परोपकारनिरत दुष्टजन-मान-मदमर्दन, अखंड यशवान धर्मधुरन्धर प्रमरवंशावतंस छत्रपुराधिप श्री १०८ श्रीमहाराजा साहिब श्रीराजा विश्वनाथ सिंहजूदेव महोदय करकमलेषु ।

राजन् !

आप साक्षात् के समय श्रीमान् ने आज्ञादी थी कि, "श्रीलघुभागवतामृत" का हिन्दी भाषाटीका करो आज उसही आज्ञा के अनुसार यह पुस्तक श्रीमान्के करकमल में अर्पित है अंगीकार कीजिये ।

मुरादाबाद-दीनदारपुरा.
पौष शुक्ल ७.
संवत् १९५९. वै०

शुभचिन्तक,
बलदेव प्रसाद मिश्र.
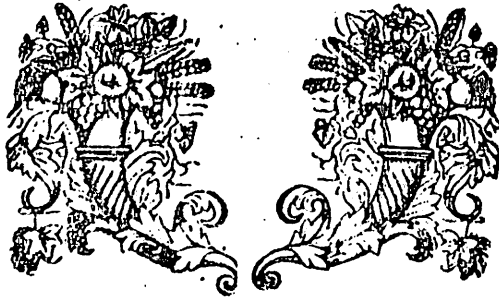
भूमिका ।

प्रियपाठकगण ! शीतकालका प्रारंभ था-गुलाबी शरदी होरही थी कि, बड़े भ्राता-पंडित ज्वालाप्रसादजी मिश्र- लालाशालिग्रामजी वैश्य और मुझको महाराजाधिराज विश्वनाथ सिंहजू देव छत्रपुरनरेशने अपने यहां बुलाया, साथमें परममित्र कन्हैयालाल तंत्रवैद्य, लाला कुन्दनलाल सेठ और एकाध सेवक भी था। संक्षेप यह है कि, हमारी पूरी पार्टी छत्रपुरके लिये चलदी और दो दिनतक रेलकी यात्रा करके अभीष्टस्थानपरपहुँची । तीसरे दिन मुन्शी जगन्नाथप्रसाद हेड एकौन्टेन्ट रियासतके द्वारा उक्त महाराजसाहबसे साक्षात् हुआ। महाराजासाहब बहादूरने भलीभाँतिसे हमलोगोंका आदर किया; उस समय बडे भ्रातासाहबने "महावीरचरित्र नाटक" का पद्यानुवाद, लालाशालिग्रामजीने "पुरु विक्रमनाटक" और मैंने "नन्दविदानाटक" श्रीमान्को अर्पण किया। तीसरे दिन साक्षात होनेसे ज्ञात हुआ कि, महाराजासाहब उपरोक्त नाटकोंको पढकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

विदाहोनेके समय श्रीमान्ने आज्ञा दी कि, हमारी सम्प्रदायका "श्रीलघुभागवतामृत" नामक परमविख्यात और पूज्य ग्रंथ है, यदि उसका हिन्दी अनुवाद होजाय तो अत्युत्तम हो, महाराजासाहबकी इस आज्ञाको पालन करनेका विचार किया और कुछही समयमें 'श्रीलघुभागवतामृत'का हिन्दीभाषानुवाद तैयारकरके मुद्रणार्थ "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेसमें भेजा परमउदार सेठ खेमराज श्रीकृष्णदासजीको कोटि २ धन्यवाद है कि, जिन्होंने बहुतसा धन व्ययकरके इसग्रंथको छापा और प्रकाशित किया ।

गतवर्ष जब कि, मैं सकुटुम्ब श्रीवृन्दावन धामका दर्शन करनेके लिये गया था । उस समय श्रीराधाकुंडके दर्शनार्थ गया । वहांपर कूर्माचलभूषण भारतधर्ममहामंडलके महा-महोपदेशक पं० दुर्गादत्तजीके द्वारा श्रीराधाविनोदसेवापरायण राजर्षि श्रीमान् राय बनमाली-राय बहादुर महोदयसे साक्षात् हुआ । पं० दुर्गादत्तजीने कहा कि "मिश्रजीने श्रीलघुभा-गवतामृतका हिन्दी अनुवाद किया जो शीघ्रही छपकर प्रकाशित होनेवाला है" यह सुनकर उक्त महोदय अत्यन्तही प्रसन्न हुए और अपनी पूर्ण सहानुभूति सूचित की ।

वास्तवमें "श्रीलघुभागवतामृत" ग्रंथ भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका भंडार है. यहीकारण है जो भगवद्भक्त इसग्रंथको अपना प्राण समझते हैं ।

आज परमानंदमय शुभदिवस है कि, "श्रीलघुभागवतामृत" श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणवि-रचितटीका, भाषानुवाद और तात्पर्यके साथ प्रकाशित हुआ । यह ग्रंथ श्रीमद्भागवतका ही क्या वरन् समग्र वैष्णवसिद्धान्तका पारिभाषामय ग्रंथ है; अतएव श्रीमद्भागवतके पाठ करनेवाले और वैष्णवसिद्धान्तका सार तत्त्व जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको अवश्यही इस ग्रंथका पाठ करना उचित है ।

विशेष करके जिसकी उपासना हमलोग करतेहैं-जिसका भजन करतेहैं, वह कोन है ? किसप्रकारका है ? इस रीतिसे उपास्य और उपासकके स्वरूपतत्त्वका उचित उपदेश पाये विना इस संसारमें अबतक किसी प्रकारकी उपासनाविधि प्रचलित नहीं हुई । उपास्य और उपासकके तत्त्वका विचार, उपास्य और उपासकके स्वरूपका पूर्णज्ञान-भगवत्साधन व्रत, मानवमंडलीका एक सर्व प्रधान साधनाङ्ग-और एक अवश्य पालनीय कर्त्तव्यहै । उपास्य और उपासकके तत्त्वको विना विचारे और इस तत्त्वकी मूर्तिको विना हृदयमें धारण किये उपासना और साधन कार्य कदापि पूर्ण नहीं होसकता. इस लघुभागवतामृतमें मुख्यकरके उपास्य और उपासकका तत्त्वही निरूपण किया गयाहै, हिन्दी भाषामें इस प्रकारका यह पहलाही ग्रंथ है ।

सत् सिद्धान्तपूर्ण इस अपूर्व ग्रंथका बलदेवकृत टीकाग्रंथ प्रमाणिक और मूलग्रंथका यथार्थ अभिप्राय जाननेके लिये बड़े कामका है, परन्तु यह टीका बहुतही कम पाया जाताथा, अब अत्यन्त परिश्रमके साथ इसको प्राप्त कर मूलके नीचेही लगाया है ।

वैष्णवसम्प्रदायके जो शिक्षागुरु मानेजातेहैं संसारका अपूर्व प्रेम और सम्बन्ध जिनको ममताकी डोरीमें बहुतादिनतक नहीं बाँधसका, जो संसारकी लुभानेवाली अतुल धन-सम्पत्तिको तिनकेकी समान समझकर भगवत्प्रेममें मतवाले हो वनको चले गये थे, वैराग्य, भक्ति और प्रेमके मूर्त्तिमान् आदर्श वैष्णवसिद्धान्ताचार्य महाप्रभुके अन्तरंग कृपा-पात्र अलौकिक कवितागुणसम्पन्न संसारप्रसिद्ध श्यामसुन्दरके चरणकमलमें सदाही अपूर्व प्रेम रखनेवाले श्रीमद्रूपगोस्वामीजीको कौन नहीं जानता है ?

वैष्णवसिद्धान्तके विचारयुद्धमें जो कभी पीछे हटनेवाले नहीं हैं यदि उन समस्त महात्माओंका नाम लियाजाय तो षट्सन्दर्भादि ग्रंथोंके बनानेवाले नारायणसेवापरायण श्रीमान् जीवगोस्वामीके पीछेही जिनका नाम लियाजासकताहै, गीता, दशोपनिषद्, वेदान्तदर्शन और विष्णुसहस्रनाम इत्यादिके भाष्यकार, भाषापीठक, सिद्धान्तरत्न, प्रमेयरत्नावली और वेदान्तस्यमन्तक इत्यादि दर्शनग्रंथोंके प्रणेता, स्तवमाला और तत्त्वसन्दर्भादिके टीकाकार, सुविमलविद्याविभूषित, वैराग्यव्रतावलम्बी, श्रीवृन्दावनमें भगवत्सेवानिरत, विश्वनाथके शिष्य श्रीमद्बलदेवको अनेक मनुष्य जानते हैं और विशेषकरके भक्तिसिद्धान्तकी दार्शनिकताका पक्ष रखनेवाले विद्वान् उनसे भलीभाँति परिचित हैं ।

पाठकगण ! अब आपलोग इस बातको भलीभाँतिसे विचारलें कि, जो ग्रंथ ऐसे महात्माका बनाया हुआ है और जिसपर एक विख्यात भगवद्भक्तने टीका किया है, वह चारों पदार्थका देनेवाला क्यों न होगा ?

बहुतसे गोस्वामी और पंडितलोग श्रीमद्भागवतकी कथा कहा करते हैं. परन्तु कतिपय स्थानमें भगवान् वेदव्यासजीने श्रीमद्भागवतको ऐसा गूढ़ रचा है कि, बड़े २ विद्वान् और पौराणिकलोगोंकी बुद्धि चक्कर खाजाती है, यह 'लघुभागवतामृत' श्रीमद्भागवतका;—केवल श्रीमद्भागवतकाही क्यों समस्त पुराणशास्त्रका, परिभाषाग्रंथ है, अतएव इसप्रकारके सिद्धान्तग्रंथको विना पढ़े समझे और कंठकियेहुए श्रीमद्भागवतका यथार्थ मर्म समझमें नहीं आता, पूर्ण निश्चय है कि, इस ग्रंथको अभ्यास करनेसे पुराणपाठार्थियोंका विशेष उपकार होगा ।

यदि सर्वसाधारणमें आदरके साथ इस ग्रंथका प्रचार हुआ तो भविष्यत्में भागवत सिद्धान्तके और भी कतिपय ग्रंथ प्रकाशित किये जाँयगे ।

भारतधर्ममहामंडलके महामहोपदेशक विद्यावारिधि पूज्यपाद पंडित ज्वालाप्रसादजी मिश्र महोदयने आद्योपान्त इस ग्रंथको देखकर शुद्ध करदियाहै, अतएव धन्यवादके साथ उनके चरणकमलोंमें वारम्वार प्रणाम है ।

प्रियपाठकवृन्द ! जो सुखका साररूप और साधनाका परम लक्ष्य है, जिसके द्वारा तृष्णा दूर होजाती है, मनुष्यका प्राण उस अमृतका पान करनेकेलिये सदा उत्कंठित रहै । भागवतामृतका ' अमृत ' महीअमृत है, इस ' अमृत ' का स्वाद ग्रहण करनेके लिये तैयार हो, आलस्य न करो; तब देवभोग्य अमृतभी इसके आगे तुच्छ ज्ञात होगा—इति ।

पद्—अहो अब यह अभिलाष हमारा ।
रहै श्यामसुन्दर परप्रीती जबलगि चंदातारा ॥ १ ॥
हे जगदीश! दयानिधि प्यारे! करहु हृदय उजियारा ।
वसौ कन्हैया इन नैननमें विनवत बारम्बारा ॥ २ ॥
राम! देवि-सीता, सह नित प्रति दर्शन लहों तुम्हारा ।
प्रभा तुम्हारि हरै तम हियको, दूर होय संसारा ॥ ३ ॥
हलधरवीर, सुभद्रा देवी रक्षहु सब परिवारा ।
करि 'गोपाल' नामको सुमरण नसै वेग दुखसारा ॥ ४ ॥
आदिशक्ति जगजननि राधिका तुमहो जगदाधारा ।
लै ज्वालापरसाद प्रेमसों बसों कृष्ण आगारा ॥ ५ ॥

मुरादाबाद—दीनदारपुरा;
पौष शुक्ल सप्तमी
सम्वत् १९५९.

भगवतजनचरणरेणु;
कृष्णचरणकमलसेवी;
बलदेवप्रसाद मिश्र.

प्रामाणिक ग्रन्थनाम।

श्रीलघुभागवतामृत और श्रीलघुभागवतामृतके बळदेवकृतटीकेमें जिन ग्रंथोंका व्यवहार हुआ है, उनके नाम।

१ अनुमानखंड (जगदीशकृत)।
२ अमरकोश।
३ अलङ्कारकौस्तुभ।
४ आदिपुराण।
५ ईशोपनिषद्।
६ ऋग्वेद।
७ कठोपनिषद्।
८ कूर्मपुराण।
९ केनोपनिषत्।
१० कैवल्योपनिषत्।
११ गोपालतापनीयोपनिषद्।
१२ गोविन्दभाष्य (श्रीबळदेवकृत)
१३ गोसूक्त।
१४ चतुर्वेदशिखा।
१५ छान्दोग्योपनिषद्।
१६ तैत्तिरीयोपनिषद्।
१७ त्रिकाण्डशेष अभिधान।
१८ धनञ्जयकोष।
१९ नारदपंचरात्र।
२० नारायणाध्यात्म।
२१ नारायणोपनिषद्।
२२ नारायणतंत्र।
२३ निघण्टु।
२४ पद्मपुराण।
२५ पाणिनिव्याकरण।
२६ पुरुषबोधिनी श्रुति।
२७ बृहत्संहिता।
२८ बृहदारण्यकोपनिषद्।
२९ बृहद्गौतमीयतंत्र।
३० बृहद्वामनपुराण।
३१ बृहन्नारदीयपुराण।
३२ ब्रह्मतर्क।
३३ ब्रह्मसंहिता।
३४ ब्रह्मसूत्र।
३५ ब्रह्माण्डपुराण।
३६ भक्तिरसामृतसिन्धु।
३७ भट्टमत।
३८ भार्गवतंत्र।
३९ मत्स्यपुराण।
४० महानारायणोपनिषद्।
४१ महाभारत।
४२ महावराहपुराण।
४३ महासंहिता।
४४ महोपनिषद्।
४५ माध्वभाष्य।
४६ मुंडकोपनिषद्।
४७ मेदिनीकोष।
४८ यादवकोष
४९ रामार्च्चनचंद्रिका।
५० लिङ्गपुराण।
५१ वामनपुराण।
५२ वाल्मीकिरामायण।
५३ वासुदेवाध्यात्म।
५४ वासुदेवोपनिषत्।
५५ बिल्वमंगळ।
५६ विश्वकोष।

५७ विश्वलोचनकोष ।
५८ विष्णुधर्मोत्तर ।
५९ विष्णुपुराण ।
६० शांकरभाष्य ।
६१ शब्दमहोदधि ।
६२ शिशुपालवध ।
६३ श्रीधर (आभिधानिक)
६४ श्रीधरस्वामिकृतभावार्थदीपिका ।
६५ श्रीमद्भगवद्गीता ।
६६ श्रीमद्भागवत ।
६७ श्वेताश्वतरोपनिषत् ।
६८ षट्सन्दर्भ ।
६९ सम्मोहनतंत्र ।
७० स्कन्दपुराण ।
७१ हरिभक्तिसुधोदय ।
७२ हरिवंश ।
७३ हलायुध ।
७४ हेमचंद्र ।

इन ग्रंथोंके अतिरिक्त आगम, तंत्र, पंचरात्र व कतिपय यामळ आदि पुस्तकोंसे भी सहायता लीगई है ।

संपादकीय संकेत।

मूलग्रंथ और टीकेमें संक्षेपार्थसे कार्यमें आएहुए सम्पादकीय–

संकेत।

अ० को०—अमरकोष।

ई० उ० ८—ईशोपनिषत् आठमी श्रुति।

के० उ० ४ । २—केनोपनिषद् चतुर्थखंड २ या श्रुति।

कै० उ० ६—९—कैवल्योपनिषद् ६ ठी श्रुतिसे ९ मी श्रुतितक।

कठ० २ । ९—कठोपनिषद् २ री वल्ली ९ मी श्रुति।

गी० ८ । १६—श्रीमद्भगवद्गीता आठ अध्याय १६ वाँ श्लोक।

गो० ता० पू० २०—गोपालतापिनीयोपनिषद् पूर्वविभाग २० मी श्रुति।

छां० उ० ६ । २ । ३—छान्दोग्योपनिषत् ६ ठा प्रपाठक, (अथवा ६ अध्याय) २ रा खंड तीसरी श्रुति।

तै० उ० २ । ६—तैत्तिरीयोपनिषद्, दूसरी ब्रह्मानंदवल्ली, छठा अनुवाक्।

ना० उ० १—नारायणोपनिषद् पहली श्रुति।

प० पु० उ० ख० २५५ । ३९ । ४०—पद्मपुराण उत्तरखंड २५५ वाँ अध्याय, उन्तालीस और चालीसवाँ श्लोक।

प० पु० पा० खं० ९३ । २६—पद्मपुराण पातालखंड ९३ अध्याय २६ वाँ श्लोक।

पा० व्या० ३ । ३ । १०—पाणिनिव्याकरण, तीसरा अध्याय तीसरापाद, १० सूत्र।

बृ० आ० ४ । ४ । १०; ६ । ५ । ११ । अथवा २ । ४ । १०; ४ । ५ । ११—बृहदारण्यकोपनिषद्, बृहदारण्यक क्रमके अनुसार ४ अध्याय, ४ ब्राह्मण, १० श्रुति, और ६ अध्याय, ५ ब्राह्मण, ११ मी श्रुति। अथवा उपनिषत् क्रमके अनुसार २ अध्याय, ४ ब्राह्मण, १० मी श्रुति और ४ अध्याय, ५ ब्राह्मण, ११ मी श्रुति।

बृ० आ० ४ । ४ । ५ । अथवा २ । ४ । ५—बृहदारण्यकोपनिषत् बृहदारण्यक क्रमके अनुसार ४ अध्याय, ४ ब्राह्मण, ५ मी श्रुति। अथवा उपनिषत् क्रमके अनुसार २ अध्याय, ४ ब्राह्मण, ५ मी श्रुति।

ब्र० सं० ५ । २९—ब्रह्मसंहिता ५ अध्याय, २९ श्लोक।

ब्र० सू० २ । १ । ११—ब्रह्मसूत्र, २ अध्याय, १ पाद, ११ सूत्र।

ब्र० सू० १ । ३ । २८—शं० भा०; ३ । ३ । ११ गो० भा०—ब्रह्मसूत्र १ अध्याय, ३ पाद, २८ सूत्रका शंकरभाष्य, और ३ अध्याय, ३ पाद, ११ सूत्रका श्रीबलदेव विद्याभूषणकृत गोविन्दभाष्य।

भ० र० सि० द० १ । १८—भक्तिरसामृतसिन्धु दक्षिण विभाग १ लहरी, १८ कारिका ।
भ० र० सि० पू० २ । ३२—भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्वविभाग २ री लहरी, ३२ मी, कारिका ।
भा० १० । ८९—श्रीमद्भागवद् १० म स्कन्ध, ८९ वाँ अध्याय ।
भा० ११ । ५ । ३२—श्रीमद्भागवद् ११ श स्कन्ध, ५ वाँ अध्याय, ३२ वाँ श्लोक ।
भा० १० । ३ । ३२, ४१—श्रीमद्भागवत् १० म स्कन्ध, ३ रा अध्याय, ३२ और ४१ वाँ श्लोक ।
भा० ११ । ५ । २०—३२—श्रीमद्भागवत् ११ श स्कन्ध, पाँचवाँ अध्याय, २० वाँ श्लोक से ३२ श्लोकतक ।
भा० ४ । १५—२३ अ०—श्रीमद्भागवद् ४ र्थ स्कन्ध, १५ अध्यायसे २३ अध्यायतक ।
भा० ३ । ३२ । १०श्री० स्वा०टी०—श्रीमद्भागवद् ३ रा स्कन्ध ३२ अध्याय १० वाँ श्लोकका श्रीधरस्वामीकृत टीका ।
भा० १ । ३ । १५, ८ । २४ । ४६ श्री० स्वा० टी०श्रीमद्भागवद् १ ला स्कन्ध, ३ रा अध्याय, १५ श्लोककी और आठवें स्कन्धके २४ वें अध्यायकी ४६ वें श्लोककी टीका ।
म० उ० २—महोपनिषत् २ री श्रुति ।
म० ना० उ० २५ । १—महानारायणोपनिषद् २५ वाँ खंड, १ ली श्रुति ।
म० भा० व० प० २२० । २२—महाभारत वनपर्व २२० वाँ अध्याय, २२ वाँ श्लोक ।
म० भा० शा० प्र० ३४० । २७—२८—महाभारत शान्तिपर्व ३४० अध्याय, २७ और अट्ठाईस वाँ श्लोक ।
मु० ३ । १ । ३—मुण्डकोपनिषद् ३ रा, मुंडक, १ ला खंड; ३ री श्रुति ।
मु० ३ । १ । ३—मुण्डकोपनिषद् ३ रा मुंडक, १ ला खंड; ३ री श्रुति ।
रा० चं० ५ प०—रामार्च्चनचंद्रिका ५ वाँ पटल ।
वा० उ० ३ । ५—वासुदेवोपनिषद् ३ री गद्यश्रुतिकी भीतरी पाँचवीं पद्यश्रुति ।
वा० रा० यु० का० ११९ । ७—वाल्मीकिरामायण युद्धकाण्ड ११९ सर्ग, सातवाँ श्लोक ।
वि० पु० ६ । ५ । ७४—विष्णुपुराण छठाअंश, ५ वाँ अध्याय, ७४ वाँ श्लोक ।
शि० व० १ । ३—माघकृत शिशुपालवध १ ला सर्ग, तीसरा श्लोक ।
श्वे० ६ । ९—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६ ठा अध्याय, ९ मी श्रुति ।
श्वे० ६ । १६—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६ ठा अध्याय १६ मी श्रुति ।
ह० वं० १२७ । ३७ हरिवंश १२७ वाँ अध्याय, ३७ वाँ श्लोक ।

इसही प्रकारसे दूसरे समस्त शब्दोंको जानो ।

॥ श्रीः ॥

अथ लघुभागवतामृत-विषयानुक्रमणिका।

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥ १ ॥

श्रीः ।

अथ श्रीलघुभागवतामृतम् ।

पूर्वखण्डः ।

श्रीकृष्णामृतम् ।

श्रीगणेशाय नमः ।

(१) "नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कला: ॥ १ ॥" ❀

अथ श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणविरचिता टिप्पणी ।

भक्त्याभासेनापि तोषं दधाने धर्माध्यक्षे विश्वनिस्तारिनाम्नि ।
नित्यानन्दाद्वैतचैतन्यरूपे तत्त्वे तस्मिन्नित्यमास्तां मतिर्नः ॥
देवाचार्य्यं यं विदुः सत्कवित्वे पाराशर्य्यं तत्त्ववादे महान्तः ।
शृङ्गारार्थव्यञ्जने व्याससूनुं स श्रीरूपः पातु नो भृत्यवर्गान् ॥

अथ सोऽयं निखिलशास्त्रार्थसारज्ञः श्रीरूपाभिधानशास्त्रकृत् संक्षिप्त-भागवतामृतं शास्त्रं निर्मिमाणस्तद्बोध्यभगवत्प्रणतिरूपं प्रत्यूहतृण-राशिवह्निमभीष्टपूर्त्तिपीयूषबलाहकं मंगलं तावन्निबध्नाति—नमस्तस्मै इति । भगवते—"ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञान-वैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना ॥" (वि०पु०६।५।७४) इति श्रीविष्णु-पुराणोक्तपूर्णैश्वर्य्यषट्कविशिष्टाय, नित्ययोगे मतुप् । कृष्णाय—यशोदास्त-नन्धयाय । अकुण्ठा मेधा यस्मात् तस्मै, 'त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानाम्' (भा० ११।२२।२८) इति स्मरणात् तत्त्वज्ञानप्रदायेत्यर्थः । भगवत्ता तस्य स्वयंसिद्धेति बोधयितुं विशिनष्टि—य इति । धत्ते—प्रकटयति, सर्वेषां भूतानाम्—जीवानाम् अभवाय—मोक्षाय । उशतीः—कमनीयाः कलाः—भागान् स्वांशकलाविभूतिलक्षणान्, "कला स्यान्मूलरैवृद्धौ

---

१ "नमस्तस्मै" इत्येतस्मिन् दशमस्कन्धीयपद्ये (भा० १०।८७।४६) "अमलकीर्त्तये" इत्यस्य पाठस्य विद्यमानतायामपि दुरूहभगवत्तत्त्वनिरूपणे प्रवर्तमानेन ग्रन्थकृता तदुपयोगि-सुमेधस्त्वसिद्ध्यै परिवृत्त्या "अकुण्ठमेधसे" इति विशेषितमिति सुधीभिरवधेयम् ।

शिल्पादावंशमात्रके । षोडशांशे च चन्द्रस्य कलनाकालमानयोः ॥ " इति मेदिनी । यद्यपि निर्भागो भगवांस्तथापि विशेषात्[1] सभागः प्रतीयते इत्युत्तरत्र व्यक्तीभावि । चतुःसनसंवादे वेदस्तवं बदरीशात उपश्रुतवतो नारदस्य तन्निष्कर्षावेदकमिदं पद्यं कृष्णस्य मूलवस्तुत्वं स्फुटयति ।

आलस्यादप्रवृत्तिः स्यात्पुंसां यद्ग्रन्थविस्तरे ।
इतोऽत्र क्रियते सूक्ष्मा टीका भागवतामृते ॥ १ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

भा०टी–जिनके प्रसादसे बुद्धिवृत्तिका संकोचभाव दूर होजाता है "जो समस्त प्राणियोंके श्रेयःसाधनके निमित्त अनेकप्रकारकी कमनीय अवतारावली प्रपंचमें प्रगट करते हैं, उन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजीको नमस्कार है" ॥ १ ॥

मंगलाचरण ।

"कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः " ॥ २ ॥
(भा० ११।५।३२)

टिप्प०--अथ कृष्णाविर्भावस्य स्वसाक्षात्कृतपादांबुजस्य श्रीकृष्णचैतन्यस्य विजयव्यञ्जनं मङ्गलम् । निमिनृपेण पृष्टः करभाजनयोगी सत्यादियुगावतारानुक्त्वा " कलावपि तथा शृणु" (भा० ११।५।३१) इति तमवधापयन्नाह–कृष्णेति । सुमेधसः पुरुषाः कलावपि हरिं यजन्ति । के ? इत्याह–सङ्कीर्तनप्रायैः यज्ञैः–अर्चाविधिभिरिति । तं कीदृशम् ? इत्याह । कृष्णो वर्णो रूपं यस्यान्तरिति शेषः । "वर्णो द्विजादिशुक्लादियशोगुणकथासु च ।" इति मेदिनी । त्विषा त्वकृष्णं–"शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः । " (भा १०।८।१३) इति गर्गोक्तिपारिशेष्यात् विद्युद्गौरकान्तिकमित्यर्थः । अङ्गेति–नित्यानन्दाद्वैतौ, उपाङ्गेति–श्रीवासपण्डितादयः, अस्त्राणि–अविद्यावच्छेदकत्वात् तत्समानि भगवन्नामानि, पार्षदाः–श्रीगदाधरगो-

१ विशेषादिति–अनेनैव टीकाकृता स्वविरचितश्रीगीताभूषणभाष्यस्योपक्रमणिकायां विशेषलक्षणं निरूपितम्, यथा–"विशेषश्च भेदप्रतिनिधिर्न भेदः । स च भेदाभावेऽपि भेदकार्यस्य धर्म्मधर्म्मिभावादिव्यवहारस्य हेतुः 'सत्तासती भेदाभिन्नः' 'कालः सर्व्वदास्ति' इत्यादिषु विद्वद्भिः प्रतीतः ।"

२ श्रीकृष्ण–जो व्रजेश्वरी श्रीमती यशोदाके स्तनपानकर्ता हैं ॥ १ ॥ २ ॥

रविन्दादयः, तैः सहितम्, इति महाबलित्वमस्य व्यज्यते, गर्गवाक्ये पीतइति प्राचीनतदवतारापेक्षया । अयमवतारः श्वेतवाराहकल्पगताष्टाविंशतितमवैवस्वतमन्वन्तरीयकलौ बोध्यः, तत्रत्ये श्रीचैतन्ये एव पद्योक्तधर्माणां दर्शनात्; अन्येषु कलिषु तु क्वचिच्छ्यामत्वेन, क्वापि शुकपत्राभत्वेन वावतारस्योक्तेः; स च स च तदाविष्टो जीवविशेष इति "प्रत्यक्षरूपधृग्देवो दृश्यते न कलौ हरिः ।" (विष्णुधर्मे) इत्यादिवाक्यं तद्विषयम् । तथाजिनः सुमेधसस्तु "छन्नः कलौ यदभवः" (भा० ७ । ९ । ३८) "शुक्लो रक्तस्तथा पीतः" "कलावपि तथा शृणु" इत्यादिवाक्यभावविदो बोध्याः । छन्नत्वं-प्रेयसीत्विषावृतत्वम् । बृहन्नारदीये चैवमुक्तम्-" अहमेव कलौ विप्र ! नित्यं प्रच्छन्नविग्रहः । भगवद्भक्तरूपेण लोकान्रक्षामि सर्वथा ॥" इति । श्रुतिश्चैवमभिप्रैति-" यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।" इत्यादिना मुण्डके (३ । १ । ३), " महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।" इति श्वेताश्वतराणामुपनिषदि च (३ । १२) । यत्तु द्वापरेऽपि क्वचित् स्कान्दे हरिवंशे च पीतत्वमुक्तं, तदपि कादाचित्कमस्तु, हरेर्नानावतारत्वात् ॥ २ ॥

भा०टी०-जो साधारणकी दृष्टिमें गौरकान्ति होकर भी भक्तविशेषकी दृष्टिमें श्यामसुन्दररूपसे विभात हैं, अद्वैत नित्यानंद जिनका अंग है, श्रीवासादि जिनके उपाङ्ग हैं, हरिनाम जिनका अस्त्र है. और गदाधर गोविन्द आदि जिनके पार्षद हैं, स्थिरबुद्धिवाले साधुगण संकीर्तनयज्ञद्वारा उन भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी अर्चना किया करते हैं ॥ २ ॥

मुखारविन्दनिस्यन्दमरन्दभरतुन्दिला ।
ममानन्दं मुकुन्दस्य सन्दुग्धां वेणुकाकली ॥ ३ ॥

टिप्प०-स्वस्य नन्दात्मजैकान्तितां द्योतयंस्तद्वेणुनादाविजयव्यञ्जनं मङ्गलमाह-मुखेति । सन्दुग्धां-प्रपूरयतु । वेणोः, काकली-सुखदः सूक्ष्मो नादः, " काकली तु कले सूक्ष्मे " इत्यमरः ॥ ३ ॥

भा०टी०-मुखकमलकी मकरन्दराशिद्वारा जो स्फीत[1] हुई है श्रीकृष्णजीकी वही वेणुकाकली हमारे आनंदको बढावे ॥ ३ ॥

श्रीचैतन्यमुखोद्गीर्णा हरेकृष्णेतिवर्णकाः ।
मज्जयन्तो जगत्प्रेम्णि विजयन्तां तदाह्वयाः ॥ ४ ॥

१ स्फीत परिपुष्ट ॥ काकली-मधुर और अस्फुट सूक्ष्म ध्वनि ॥ ३-५ ॥

टिप्प०—अत्र कलौ प्रकटितातिप्रभावत्वात्, स्वप्रभुणा संप्रचारितत्वात्, परमपुमर्थदत्वात्, तद्रूपत्वाच्च कृष्णनाम्नां विजयं मङ्गलमाह—श्रीति। हरे-कृष्णेति—इतिशब्द आद्यर्थः, "इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु।" इत्यमरोक्तेः; तेन द्वात्रिंशदक्षरो नाममन्त्रो बोध्यते। तदाद्याः—कृष्णनामानि, "हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥" (बृहन्नारदीये), "यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।" (भा० ११।५।३२), "मधुरमधुरमेतन्मंगलं मंगलानां सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्। सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर नरमात्रं तारयेत्कृष्णनाम ॥" (प्रभासखण्डे) इत्यादिभ्यः ॥ ४ ॥

भा०टी०—जिनकी 'हरे कृष्ण' आदि वर्णपरम्परा श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके वदनसे निकली हुई हरिकी सम्बोधक है, वही नामावली जगज्जनकी प्रेमप्रवाहमें निमज्जन करते सबसे ऊपर विराजमान हो ॥ ४ ॥

श्रीमत्प्रभुपदाम्भोजैः श्रीमद्भागवतामृतम्।
यद्व्यतानि तदेवेदं संक्षेपेण निषेव्यते ॥ ५ ॥

टिप्प०—ननु भागवतामृतस्य ग्रन्थस्य श्रीसनातनचरणैः प्रकाशितत्वात् अलमनेन प्रयासेन इति चेत्? तत्राह—श्रीमदिति। विस्तृतस्य तस्य ग्रहणेऽसमर्थानां वैष्णवानां कार्यार्थमिदं, संक्षिप्तत्वात्, इति न निरर्थको मत्प्रयास इति भावः। निषेव्यते—आस्वाद्यते ॥ ५ ॥

लघुभागवतामृतके प्रकाशकी आवश्यकता।

भा०टी०—हमारे प्रभुपाद (श्रीसनातन गोस्वामी) ने बृहद्भागवतामृतग्रंथमें जो कुछ विस्तारसे कहा है, मैं इस ग्रंथमें वह सब विषय संक्षेपसे कहूंगा ॥ ५ ॥

इदं श्रीकृष्णतद्भक्तसम्बन्धादमृतं द्विधा।
आदौ कृष्णामृतं तत्र सुहृद्भ्यः परिवेष्यते ॥ ६ ॥

टिप्प०—ननु भगवतो, भागवतानां वा यत् स्वरूपगुणनिरूपणं, तत् खलु भागवतामृतं भवेत्, तयोर्मध्ये किं प्रथमं निषेव्यं? तत्राह—इदमिति। "तत् कथ्यतां महाभाग! यदि कृष्णकथाश्रयम्। अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ॥" (भा० १।१६।६) इति श्रीशौनकप्रेरणात् श्रीकृष्णामृतम् आदौ परिवेष्यते, तदुत्तरं भक्तामृतम्, इति नापूर्वो मतक्रमः ॥ ६ ॥

भागवतामृत दोप्रकारका है ।

भा०टी०—इस भागवतामृतके दो भेद हैं, 'कृष्णामृत' और 'भक्तामृत'। इनमेंसे प्रथम सहृदय भक्तवर्गोंको 'कृष्णामृत' का आस्वादन कराया जायगा ॥ ६ ॥

निर्बन्धं युक्तिविस्तारे मयात्र परिमुञ्चता ।
प्रधानत्वात्प्रमाणेषु शब्द एव प्रमाण्यते ॥ ७ ॥

टिप्प०—ननु प्रमाणानि विना प्रमेयाणि न सिध्यन्ति, अतः प्रमेयनिर्णेत्रा भवता प्रमाणानि ग्राह्याणि, तानि च कानि कियन्ति च इति चेत् ? तत्राह—निर्बन्धमिति । शब्द एवेति—श्रुति-तदनुसारि-स्मृति-रूप एवेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यनुपलब्धिसम्भवैतिह्यान्यष्टौ प्रमाणानि तीर्थकारैरुक्तानि । तेषु अर्थसन्निकृष्टं चक्षुरादिकमिन्द्रियं—प्रत्यक्षं, यथा 'चक्षुषा घटमहं पश्यामि' इत्यादौ । अथ अनुमितिकरणम् अनुमानं; परामर्शजन्यज्ञानम्—अनुमितिः; व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं—परामर्शः; व्याप्तिश्च—साध्यवदन्यावृत्तित्वं, हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं वा; तदिदमनुमानं 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादौ वह्न्यादिज्ञाने प्रमाणम् । उपमितिकरणम्—उपमानं, 'गोसदृशो गवयः' इत्यादौ; संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानम्—उपमितिः, तत्करणं सादृश्यज्ञानम् । आप्तवाक्यं—शब्दः, यथा 'नदीतीरे पञ्च तालाः सन्ति' इत्यादिः; यस्माद्वाक्यात् 'नदीतीरं तालपंचकयुक्तम्' इति शाब्दी प्रमितिः स्यात्, तत्तु अत्र प्रमाणम् । असिध्यदर्थदृष्ट्या साधकान्यार्थकल्पनम्—अर्थापत्तिः, यथा दिवा अभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजितां कल्पयित्वा साध्यते । अभावग्राहिणी बुद्धिः—अनुपलब्धिः , यथा 'भूतले घटानुपलब्ध्या घटाभावो गृह्यते'। 'शते दशकं सम्भवति' इति बुद्धौ सम्भावना सम्भवः । अज्ञातवक्तृकं पारम्पर्यप्रसिद्धम्—ऐतिह्यं; यथा 'इह वटे यक्षो निवसति इति इह लोकाः कथयन्ति' इति ॥ एषु प्रत्यक्षमेकं लोकायतिकस्य चार्वाकस्य देहात्मवादिनः; तच्च अनुमानञ्च वैशेषिकस्य; ते च शब्दश्चेति त्रीणि सांख्य-पातञ्जलयोः; तानि च उपमानञ्चेति नैयायिकस्य; तानि च अर्थापत्त्यनुपलब्धी चेति षट् मीमां-

'भगवत इदम् अमृतम्' इस प्रकारका अर्थ करनेपर, भागवतामृत कहनेसे श्रीकृष्णामृत और 'भागवतस्य भगवद्भक्तस्य अमृतम्' इस प्रकारका अर्थ करनेसे भक्तामृत समझा जाता है । अत एव भागवतामृतके कृष्णामृत और भक्तामृत, यह दो अर्थ हैं ॥ ६ ॥

सकस्य; तानि च सम्भवैतिह्ये चेति अष्टौ पौराणिकस्य इति । तेषु उपमानं पृथक् न मन्तव्यं, प्रत्यक्षादिष्वन्तर्भावत्वात् । चक्षुःसन्निकृष्टस्य गवयस्य गोसदृशत्वज्ञानं प्रत्यक्षं; 'गवयशब्दो गोसदृशस्याभिधायी' इति ज्ञानम् अनुमानं; "यथा गौस्तथा गवयः" इति वाक्यन्तु शब्दं नातिक्रामतीति । अर्थापत्तिश्च न पृथक्, केवलव्यतिरेकिण्यनुमानेऽन्तर्भावात्; 'एष रात्रौ भुङ्क्ते, दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्, यस्तु रात्रौ न भुङ्क्ते, न स दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनः, यथासौ पीनः, नचायं तथा' इत्यर्थापत्तिरनुमानमेव । सम्भवोऽपि न पृथक्, 'दशकं शतान्तर्गतं, तद्विनाभूतत्वात्' इत्यनुमानात् । ऐतिह्यञ्च प्रत्यक्षेऽन्तःस्यात, आदिमेन दृष्टत्वात् । अनुपलब्धिश्च न पृथक्, घटाद्यभावस्य विशेषणतासन्निकर्षेण चाक्षुषत्वात् । इत्थञ्च प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानि, सम्मतानि च मध्वमुनिनास्मत्प्राचा । तानि च लौकिकस्यार्थस्य ग्रहे प्रमाणानि, न त्वलौकिकस्य, तेषु भ्रमादिप्रमातृदोषसंक्रमात् । मायामुण्डावलोके प्रत्यक्षं, तत्कालवृष्टिनिर्वापितवह्नौ चिरं धूमोद्गारिणि गिरौ 'वह्निमान् धूमात्' इत्यनुमानञ्च व्यभिचरत् प्रतीतम्; आप्तवाक्यञ्च तादृगेव, तत्त्वेन व्याख्यातानां कपिलादिवाक्यानां मिथः खण्डनात् । तस्मादलौकिकतत्त्वप्रमातुर्ममापौरुषं वाक्यं प्रमाणं; तच्च वेद ऋगादिः, तद्भागश्च पुराणेतिहासात्मा. "एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदोथर्व्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्" इति बृहदारण्यकात् (४ । ४ । १०) । तथापि तद्भागे शूद्राधिकारः, तन्निदेशात्; यथा "वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत" इति रथकारस्य संकरस्याप्यग्न्याधानांगे मन्त्रमात्रे विधिसामर्थ्यात् सः ॥ ७ ॥

शब्द प्रमाणकी श्रेष्ठता ।

भा०टी०—मैंने इस ग्रन्थमें युक्तिविस्तारका आग्रह छोडकर प्रमाणे-स्थानमें प्रमाणके मध्यमें सर्वप्रधान मानकर शब्दकोही ग्रहण किया है ॥ ७ ॥

---

१ ज्ञानके यथार्थ साधनको प्रमाण कहते हैं। अधिकांश दार्शनिक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इस त्रिविध प्रमाणकोही स्वीकार किया करते हैं, व दूसरे सब प्रमाणोंको इन तीनोंके अन्तर्गत समझते हैं । इनमें पुरुषमात्रकोही भ्रम, प्रमाद, अनवधानता, विप्रलिप्सा (वञ्चनेच्छा), करणापाटव (इन्द्रियमान्द्य) इन चारप्रकारके दोषोंसे दूषित होनेके कारण अलौकिक अचिन्त्यस्वभाव वस्तुको स्पर्श नहीं करसकता और उनके प्रत्यक्षादि भी सदोष हैं । भोजविद्यामें शिर कटानेके प्रत्यक्षका और तत्कालमें वृष्टि करके अग्नि बुझगई है और मूलसे बराबर धुआँ उठरहा है, इस प्रकारके पर्वतादिमें अनलानुमानका व्यभिचार होनेसे, प्रत्यक्ष और अनुमानका स्वतःप्रामाण्य नहीं होसक्ता अतएव अपौरुषेय वाक्य श्रुति—स्मृति—पुराणादि शब्दही स्वतः प्रमाण हैं किन्तु वेदादिके अनुगत प्रत्यक्षादि प्रमाण—स्थानमें ग्रहण किये जायँगे ॥ ७ ॥

यतस्तैः 'शास्त्रयोनित्वात्' इति न्यायप्रदर्शनात् ।
शब्दस्यैव प्रमाणत्वं स्वीकृतं परमर्षिभिः ॥ ८ ॥

टिप्प०—ननु पुंसां वांछितं न सिध्यति,अवांछितश्चापततीति तद्बाधकस्तत्साधकश्च वांछितृपुंभिन्नः कश्चित् क्षित्यङ्कुरादीनामस्मदसाध्यानां कार्याणां कर्त्ता महाशक्तिरस्ति, स एवेश्वर उपासितः क्लेशानां हन्तेति वैशेषिकादिभिर्मुनिभिरनुमितत्वात् अनुमानं हित्वा शब्दमेव स्वीकुर्वन् नोपादेयवाग्भविष्यति इति चेत्? तत्राह–यतस्तैरिति द्वाभ्याम् । व्यासानुयायिनो हि वयं तन्मतमेवानुसरामः, न तु तद्विरुद्धावहेलनाद्बिभीम इति भावः । "शास्त्रयोनित्वात्" इति ब्रह्मसूत्रम् (१ । १ । ३) । तस्यायमर्थः–परतो नेत्याकर्षणीयम् परेशोऽनुमानेन विदित्वोपास्यः, उपनिषदा वा? इति सन्देहे वैशेषिकाद्यैः "मन्तव्यः" (बृ० आ० ४ । ४ । ५) इति श्रुत्या चाङ्गीकृतत्वादनुमानेनैवेति प्राप्ते सति, नानुमानेन विदित्वा स उपास्यः । कुतः? शास्त्रयोनित्वादिति । शास्त्रम्–उपनिषत् तद्भागश्च भगवद्गीतं शुकभाषितश्च योनिः-ज्ञानकारणं, यस्य, तत्त्वात् । "औपनिषदःपुरुषः" "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" इत्यादिषु तद्बोध्यत्वावगमादित्यर्थः । "योनिः कारणे भगताम्रयोः" इति हैमः । तैः खलु शुष्केण तर्केण नित्यज्ञानेच्छाकृतिको जडो विभुरीश्वरः कदाचित् भूतावेशन्यायेन गृहीतभौतिकदेहः कृतकार्यस्तं त्यजेदित्यनुमितम् । उपनिषदस्तु विज्ञानानन्दघनः स्वानुबन्धिज्ञानादिगुणः कूटस्थो विचित्रानन्तशक्तिर्मध्यमोऽपि विभुर्नित्यदिव्यधामा नित्यलीलापरिकर इत्याहुः, तदनुयायी व्यासः परमर्षिः कथं तदनुमानं स्वीकुर्यादिति । तथा च परतत्वनिरूपणे व्यासस्योपनिषदेव प्रमाणमिति सिद्धम् ॥ ८ ॥

भा०टी०—कारण कि, महर्षि वेदव्यासजीने वेदान्तसूत्रमें "शास्त्रयोनित्वात्" यह न्याय दिखलाकर केवल शब्दकाही प्रमाण अंगीकार किया है ॥ ८ ॥

किञ्च "तर्काप्रतिष्ठानात्" इति न्यायविधानतः ।
अमीभिरेव सुव्यक्तं तर्कस्यानादरः कृतः ॥ ९ ॥

---

१ "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्रसे केवल वेदपुराणादि शास्त्रही ब्रह्मज्ञानके कारण हैं, इस बातके कहनेसे स्पष्टही प्रत्यक्षादि प्रमाणसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं होती, यही व्यक्त किया है ॥ ८ ॥

टिप्प०—ननु "मन्तव्यः" इति श्रुत्यापि स्वीकृतत्वात् व्यासोऽप्यनुमानं स्वीकुर्यादेवेति चेत् ? तत्राह—किञ्चेति । सांख्येन शुष्कतर्कमाश्रित्य पुरुषविषयके वेदान्तसमन्वये विरोद्धव्ये सतीदं सूत्रमाह—तर्केति । (ब्र० सू० २।१।११) । नेत्यनुवर्तते । पुरुषबुद्धिवैविध्येन शुष्कतर्कस्य, अप्रतिष्ठानात्—स्थैर्याभावात्, न तेन परमार्थवस्तुनिर्णयः स्यादित्यर्थः । एवमाह श्रुतिः—" नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ! ॥ " (कठ० २ । ९) इति । व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः 'यद्ययं निर्वह्निःस्यात्, तदा निर्धूमःस्यात्' इत्येवंरूपः; सच व्याप्तिशङ्कां निरस्यन् अनुमानाङ्गं भवेदिति तर्कशब्देनानुमानं ग्राह्यम् । चेदेवं, तर्हि "मन्तव्यः" इति श्रुतेः का गतिरिति चेत् ? स्वानुसारितर्कपरा सेति गृहाण, " शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिस्मृती । " इति भारतवाक्यात् । तथाच वेद एव व्यासस्य प्रमाणं, तर्कश्च तदनुसारी न निवार्यते, शुष्कतर्कस्तु प्रहेय एवेति तदनुयायिनो मे तदेव ॥ ९ ॥

भा०टी०—और उस वेदान्तमेंही "तर्काप्रतिष्ठानात्" यह युक्ति विधान करके, महर्षिजीने स्पष्टही तर्कका अनादर किया है ॥ ९ ॥

अथोपास्येषु मुख्यत्वं वक्तुमुत्कर्षभूमतः ।
कृष्णस्य तत्स्वरूपाणि निरूप्यन्ते क्रमादिह ॥ १० ॥

टिप्प०—एवं प्रमाणं निरूप्य प्रमेयाणि निरूपयितुं प्रवर्तते—अथेति । उपास्येषु—भगवदाविर्भावेषु तदाविष्टेषु च मध्ये, उत्कर्षभूमतः शक्ति-गुण-विभूति-लीला-हेतुकात् पारम्यबाहुल्यात्, कृष्णस्य यशोदास्तनन्धयस्य, मुख्यत्वं—पारम्यं, वक्तुं तस्य स्वरूपाणि क्रमादिह निरूप्यन्ते ॥ १० ॥

श्रीकृष्णजीके विविध स्वरूपनिरूपण ।

भा०टी०—अनन्तर उपास्यवर्गमें उत्कर्षबाहुल्यताके वश श्रीकृष्णजीकी मुख्यता कहनेके निमित्त उनकी स्वरूपपरम्परा क्रमशः निरूपण करते हैं ॥ १० ॥

१ यहाँपर तर्क कहनेसे अनुमान लिया है । तर्ककी प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिरता नहीं है, ऐसा हेतु दिखलाकर केवल—तर्कका अनादर कियाहै, परन्तु शास्त्रानुकूल तर्क हो तो उसकी प्रतिष्ठा की जायगी ॥ ९ ॥

२ उत्कर्षबाहुल्यता—शक्ति, गुण, विभूति और लीलाहेतुक श्रेष्ठत्व ॥ १० ॥

स्वयंरूपस्तदेकात्मरूप आवेशनामकः ।
इत्यसौ [1]त्रिविधं भाति प्रपञ्चातीतधामसु ॥ ११ ॥

टिप्प०—ननु "एकमेवाद्वयम्" इति श्रुतेः, "वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।" (भा० १।२।११) इति स्मृतेश्च स्वरूपाणीति बहुत्वं कथं? तत्राह–स्वयमिति । असौ–कृष्णः । एकत्वात्ययोगेनैवाचिन्त्यशक्त्या नानारूपप्राकट्यात् तदुक्तिर्नासंगता । एवञ्चाथर्वणी श्रुतिः–"एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति" (गो० ता० पू० २०) इति, स्मृतिश्च "एकानेकस्वरूपाय" (वि०पु० १।२।३) "बहुमूर्त्त्येकमूर्तिकम्" (भा० १०।४०।७) इत्याद्या । वैदूर्यमणिवत् दिव्याभिनेतृनटवच्चैतद् बोध्यम् । पूर्वपक्षवाक्ययोस्तयोस्तदेकं तत्त्वं विशिष्टमेव मन्तव्यम्, उत्तरत्र वैशिष्ट्यस्य व्यक्तेः, तेनाचिन्त्यशक्तितो बहुत्वसिद्धिः । प्रपञ्चातीतेषु धामसु–श्रीगोकुलादिषु परमव्योमाख्येषु वैकुण्ठभेदेषु च, पराख्यशक्तिविजृम्भितेष्वित्यर्थः ॥ ११ ॥

भा०टी०—वह श्रीकृष्णजी प्रपंचसे परे वैकुण्ठधाममें 'स्वयंरूप' 'तदेकात्मरूप' और 'आवेश' इन तीनरूपोंसे विलास करते हैं ॥ ११ ॥

तत्र स्वयंरूपः ।–

अनन्यापेक्षि यद्रूपं स्वयंरूपः स उच्यते ॥ १२ ॥

टिप्प०—स्वयंरूपस्य लक्षणमाह– अनन्येति । यस्य, रूपं–स्वरूपम्, अनन्यापेक्षि भवति, स स्वयंरूप इत्यर्थः । 'स्वयंदासास्तपस्विनः' इत्यत्र यथा तपस्विदास्यम् अन्यापेक्षि न प्रतीयते, किन्तु स्वमात्रापेक्ष्येव, स्वेनैव सिद्धमित्यर्थः, । तथाच यस्य स्वरूपं स्वतःसिद्धं नतु अन्यतो व्यक्तं, स स्वयंरूप इत्यर्थः । एतस्य लक्षणस्य मूलन्तु "गोप्यस्तपः किमचरन्" (भा० १० । ४४ । १४) इत्यादिके श्रीदशमवाक्ये "अनन्यसिद्धम्" इत्येतत् बोध्यम् । इह अन्यत्वं भेदकार्यं विशेषादेव, नतु भेदात्, वस्तुनि भेदविरहादिति बोध्यम् ॥ १२ ॥

---

१ "त्रिविधं भाति" इत्यत्र "त्रिविधो भाति" इति पाठान्तरम् ।

स्वयंरूप । भा०टी०—तिनमें स्वयंरूप । और किसीकी अपेक्षाकरके जिसका रूप प्रगट नहीं हुआ है, उसको ही 'स्वयंरूप' कहते हैं ॥ १२ ॥

यथा ब्रह्मसंहितायाम् (५ । १)—

"ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥ १३ ॥" इति ।

टिप्प०—तमुदाहरति—ईश्वर इति । कृष्ण इति विशेष्यं, तमादाय शास्त्रस्य प्रवृत्तत्वात्; सच यशोदास्तनन्धयो रूढार्थोऽत्र ग्राह्यः, नतु सत्ताभिन्नानन्दो योगार्थोऽपि, 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायात्; एवमुक्तं भट्टैः—"लब्धात्मिका सती रूढिर्भवेद्योगापहारिणी । कल्पनीया तु लभते नात्मानं योगबाधतः ॥" इति; नामकौमुदीकृद्भिश्च—"कृष्णशब्दस्य तमालश्यामलत्विषि यशोदास्तनन्धये परब्रह्मणि रूढिः" इति; योगार्थस्यान्यतो लाभाच्च । परम ईश्वर इति विशेषणाभ्याम् अनन्यापेक्षितरूपं तस्य स्वयन्त्वमुक्तम्, अन्यथा ईश्वर इत्येवब्रूयात् । इत्थञ्च विलासस्वांशवर्गेभ्यो वैलक्षण्यम् । सच किंधातुः ? इत्याह-सच्चिदिति । चिद्रूपो य आनन्दः, तद्भूतो विग्रह इति कर्मधारयः, मूर्तस्वप्रकाशानन्द इत्यर्थः । सन्निति सौन्दर्यमुक्तम्, अतिरम्याङ्गसन्निवेश इत्यर्थः । एवञ्च मुक्तजीवेभ्यो वैलक्षण्यं, तेषां विग्रहात्मभेदसत्त्वात् । सच्छब्देन सर्वत्रानुवृत्तत्वं नोक्तं, तत्त्वस्य सर्वकारणत्वोक्त्या प्राप्तेः । लीलामाह—गोविन्द इति—"सुरभीरभिपालयन्तम्" (ब्र० सं० ५ । २९) इत्युत्तरपाठात् गोपालनलील इत्यर्थः । न चानया न्यूनत्वं "गोभ्यो यज्ञाः प्रवर्तन्ते गोभ्यो देवाः समुत्थिताः । गोभिर्वेदाः समुद्गीर्णाः सषडङ्गपदक्रमाः ॥" इति गोसूक्तात् । नादीयते स्वविधेयतया न गृह्यते अयमित्यनादिर्यदूनाम्; आदीयते स्वविधेयतयेति आदिर्व्रजौकसाम्; उपसर्गे घोः किः । स्वयमनादिर्हेतुशून्यः, अन्येषां त्वादिः, इत्यर्थस्तु नोक्तः, तस्य उत्तरतो लाभात् । लीलान्तरमाह-सर्वेति । "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।" (श्वे० ६ । ९) इति मंत्रवर्णः । एषा लीला स्वांशपुरुषद्वारेति बोध्यम् । तथा च स्वयंरूपः कृष्ण इत्युदाहृतम् ॥ १३ ॥

१ दो, तीन प्रभृति संख्या जिसप्रकार एक दो आदि संख्याकी अपेक्षाकरके व्यक्त होती हैं परन्तु एक किसीकी अपेक्षा करके व्यक्त नहीं होती तैसेही श्रीकृष्णजीकी अपेक्षा करके परव्योमनाथादिका रूप अभिव्यक्त होता है, किन्तु श्रीकृष्णरूप किसीकी अपेक्षा करके अभिव्यक्त नहीं होता अर्थात् स्वतःसिद्ध है ॥ १२ ॥

भा०टी०-यथा ब्रह्मसंहितामें-"जो सच्चिदानंदविग्रह हैं, यादवलोग कुलदेवता कहकर और व्रजवासीगण अपने वश समझकर जिसको अनुभव करते हैं, जो सुरभीगणोंके परिपालक हैं और सब विधि कारणसमूहोंके अधिपति हैं, वह यशोदानन्दन श्रीकृष्णही परमं ईश्वर हैं[१]" ॥ १३ ॥

अथ तदेकात्मरूपः ।-

यद्रूपं तदभेदेन स्वरूपेण विराजते ।
आकृत्यादिभिरन्यादृक्स तदेकात्मरूपकः ॥
स विलासःस्वांश इति धत्ते भेदद्वयं पुनः ॥ १४ ॥

टिप्प०-तदेकात्मरूपस्य लक्षणं-यद्रूपमिति । तदभेदेन-स्वयंरूपैक्येन । आकृत्यादिभिः-अङ्गसन्निवेशेन चरितैश्च, अन्यादृक्-ततोऽन्य इव दृश्यते, नतु अन्यः; "आकृतिः कथिता रूपे सामान्य-वपुषोरपि ।" इति विश्वः ॥ स इति तदेकात्मरूपः ॥ १४ ॥

तदेकात्मरूप । भा०टी०-अथ तदेकात्मरूप । जिसका रूप, स्वरूपकरके स्वयंरूपमें एकता होनेपर भी आकारादिद्वारा अन्यादृश होकर प्रकाशित होता है, उसको तदेकात्मरूप कहते हैं । 'विलास' और 'स्वांश' भेदसे वह तदेकात्मरूप दो प्रकारका है ॥ १४ ॥

तत्र विलासः ।-

स्वरूपमन्याकारं यत्तस्य भाति विलासतः ।
प्रायेणात्मसमं शक्त्या स विलासो निगद्यते ॥
परमव्योमनाथस्तु गोविन्दस्य यथा स्मृतः ।
परमव्योमनाथस्य वासुदेवश्च यादृशः ॥ १५ ॥

टिप्प०-विलासस्य लक्षणमाह-स्वरूपमिति । अन्याकारं-विलक्षणाङ्गसन्निवेशं । तस्य-मूलरूपस्याऽव्यवहितस्य, विलासतः-लीलाविशेषात् । आत्मसमं-स्वमूलतुल्यम् । प्रायेणेति-कैश्चित् गुणैरूनमित्यर्थः । तेच-"लीला प्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्ये वेणु-रूपयोः । इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम् ॥" (भ० र० सि० द० १ । १८) इत्युक्ता

१ 'परम' और 'ईश्वर' इन दो विशेषणोंसे श्रीकृष्णजीके अनन्योपेक्षिता रूपमें स्वयं भगवत्ता व्यञ्जित हुई है, नहीं तो केवल 'ईश्वर' कहनेसेही काम चलजाता ॥ १३ ॥ १४ ॥

यथा नारायणे न्यूनाः । एवमन्यत्र ॥ उदाहरति–परमेति । प्रमाणमिह "गोलोकनाम्नि" (ब्र० सं० ५ । ४९) इति ज्ञेयम् । यद्यपि नारायण-वासुदेवयोरुभयोरपि चातुर्भुज्यात् श्यामत्वाचाकृत्योरैक्यमिव प्रतीतं तथापि सेव्य–सेवकभावतः श्रीराम–भरतयोरिव प्रागल्भ्य-सङ्कोचहेतुकं तद्वैलक्षण्यमस्तीति लक्षणसङ्गतिः ॥ १५ ॥

विलास । भा०टी०–तिनमें विलास । स्वयंप्रभूका जो अन्यादृश स्वरूपलीलाविशेषके हेतुसे प्रतिभात होता है और शक्तिप्रकाशमें प्रायः[१] उसकी समान है, उसको 'विलास' कहते हैं ॥

जिसप्रकार गोविन्दजीके विलास परव्योमाधिपति नारायण हैं और परव्योमनाथके विलास आदिव्यूह वासुदेव हैं ॥ १५ ॥

स्वांशः ।–

> ताहशो न्यूनशक्तिं यो व्यनक्ति स्वांश ईरितः ।
> सङ्कर्षणादिर्मत्स्यादिर्यथा तत्तत्स्वधामसु ॥ १६ ॥

टिप्प०–स्वांशस्य लक्षणमाह–तादृश इति । विलाससदृश इति, विलाससदृशः स्वयंरूपादिभिन्न इत्यर्थः । यो विलासशक्तितोऽपि न्यूनां–शक्तिं, व्यनक्ति प्रकाशयति, स स्वांश इत्यर्थः । नन्वेतदंशांशिभावाभिधानं स्वप्राचो मध्वमुनेर्विरुद्धं, तेन "स्वाप्ययात्" (ब्र० सू० १ । १ । ९) इति सूत्रे सर्वेषां भगवद्रूपाणां पूर्णत्वभाषणादिति चेत्? न । तत्रैव "प्रकाशादिवत् नैवंपरः" (ब्र० सू० २ । ३ । ४६) "स्मरन्ति च" (ब्र०सू०२ । ३ । ४७) इत्याद्यधिकरणे तद्भावस्य[३] भाषितत्वात् "स्वाप्ययात्" इत्यस्य भाष्ये तु स्वरूपसत्पूर्णत्वमित्यविरोधः । इहाप्यभिधास्यते "शक्तेर्व्यक्तिः" इत्यादिना ॥ १६ ॥

स्वांश । भा०टी०–अथ स्वांश । जो विलास सदृश अर्थात् स्वयंरूपसे अभिन्न होकर विलासकी अपेक्षा थोड़ीसी शक्ति प्रकाश करते हैं, उनको स्वांश कहतेहैं । जिस प्रकारसे अपने अपने धाममें संकर्षणादि पुरुषावतार और मत्स्यादि लीलावतार गण हैं ॥ १६ ॥

---

१ कोई २ गुणमें न्यून हैं, 'प्रायः' शब्दसे यही व्यक्त हुआ ॥ १५ ॥

२ परव्योमनाथ और वासुदेव इन दोनों आकारोंमें समानता होनेपरभी मूलदेवता और आवरण भेदसे दोनोंमें पृथकृता है ॥ १६ ॥

३ तद्भावस्य–अंशांशिभावस्य ।

अथ आवेशः ।–

ज्ञानशक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः ।
त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः ॥
वैकुण्ठेऽपि यथा शेषो नारदः सनकादयः ।
अक्रूरदृष्टास्ते चामी दशमे परिकीर्तिताः ॥ १७ ॥
इति भेदत्रयम् ॥ १७ ॥

टिप्प०—आवेशलक्षणमाह–ज्ञानेति । कलया–भागेन ॥ वैकुण्ठेऽपीति । शेषः–शय्यारूपात् अन्यो बोध्यः ॥ त्रयमिति–स्वयंरूप–तदेकात्मरूपावेशरूपं भेदत्रयं निरूपितमित्यर्थः ॥ १७ ॥

भा०टी०—अथ आवेश । ज्ञानशक्त्यादिके विभागकरके नारायणजी जिन अधिक महान् जीवोंमें आविष्ट हुआ करते हैं, उनको 'आवेश' कहते हैं ॥ (आवेश ।)

जिस प्रकार वैकुण्ठमें;–नारद, शेष और सनकादि । दशमस्कन्धके ३७ में अध्यायमें अक्रूरजीने यमुनाजलमें डुबकी लगाकर जब वैकुण्ठका दर्शन किया, तब उन्होंने इन्हीं शेष व नारद और चतुःसनादिका दर्शन किया था ॥ १७ ॥

प्रकाशस्तु न भेदेषु गण्यते सहि नो पृथक् ॥
तथा हि–

अनेकत्र प्रकटता रूपस्यैकस्य यैकदा ।
सर्वथा तत्स्वरूपैव स प्रकाश इतीर्यते ॥
द्वारवत्यां यथा कृष्णः प्रत्यक्षं प्रतिमन्दिरम् ।
'चित्रं बतैतत्' इत्यादिप्रमाणेन स सेत्स्यति ॥ १८ ॥

---

१ "महत्तमाः" इत्यत्र "महोत्तमाः" इति पाठान्तरम् ।

२ "दृष्टास्ते" इत्यत्र "दृष्ट्वा ते" इति पाठान्तरम् ।

३ यह "आवेश" महाविष्टकी समान है। आवेश दोप्रकारका है,–जिन महान् जीवोंमें उनसे न्यून अल्पशक्तिका आवेश होता है, वे अपनेको ईश्वरपरतन्त्र कहकर अभिमान करते हैं। जिस प्रकार नारद चतुःसन आदि । और जिन महान् जीवोंमें अधिक शक्तिका आवेश होता है। वह ऐसा अभिमान करते हैं कि हमी भगवान् हैं। जिस प्रकार ऋषभदेवादि ॥ १७ ॥

टिप्प०—ननु चन्द्रावली–राधिकादीनां रुक्मिणी–सत्यभामादीनाञ्च सद्मसु बहुतया स्थितः कृष्णः स्मर्य्यते, तेषु बहुषु कोंऽशी कस्त्वंश इति चेत् ? तत्राह–प्रकाशस्त्विति।भेदेषु–विलास–स्वांशरूपेषु प्रागुक्तेषु न गण्यते–नान्तर्भवेदित्यर्थः । हि–हेतौ । नो पृथगिति–विशेषविभातेनाप्यन्यत्वेन विशिष्टो न भवेत् ॥ प्रकाशलक्षणमाह–अनेकत्रेति । नन्दमन्दिरात् वसुदेवमन्दिराच्च निर्गतः कृष्णस्तासां तासाञ्च मन्दिरेषु युगपत् प्रविष्टो विभातीत्येकस्यैव विग्रहस्य युगपदेव बहुतया विराजमानता, स प्रकाशाख्यो भेदः पूर्वोक्तभेदेभ्योऽन्य एव । कुतः? इत्याह–सर्वथेति । आकृत्या गुणैर्लीलाभिश्चैकरूप्यादित्यर्थः ॥ उदाहृतिमाह–द्वारवत्यां यथेति । इतः पूर्वं व्रजेऽपि "कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः । रराम भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥" (भा१० । ३३ । १९) इत्येतज्ज्ञेयम् । कृत्वा–प्रकाश्य । अपि–अवधारणे । पराख्यशक्तिरूपाभिस्ताभिः सह रमणमात्मारामत्वमेवेत्यन्यत्र विस्तृतम् । चित्रमिति–" एकेन वपुषा युगपत् पृथक् । गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥" (भा० १०।६९। २) इति वाक्यशेषः । अत्रत्यानि पदानि वार्तिकार्थग्रहे समर्थानि द्रष्टव्यानि॥ १८ ॥

प्रकाश । भा०टी०--स्वयंरूप, तदेकात्मरूप, आवेश, यह तीनप्रकारके भेद निरूपित हुवे 'प्रकाश'-किसी प्रकारके भेदमें नहीं गिना जासकता । क्यों कि वह किसी अंशमेंही अपने रूपसे अलग नहीं है ॥

तथाहि,—आकार, गुण और लीलामें एकताके होनेसे एकही विग्रहका अधिकतासे अनेक स्थानोंमें आविर्भाव हुआ तिसको प्रकाश कहते हैं ॥

प्रकाशके लक्षण । जिसप्रकार द्वारिकाके प्रतिमन्दिरमें श्रीकृष्णजी सबको अलग अलग दिखाई देते थे । "चित्रं बतैतत्" इत्यादि दशमस्कन्धीय नारदजीका कहाहुआ श्लोकही इस विषयमें प्रमाण है तिस्सेही वह 'प्रकाश' सिद्ध होगा ॥ १८ ॥

१ जिस समय श्रीकृष्णजीने एक शरीरसे एक समयमें सोलह सहस्र गृहोंके मध्य सोलह हजार रानियोंका पृथक् २ पाणिग्रहण किया, तिसकाल नारदजीने वह वृत्तान्त सुनकर कहा था,—"चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत्पृथक् । गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ।" यह बड़ाही आश्चर्य है ! श्रीकृष्णजीने अकेले एक शरीरसे एक समयमें पृथक् २ सोलह हजार गृहोंमें सोलह सहस्र स्त्रियोंका पाणिग्रहण किया है । इस श्लोकमें यह दिखाया कि आकारादिकी समानता रहकर एक रूपका एकही समयमें अनेक स्थानोंमें आविर्भाव होनाही 'प्रकाश' कहलाताहै ॥ १८ ॥

क्वचिच्चतुर्भुजत्वेऽपि न त्यजेत्कृष्णरूपताम् ।
अतः प्रकाश एव स्यात्तस्यासौ द्विभुजस्य च ॥ १९ ॥

टिप्प०—ननु त्यागभीतिमूर्च्छितां रुक्मिणीं प्रति चतुर्भुजत्वस्य प्राकट्येनाकृतिभेदात् विलासादित्वे तदन्तः स्यादिति चेत् ? तत्राह—क्वचिदिति । कृष्णरूपतामिति—" रूपं स्वभावे सौन्दर्य्ये " इति मेदिनीकोषात् यशोदास्तनन्धयत्वस्वभावं, न त्यजेत्, इति तत्स्वभावस्य तत्र सत्त्वात् न दोषः । तत्रापि द्विभुजमेव तस्य रूपं, "यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति।" (वि० पु० ४।११।२)इत्यादि-स्मृतेः । तथापि कदाचित् हासादिधर्म्मवत् चतुर्भुजत्वस्य प्रकाशेऽपि तत्स्वभावस्य तत्र स्थितत्वात् न काचित् विक्षतिः । एवंच सूतीगृहेऽपि तद्रूपदर्शनं व्याख्येयम्; अत उक्तं " बभूव प्राकृतः शिशुः " (भा० १० । ३ । ४६) इति, प्रकृत्या स्वभावेन व्यक्तः प्राकृत इत्यर्थः, शेषि कोऽण् । द्विभुजत्वे प्रमाणन्तु, " सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥ " (गो० ता० पू० १०) इति श्रुतिः । नच द्विभुजात् चतुर्भुजं रूपं वरीयः " स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मञ्चैव चतुर्भुजम् । परन्तु द्विभुजं प्रोक्तं तस्मादेतत् त्रयं यजेत् ॥ " इति आनन्दाख्यसंहितोक्तिव्याकोपात् । वस्तुभेदाभावात् ' त्रयं यजेत् ' इत्युक्तम् । द्विभुजमेवेदमुपास्यसृष्टत्वं ब्रह्मणा लब्धम् । इत्याथर्व्वण्युक्तेश्च (गो० ता० पू० २६–२७) शान्तोदितत्वकल्पनं निरस्तम् ॥ १९ ॥

भा०टी०—श्रीकृष्णजी कभी २ चतुर्भुज होजातेहैं, परन्तु कृष्णरूपको नहीं छोड़ते । अतएव ऐसा चतुर्भुजरूपभी द्विभुजका प्रकाश है ॥ १९ ॥

प्रपञ्चातीतधामत्वमेषां शास्त्रे पृथग्विधे ।
पाद्मीयोत्तरखण्डादौ व्यक्तमेव विराजते ॥ २० ॥

इति स्वयंरूप-विलास-स्वांशावेश-प्रकाशलक्षण-
भगवत्तत्त्वनिरूपणम् ।

१जहां रुक्मिणीजीको समझायाहै वहां और ऐसे औरभी स्थानोंमें चतुर्भुजरूप प्रगट होनेपरभी, उस समय "मैं कृष्ण हूं" यही अभिमान रहताहै, परन्तु परव्योमनाथ अथवा वासुदेवादि कहकर अभिमान नहीं होता, अत एव इस प्रकारके चतुर्भुजभी उस द्विभुजहीके प्रकाश हैं ॥ १९ ॥

टिप्प०—प्रभोः सर्वाणि रूपाणि नित्यानीति कैमुत्यं व्यञ्जयन्नाह, प्रपञ्चेति । "या यथा भुवि वर्तन्ते पुर्य्यो भगवतः प्रियाः । तास्तथा सन्ति वैकुण्ठे तत्तल्लीलार्थमादृताः ॥" इति स्कान्दात्, "वैकुण्ठभुवने नित्ये निवसन्ति महोज्ज्वलाः । अवताराः सदा तत्र मत्स्यकूर्म्मादयोऽखिलाः ॥" इति पाद्माच्च तेषां नित्यत्वं सुव्यक्तम् ॥ २० ॥

इति स्वयंरूपविलासस्वांशावेशप्रकाशलक्षणं भगवत्तत्त्वं निरूपितम् ॥

भा०टी०—वैकुण्ठमें उन समस्त भगवत्स्वरूपोंका धाम २ पृथक् २ नियत है । यह पद्मपुराणके उत्तरखंड तथा भिन्न शास्त्रोंमें स्पष्ट कहाहुआहै ॥ २० ॥

इति स्वयंरूप, विलास, स्वांश, आवेश, प्रकाशलक्षण भगवत्तत्व निरूपितहुआ ॥

अथावताराःकथ्यन्ते कृष्णो येषु च पुष्कलः ॥

तल्लक्षणम् ।—

पूर्वोक्ता विश्वकार्य्यार्थमपूर्वा इव चेत्स्वयम् ।
द्वारान्तरेण वाविः स्युरवतारास्तदा स्मृताः ॥ १ ॥

टिप्प०—'कृष्णः स्वयम्' इत्युक्त्या सर्वावतारावतारित्वं तस्याभिमतम्, अतस्तदवतारान् निर्णेतुमुपक्रमते--अथेति । ननु कृष्णोऽप्यवतारेषु कीर्त्यते ? तत्राह, कृष्णो येष्विति । प्रसङ्गात् तेषु तस्य कीर्त्तनं, प्रपञ्चप्राकट्यमात्रसामान्यात्; स तु; पुष्कलः—स्वयंरूप इत्यर्थः; "पुष्कलस्तु पूर्णे श्रेष्ठे" इति हैमः॥ अवतारलक्षणमाह-पूर्वोक्ता इति । पूर्वत्र कृतलक्षणाः स्वयंरूपादयः चेत्—यदि, स्वयम्—अद्वारकतया द्वारान्तरेण वा जगति आविः स्युः तदा अवताराः स्मृताः । अप्रपञ्चात् प्रपञ्चेऽवतरणं खल्ववतारः । यथा मत्स्यः, यथा च विधेर्हंसो द्वारकतयाविर्भूतः स्मर्य्यते भारतादिषु । सद्वारकस्तु यथा शेषशायिनः कारणार्णवशायात् गर्भोदकशायः, यथा वसुदेवात् कृष्णः, यथा च दशरथात् रामः । प्रयोजनमाह--विश्वेति । विश्वरूपं विश्वस्मिन् वा यत्, कार्य्य-प्रकृतिक्षोभ-महदाद्युत्पादनं, दुष्टविमर्द्दनं देवादीनां सुखवर्द्धनं, समुत्कण्ठितानां साधकानां स्वसाक्षात्कारेण प्रेमानन्दविस्तरणं[1] विशुद्धभक्तिप्रचारणञ्च, तदर्थमित्यर्थः । अपूर्वा इवनूतना इव, इत्याश्चर्य्यत्वं तेषाम् ॥ १ ॥

---

१ "विस्तरणम्" इत्यत्र "वितरणम्" इति पाठान्तरम् ।

भा०टी०—अब उन अवतारोंकी कथा कहीजातीहै कि जिनके मध्यमें श्रीकृष्णजी पूर्ण वा स्वयंरूप हैं, पहिले कहेहुए स्वयंरूपादि, विश्वका कार्य करनेके अर्थ स्वयं अथवा किसी द्वारसे नवीनकी नाईं अवतरण करतेहैं उनको 'अवतार' कहतेहैं ॥ १ ॥ यह अवतारका लक्षण है ॥

अवतारतत्त्व ।

तच्च द्वारं तदेकात्मरूपस्तद्भक्त एव च ।
शेषशाय्यादिको यद्वद्वसुदेवादिकोऽपि च ॥ २ ॥

टिप्प०—द्वारमाह—तच्चेति—व्याख्यातप्रायम् ॥ २ ॥

अवतरणका द्वार क्या है ?

भा०टी०—'तदेकात्मरूप' और 'भक्त'भेदसे वह 'द्वार' दो प्रकारका है । इसमें शेषशायीआदि तदेकात्मरूप तथा वासुदेवादि भक्त हैं ॥ २ ॥

पुरुषाख्या गुणात्मानो लीलात्मानश्च ते त्रिधा ।
प्रायःस्वांशास्तथावेशा अवतारा भवन्त्यमी ॥
अत्र यःस्यात्स्वयंरूपःसोऽग्रे व्यक्तीभविष्यति ॥ ३ ॥

टिप्प०—अवतारान् विभजते— पुरुषाख्या इति ॥ प्राय इति । स्वांशाः—शेषशाय्यादयः । आवेशाः—चतुःसनादयः, पृथ्वादयश्च । प्रायोग्रहणात् कदाचित् स्वयंरूपश्च । अत्रइति—एष्ववतारेषु मध्ये । अग्रे—परव्योमाधीशपक्षादनन्तरम् ॥ ३ ॥

अवतारत्रिविधहैं ।

भा०टी०—'पुरुषावतार' 'गुणावतार' और 'लीलावतार' इन भेदोंसे तीनप्रकारके अवतार हैं तिनमें अधिकांश अवतारही 'स्वांश' और 'आवेश' हैं । इनमें जो स्वयंरूप हैं उनकी कथा आगे कहीजायगी ॥ ३ ॥

तत्र पुरुषलक्षणम्,

यथा विष्णुपुराणे (६ । ४ । ५९)

"तस्यैव योऽनुगुणभुग्बहुधैक एव

---

१ जिस प्रकार अन्यान्य अवतार प्रपंचमें प्रगट होतेहैं, वैसेही श्रीकृष्णजी श्वेतवाराहकल्पके वैवस्वतमन्वन्तरीय अट्ठाईसवीं चौकड़ीके द्वापरयुगके शेषमें इस विश्वसंसारके बीच प्रगट हुआ करतेहैं । अत एव अन्यान्य अवतारोंके साथ प्राकट्यांशमें किसीप्रकारका अन्तर दिखाई नहीं देता । इस कारण सर्व अवतारोंका अवतरण करनेवाले स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजीभी अवतारमेंही गिने जाते हैं ॥ १ ॥

शुद्धोऽप्यशुद्ध इव मूर्तिविभागभेदैः ।
ज्ञानान्वितःसकलसत्वविभूतिकर्ता
तस्मै नतोऽस्मि पुरुषाय सदाव्ययाय ॥ " इति
"तस्यैव अनु-पूर्वोक्तात् परमेश्वरात् समनन्तरम्"
इति स्वामी ।

अत्र कारिका-

परमेशांशरूपो यःप्रधानगुणभागिव।
तदीक्षादिकृतिर्नानावतारः पुरुषः स्मृतः ॥

अस्यावतारत्वञ्च श्रीभागवते द्वितीयस्कन्धे (२ । ६ । ४०)-
"आद्योवतारःपुरुषःपरस्य" ॥ ४ ॥ इति ।

टिप्प०-पुरुषावतारलक्षणं वैष्णवोक्त्याह- तस्यैवेति-"नान्तोऽस्ति यस्य न च यस्य समुद्भवोऽस्ति वृद्धिर्न यस्य परिणामविवर्जितस्य। नापक्षयश्च समुपैत्यविकल्पवस्तु यस्तं नतोऽस्मि पुरुषोत्तममाद्यमीड्यम्॥" (वि०पु०६।८।५८) इति पूर्वोक्तस्य परेशस्य, अनु-अनन्तरं, यः अंशः, प्रधानगुणभाक् प्रकृतिप्राकृत[1]वीक्षण-नियमन-प्रवर्त्तनाद्यनुभवी, एक एव-एकतामजहदेव, मूर्त्तिविभागभेदैः बहुधा-स्वविग्रहांशभेदैः नानारूपः सन्, सकलसत्वविभूतेः-निखिलप्राणिविस्तारस्य, कर्त्ता भवति, स पुरुष इत्यर्थः । चेदेवं तर्हि प्रकृति-प्राकृतलेपः प्राप्तः? तत्राह-शुद्धोऽप्यशुद्ध इवेति । सङ्कल्पेनैव तत्तत्करणात्, तत्प्रवेशोऽप्यचिन्त्यशक्त्या तदस्पर्शाच्च शुद्धत्वमित्यर्थः ॥ पद्यार्थं निष्कृष्टुमाह-अत्रेति । कारिका-वृत्तिः[2], "कारिका यातना-वृत्त्योः" इत्यमरः । इत्थं त्रयाणां पुरुषाणां लक्षणमिदं सिद्धम् ॥ आद्य इति । परस्य-अवतारिणः कृष्णस्य ॥ ४ ॥

भा०टी०-तिनमेंसे पुरुषके लक्षण, यथा विष्णुपुराणमें-पूर्वोक्त षड्भाव-विकारविवर्जित पुरुषोत्तमका जो अंशप्रधान गुणभाक् अर्थात् प्रकृति और प्राकृतका वीक्षणादिकर्त्ता है, जो एक अर्थात् स्वयंरूपसे एकताके विना परित्याग

पुरुषावतार ।

१ प्राकृतेति-प्राकृतं महदादयः ।
२ वृत्तिरिति-"संक्षेपेण श्लोकैर्विवरणं वृत्तिः ।" इत्यमरटीकायाम् ।

कियहीं अनेक प्रकारके अपने विग्रहोंका विभागकरके निखिलप्राणियोंके विस्तारकर्त्ता है। जो शुद्ध[1] अर्थात् मायासंसर्गसे रहित होकर अशुद्धकी अर्थात् मायालिप्तकी समान प्रतिभात होतेहैं और जो सदाही निच्छक्तिकरके परिरम्भित हैं, उन अव्यय पुरुषको सर्वदा प्रणाम करताहूं। इति। 'तस्यैव अनु' अर्थात् पहिले श्लोकमें कहेहुए परमेश्वरके 'अनन्तर' श्रीधरस्वामीनेभी यही व्याख्या की है यहांपर 'कारिका' अर्थात् वृत्तिकरके श्लोकके निष्कृष्टार्थको कहतेहैं। परमेश्वरका जो अंश प्रधान गुणसंबन्धकी समान प्रकृति और प्राकृतका वीक्षणादिकर्ता है, जिससे अनेकप्रकारके अवतार होतेहैं। शास्त्रमें उसकोही 'पुरुष' कहकर बतायाहै इस पुरुष अवतारका तत्त्व श्रीमद्भागवतके दूसरे स्कन्धमें निर्दिष्ट है, यथा—"परमेश्वरका आद्य अवतार पुरुष है" ॥ ४ ॥ इति।

अस्य च भेदाः,

सात्वततन्त्रे—

"विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकन्तु महतः स्रष्ट्र द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्॥ [2]
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥ ५॥"

टिप्प०—विष्णोरिति-स्वयंरूपस्येत्यर्थः। एकं महतः स्रष्टृ-प्रकृतेरन्तर्यामि संकर्षणरूपं, द्वितीयं-चतुर्मुखस्यान्तर्यामि प्रद्युम्नरूपं, तृतीयं-सर्वजीवान्तर्यामि अनिरुद्धरूपम्॥ ५॥

भा० टी०—"विष्णु अर्थात् मूल संकर्षणके पुरुषनामक तीनरूप शास्त्रमें कहेहैं। इनमें जो

पुरुषावतार। त्रिविध

महत्तत्त्वके सृष्टि करनेवाले[3] हैं, उनको 'प्रथम पुरुष' कहतेहैं। जो ब्रह्माण्डके अर्थात् समष्टिके अन्तर्यामी हैं उनको 'द्वितीय पुरुष' कहतेहैं।

---

१ शुद्ध—संकल्पमात्रसेही प्रधानादिवीक्षणादि करनेसे मायासंसर्गरहित हैं अत एव सर्वदाही शुद्ध हैं॥ ४॥

२ "एकन्तु महतः" इत्यत्र "प्रथमं महतः" इति "आद्यन्तु महतः" इति च पाठान्तरम्।

३ महत्तत्त्वके सृष्टि करनेवाले—प्रलयकालमें समस्त जीव संकर्षणके शरीरमें लीन होजातेहैं, उनकी उपाधिको उत्पन्न करनेके लिये वह पुरुष जब प्रकृतिकी ओर को देखतेहैं, उस समय प्रकृतिको गुणक्षोभ होनेसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होतीहै। इसही कारणसे महत्तत्त्वके सृष्टि करनेवाले कहा. यह महत्तत्त्वही प्रकृतिका प्रथम परिणाम है यही विश्वका अंकुरस्वरूप है इस प्रकृतिके देखनेवाले पुरुषकोही 'प्रथम पुरुष' कहतेहैं। इनकाही 'संकर्षण' 'कारणार्णवशायी' तथा 'महाविष्णु' नाम है। यही प्रकृति अर्थात् महासमष्टिके अन्तर्यामी हैं। अण्डस्थित—जीवसमष्टिके अर्थात् हिरण्यगर्भके अन्त-

और जो सर्वभूतके अर्थात् व्यष्टिके अन्तर्यामी हैं, उनको 'तृतीयपुरुष' कहतेहैं । इन त्रिविध पुरुषोंको जानलियाजाय तो सहजमेंही संसारसे निवृत्ति होजातीहै " ॥ ॥ ५ ॥ इति ।

तत्र प्रथमं,

यथा एकादशे (११ । ४ । ३)—

"भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः ॥ ६ ॥"

टिप्प०—भूतैरिति । आदिदेवः-नारायणः स्वयंप्रभुः, यदा, आत्मना-संकर्षणेन, सृष्टैः-उत्पादितैः, पञ्चभिर्भूतैः विराजं-जगदण्डरूपं, पुरं निर्म्माय, तस्मिन् प्रद्युम्नवपुषा प्रविष्टः, तदा, पुरुषाभिधानमवाप-तस्य तत्तद्रूपं पुरुषावतारत्वेनाख्यायते इत्यर्थः ॥ ६ ॥

भा० टी०—तिनमें प्रथम पुरुष, यथा एकादशमें—"आदिदेव नारायणजी जिस समय अपने रूप संकर्षणकरके उत्पन्नकिये पंचभूतद्वारा, ब्रह्माण्डपुरीको निर्माण करके अपने अंश प्रद्युम्नरूपसे उसमें प्रवेश करतेहुए, तिस समय वह 'पुरुष' नामको प्राप्तहुए " ॥ ६ ॥

प्रथमपुरुष ।

र्यामीको 'द्वितीय पुरुष' कहतेहैं । इनकाही गर्भोदशायी प्रद्युम्न नाम है । इनकेही नाभिकमलसे ब्रह्माका जन्म होताहै । सर्वभूतस्थ-व्यष्टि जीवके अर्थात् पृथक् २ रूपसे प्रत्येक देहके अन्तर्यामी पुरुषको 'तृतीय पुरुष' कहते हैं । यही क्षीरसागरमें शयन करनेवाले विष्णु और अनिरुद्धनामसे विख्यात हैं । 'पुर' शब्दका अर्थ शरीर, उसमें नियामकरूपसे जो वास करते हैं, उनकाही नाम 'पुरुष' है ॥ ५ ॥

१ प्रथमपुरुष संकर्षणजी, प्रकृतिकी ओर देखतेहैं तो उसको गुणक्षोभ होता है; तिस्से पहिले तो महत्तत्त्वकी, तिस्से अहंकारकी; तिसके सात्त्विकांशसे मन, राजसांशसे दशप्रकारकी बाहिरी इन्द्रिय और तामसांशसे पंचतन्मात्राकी सहायता करके पंचभूतकी उत्पत्ति होतीहै । इस्से ब्रह्माण्ड रचित होनेपर उसमें जो अन्तर्यामीरूपसे प्रवेशकरतेहैं, उनको 'द्वितीय पुरुष' कहतेहैं । अत एव ब्रह्माण्डके कारण स्रष्टा 'प्रथम पुरुष' हैं । इस श्लोकके जिस अंशमें कारण सृष्टिका उल्लेख है वही अंश प्रथम पुरुषका प्रमाण है ॥ ६ ॥

ब्रह्मसंहितायाञ्च (५। १०)–

"तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुर्जगत्पतिः ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः"

इत्यादि ।

"नारायणः स भगवानापस्तस्मात्सनातनात् ।
आविरासन्कारणार्णोनिधिःसङ्कर्षणात्मकः ॥
योगनिद्रां गतस्तस्मिन्सहस्रांशः स्वयंमहान् ॥
तद्रोमबिलजालेषु बीजं सङ्कर्षणस्य च ।
हैमान्यण्डानि जातानि महाभूतावृतानि तु ॥"
लिङ्गमत्र स्वयंरूपस्याङ्गभेद उदीरितः ॥ ७ ॥

टिप्प०–तस्मिन् लिङ्गे–स्वयंरूपस्य अंगभूते गमके, नारायणे, तत्सान्निधावित्यर्थः। महाविष्णुः–संकर्षणः आविरभूत्–प्रकृतिवीक्षकतया प्रकटोऽभूत् ॥ ननु "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" (वि० पु० १।४।६) इति नारायणशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तं स्मरन्ति तस्यास्मिन् प्रवृत्तौ किं तदस्ति इति चेत्? तत्राह–तस्मात् सनातनात् आपः आविरासन्निति। ताश्चापः संकर्षणाज्जातत्वात् संकर्षणात्मकः कारणार्णोनिधिः कथ्यते। तस्मिन्–अर्णोनिधौ स स्वयं शेषपर्य्यंके योगनिद्रां गतः; इति तस्यास्मिन्, प्रवृत्तौ तदेव कारणाम्भःशयत्वं निमित्तमित्यर्थः। सहस्रम्–असंख्याः; अंशाः; यस्मात् प्रद्युम्नरूपादित्यर्थः ॥ तस्य कृत्यमाह, तस्मिन् शेषपर्य्यंङ्के स्थितः सः प्रकृतिम् ऐक्षत; तेनेक्षणेन संकर्षणस्य रोमबिलजालेषु निलीनं जगद्बीजं; तत्–जीवाख्यचित्परमाणुवृन्दं, प्रकृतियोनौ न्यधादिति शेषः। ततो हैमान्यण्डानि जातानि। स्फुटमन्यत् ॥ लिङ्गमत्रेति–व्याख्यातमेव ॥ ७ ॥

भा०टी०– ब्रह्मसंहितामेंभी–"उस लिंगसे जगत्पति महाविष्णुजी आविर्भूत हुएथे। जो पुरुष "सहस्रशीर्षा" इत्यादिसे वह भगवान् आदिपुरुष नारायण तिनसे प्रथम जलकी उत्पत्ति हुई, उस जलको "कारणार्णोनिधि" और संकर्षणसे उत्पन्न होनेके कारण "संकर्षणात्मक" कहतेहैं। जिनके प्रद्युम्न अंशसे असंख्य अंशः निकलतेहैं

वही महाविष्णुजी उस कारणार्णोनिधिमें योगनिद्रा (स्वरूपानंदरूपआनन्दसमाधि) को प्राप्तहुए कारणजलमें भासमान संकर्षणनामक आदिपुरुषके प्रत्येक रोमकूपसे समस्त जगतके बीजस्वरूप जीवनामक चित्परमाणुपुंज लीन होतेहैं । वह उन समस्त परमाणुओंको प्रकृतिमें आधान करतेहैं । पश्चात् अपंचीकृतमहाभूतसे ढकीहुई हिरण्यवर्ण ब्रह्माण्डावलीकी उत्पत्ति होतीहै ।" इन श्लोकोंमें इन प्रथम पुरुषकी कथाही कहीहै इस प्रकरणमें लिंगशब्दको स्वयं भगवान्का अंगभेद कहाहै ॥ ११ ॥

द्वितीयम्,

यथा तत्रैव तदनन्तरं (ब्र० सं० ५ । १४)–

"प्रत्येकमेवमेकांशादेकांशाद्विशतिस्वयम् ॥ ८ ॥"

इति ।

टिप्प०—प्रत्येकमिति । प्रत्यण्डमिति कचित् पाठः । स्वयं प्रभुरेव, एवं-प्रकृतिवीक्षणवीजार्पणकर्म्मवत; प्रत्येकं-निखिलेष्वण्डेषु एकांशादेकांशात् प्रद्युम्नरूपमेकमेकमंशमाविर्भाव्य; विशति, ल्यब्लोपे कर्म्मणि पञ्चमी, तद्रूपैरंशैः सर्वेषु तेषु प्रविशतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

भा०टी०—उसही ब्रह्मसंहितामें इसके पश्चात् कहा है । यथा—"इसप्रकारसे स्वयं प्रभुजी, प्रद्युम्नरूप एक २ अंश आविर्भावितकरके, पृथक् २ प्रत्येक ब्रह्माण्डमें प्रवेशकरते हुए" ॥ ८ ॥ इति ।

द्वितीयपुरुष ।

"गर्भोदकशयः पद्मनाभोऽसावनिरुद्धकः ।
इति नारायणोपाख्यामनूक्तं मोक्षधर्म्मके ।
सोऽयं हिरण्यगर्भस्य प्रद्युम्नत्वे नियामकः ॥ ९ ॥"

टिप्प०—स्यादेतत् । "अस्मन्मूर्तिश्चतुर्थी या सासृजच्छेषमव्ययम् सहि सङ्कर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत् । प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽयं सर्गो मम पुनः पुनः ॥ अनिरुद्धात्तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः ॥"(म०भा० शा० प० ३३९ । ७०–७२) इति "अनिरुद्धो हि लोकानां महानात्मेति कथ्यते ॥ योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्म्ममे च पितामहम् ॥" (म० भा० शा० प० ३४० । २७–२८) इति च नारायणीये पठयते, "यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः । नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥ यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोक-

विस्तरः । तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्वमूर्जितम् ॥ " (भा० १ । ३ । २–३)इति तु श्रीभागवते। यस्य; अवयवसंस्थानैः–साक्षात्पादादिसन्निवेशैः, तत्साहश्येनेत्यर्थः, लोकविस्तरः "पातालमेतस्य हि पादमूलम्" (भा० २ । १ । २६) इत्यादिना, कल्पितः–स्थूलधियां चित्तस्थैर्याय ख्यापितः, तस्य पौरुषं–रूपन्तु, विशुद्धम्–अप्राकृतं, सत्वं, यतः ऊर्जितं–स्वप्रकाशचिद्रूपम्, इति पद्यस्यार्थः । तथाच अनिरुद्धात् प्रद्युम्नात् वा ब्रह्मणो जन्मेति संशयो न निवर्त्तते इति चेत्? तत्राह, गर्भोदकेति ।यो गर्भोदकशयःप्रद्युम्नः, स एवानिरुद्धः, इत्यभेदमादाय नारायणीये अनिरुद्धात् तस्य जन्मोक्तं, वस्तुतस्तु प्रद्युम्नादेव तन्मन्तव्यं, "यस्याम्भसि" इत्यादिकादेव; वक्ष्यते चैवं, "गर्भोदकशयादस्य" इत्यादिना । एतदेवाह, सइति । स स्वयंप्रभुः स्वस्य, प्रद्युम्नत्वे–गर्भोदकशयत्वे सति हिरण्यगर्भस्य, नियामकः–जनकोऽन्तर्यामी चेत्यर्थः ॥ ९ ॥

भा०टी०–मोक्षधर्मके नारायणोपाख्यानमें जो कहा है कि– 'जो गर्भोदकशायी प्रद्युम्न हैं, वही अनिरुद्ध हैं' वहांपर यह समझना चाहिये कि, वह स्वयंप्रभु, प्रद्युम्नरूपसेही हिरण्यगर्भके जनक और अन्तर्यामी हैं ॥ ९ ॥

अथ यत्तु तृतीयं स्याद्रूपं तच्चाप्यदृश्यत ।
'केचित् स्वदेहान्तर्' इति द्वितीयस्कन्धपद्यतः ॥ १० ॥

टिप्प०--अथ तृतीयं पुरुषं निर्णयति–अथ यत्त्विति । तत्र प्रमाणं– " केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् । चतुर्भुजं कञ्ज-रथाङ्ग-शंख-गदा-धरं धारणया स्मरन्ति ॥ " (भा० २ । २ । ८) इति द्वितीये । तथाच क्षीराब्धिपतिरनिरुद्धस्तृतीयः पुरुषः प्रादेशमात्रतादृग्विग्रहतया सर्वजीवहृद्गतो ध्येयइति । तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्विस्तृतयोर्यावदन्तरं, स प्रादेशःकथ्यते ॥ १० ॥

इति त्रयः पुरुषावतारा उदाहृताः ।

भा०टी०–इसके उपरान्त जो तृतीय पुरुष हैं, "केचित् स्वदेहान्तः" इत्यादि

---

१ प्रद्युम्न व अनिरुद्धको सामान्य विशेष कह अभेदस्वीकारपूर्वक दोनोंको ही एकतत्व कहकर निर्देश कियाहै । वास्तवमें प्रद्युम्नसेही ब्रह्माजीका जन्म है ॥ ९ ॥

२ द्वितीयस्कन्धमें श्रीशुकदेवजीने कहाहै;–
" केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कंजरथांगशंखगदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥ "–

तृतीयपुरुष । श्रीमद्भागवत दूसरे स्कन्धके श्लोकमें उनको श्रीशुकदेवजीने दिखायाहै ॥ १० ॥

गुणावतारास्तत्राथ कथ्यन्ते पुरुषादिह ।
विष्णुर्ब्रह्मा च रुद्रश्च स्थिति-सर्गादिकर्म्मणे ॥

यथा प्रथमे (भा० १ । २ । २३)–

"सत्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः" ॥११॥ इति ।

टिप्प०--अथ गुणावतारानाह-गुणेति । पुरुषात्-स्वयंप्रभोःस्वांशात गर्भोदकशयात् प्रद्युम्नादित्यर्थः ॥ सत्वमिति । परः पुरुषः-गर्भोदकशयः, एकएव, अस्य-जगतः, स्थित्यादये--पालन-सर्ग-संहारार्थं प्रकृतेर्गुणैः-सत्वादिभिः युक्तः-तेषां पृथक् पृथक् अधिष्ठाता सन्, विभिन्ना हरि-विरिञ्चि-हरा इति संज्ञा धत्ते; तथापि त्रिषु मध्ये, सत्वतनोः--हरेरेव हेतोः, नृणां श्रेयांसि-धर्म्मार्थ-काम-मोक्षलक्षणानि स्युः, नतु विरिञ्चिहराभ्यां रजस्तमस्तनुभ्यामित्यर्थः ॥ ११ ॥

भा०टी०-अनन्तर द्वितीय पुरुष गर्भोदशायीसे विश्वके पालन सृष्टि और संहारके निमित्त आविर्भूत विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र इन तीन गुणावतारोंकी कथा कहूंगा यथा प्रथम- "यद्यपि एकही गर्भोदशायी द्वितीय पुरुष इस विश्वकी स्थिति, पालन और संहारके निमित्त,सत्वत, रज,तम,प्रकृतिके इन तीन गुणोंसे युक्त हैं अर्थात पृथक्-२ रूपसे उनके अधिष्ठाता होकर हरि, ब्रह्मा और हर, यह पृथक् संज्ञा धारण करते हैं, तथापि जीवके धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप श्रेयः अर्थात् शुभफल, सतोगुणशरीर हरिसेही सम्पादित हुआ करतेहैं" ॥ ११ ॥ इति ।

गुणावतार ।

–अर्थ–"कोई २ महात्मागण अपनी देहके अभ्यन्तरस्थ हृदयाकाशमें स्थित प्रादेशपरिमित चतुर्भुज, पद्म, चक्र, शंख और गदाधारी पुरुषको धारणामें चिन्ता किया करते हैं । इस श्लोकसे प्रत्येक भूतके अन्तर्यामी पुरुष अवधारित हुए । अत एव तृतीय पुरुष क्षीराब्धिपति अनिरुद्ध प्रादेशपरिमित हैं ॥ १० ॥

अत्र कारिका—

योगो नियामकतया गुणैः सम्बन्ध उच्यते ।
अतः स तैर्न युज्येत तत्र स्वांशःपरस्य यः ॥ १२ ॥

टिप्प०—ननु परस्य पुंसः कथं गुणसम्बन्धः, "माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना" (भा० २ । ७ । ४७) इत्यादिवाक्यविरोधादिति चेत् ? तत्राह—योगइति । गुणा नियम्याः, त्रिधाविर्भूतः पुरुषस्तु नियामक इति सम्बन्धः, स इह योग उच्यते, नतु तैर्बन्ध इत्यर्थः । तत्र—त्रिषु मध्ये, यः, परस्य—स्वयंप्रभोः, स्वांशः, स तु विष्णुर्नैव युज्यते, "आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य इत्युद्भव-स्थिति-लयाः सततं प्रजासु॥"(भा० ११ । ४ । ५) इति द्रविडयोगीशवाक्ये । तत्र गुणसम्बन्धानुल्लेखात् । स्वांशत्वं—मूलस्वरूपावस्थया स्थितत्वम् ।अयमत्र निष्कर्षः—स्वेच्छागृहीतेन रजसा तमसा च युक्तः परेशो विरिञ्चो हरश्च भवति, पाखण्डधर्म्मेणेव बुद्धः, कदाचारेणेव ऋषभश्च । वस्तुतस्तु तत्तल्लेपो नास्ति परेशत्वात् । तथापि तत्तद्रेशस्योपासनया धर्म्मादयः सम्यक् न सिध्यन्ति, मोक्षस्तु नैव जायते, "मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः।" इति हरिवंशे शिवोक्तेः । विष्णुस्तु सत्वेनापि न युक्तः, किन्तु सङ्कल्पेनैव तन्नियमनमात्रकृत्, अतः 'श्रेयांसि तस्मात्' इत्युक्तम् ।अतएव वामनपुराणे—"ब्रह्मविष्ण्वीशरूपाणि त्रीणि विष्णोर्महात्मनः । ब्रह्मणि ब्रह्मरूपः स शिवरूपः शिवे स्थितः । पृथगेव स्थितो देवो विष्णुरूपी जनार्दनः ॥" इति । यद्यपि गुणाधिष्ठाता पर एक एव, तथाप्यधिष्ठेयगुणसम्बन्धकृतेन आवरणानावरणरूपेण तारतम्येनाधिष्ठातरि तस्मिंस्तदस्तीति 'सत्वम्' इत्यादिपद्यानन्तरमुक्तं—"पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः । तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥" (भा० १ । २ । २४) इति । इह अप्रवृत्ति-किञ्चित्प्रवृत्ति-पूर्णप्रवृत्तिस्वभावाः काष्ठधूमाग्नयो यथा यज्ञानाशा-किंचित्तदाशा-पूर्णतदाशाकराः, तथा मूढ-चल-प्रकाशस्वभावानि तमोरजःसत्वानि ब्रह्मानाशा-किञ्चित्तदाशा-सम्यक्तदाशाकराणीति तमोरजोवेशयोरसाक्षात्वं, सत्ववेशस्य तु साक्षात्वमिति श्रेयस्करत्वं युक्तमुक्तम् ॥१२॥

भा॰टी॰–इस श्लोककी कारिका–नियामकता गुणके साथ सम्बन्धको 'योग'कहते हैं । अत एव वह पुरुष कभीभी गुणके साथ नहीं मिलते। विशेष करके उनमें जो स्वयं प्रभुके स्वांश विष्णुजी हैं वह किसी प्रकारसे गुणके साथ युक्त नहीं होते ॥ १२ ॥

तत्र ब्रह्मा–

हिरण्यगर्भः सूक्ष्मोऽत्र स्थूलो वैराजसंज्ञकः ।
भोगाय सृष्टये चाभूत्पद्मभूरिति स द्विधा ॥
वैराज एव प्रायःस्यात्सर्गाद्यर्थं चतुर्म्मुखः ।
कदाचित् भगवान् विष्णुर्ब्रह्मा सन्सृजति स्वयम् ॥ १३ ॥

टिप्प॰–निरूपिता ब्रह्मादयस्त्रय ईशकोटय एव। अथ वाक्यविशेषलाभेन विशेषप्रत्ययात् तद्बोधनाय पृथक् पृथक् तत्तन्निरूपणं–तत्र ब्रह्मेति। ईश्वरस्य ब्रह्मणः पूर्वं निरूपितत्वाज्जीवलक्षणस्य तस्य निरूपणमिदम् ॥ हिरण्येति । सूक्ष्मः–महत्तत्वशरीरः,परेशेनैव दृश्यो देवादीनामदृश्य इत्यर्थः । स्थूलः–समष्टिशरीरः, स एव सर्गाय चतुर्म्मुखोऽष्टनेत्रोऽष्टबाहुर्देवादीनां दृश्यस्तेभ्यो वरदाता च । भोगाय आद्यः सृष्टये तु अन्त्यः ॥ आदिना वेदप्रचारायेति बोध्यते,"वेदप्रचारणार्थाय ब्रह्मा जातश्चतुर्म्मुखः ।" इति कौर्म्मोक्तेः ॥ १३ ॥

भा॰टी॰ तिनमें–'हिरण्यगर्भ' और 'वैराज' भेदसे ब्रह्मा दो प्रकारके हैं । इनमें जो ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यको भोगतेहैं, उस सूक्ष्मरूपको 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं, और जो सृष्टिकार्यमें नियुक्त है, उस स्थूलरूपका नाम 'वैराज' है

ब्रह्मा ।

१ 'प्रकृतिके गुणोंसे युक्त' इसका अभिप्राय–सत्व, रजः और तम यह तीन गुण नियम्य अर्थात् ईश्वरके नियमाधीन हैं । विष्णु ब्रह्मा और रुद्ररूपसे आविर्भूत पुरुष नियामक अर्थात् परिचालन कर्ता हैं – जिस प्रकारसे चलाते हैं गुण उसही प्रकारसे चलता है । इस प्रकार गुणके सहित नियम्य नियामकता सम्बन्धको योग कहतेहैं । अत एव वह पुरुष कभी भी गुणयुक्त अर्थात् गुणबद्ध नहीं होता । ब्रह्मा और रुद्र सान्निध्यमात्र रज और सतोगुणके परिचालक हैं । विष्णुजीसे कल्प मात्रसेही सत्त्वगुणके उपकारक हैं । स्वांश मूलस्वरूपमें स्थित हैं ॥ १२ ॥

२ तस्येति–ब्रह्मण इत्यर्थः ।

३ ब्रह्मा दोप्रकारके हैं, जीवकोटि और ईश्वरकोटि । पहिले ईश्वरकोटिका निरूपण करआये हैं अब जीवकोटिका निरूपण करतेहैं । सूक्ष्मरूप–महतत्त्वशरीर, परमेश्वर मात्र दृश्य और देवादिके अगोचर । स्थूलरूप–समष्टिशरीर अर्थात् ब्रह्माण्डविग्रह, देवादि दृश्य और उनको वरका देनेवाला ॥ १३ ॥

वैराजरूप ब्रह्मा, सृष्टि और वेदका प्रचार करनेके लिये प्रायः चतुर्मुख, अष्टनेत्र और अष्टबाहु होकर अभिव्यक्त होतेहैं । कभी भगवान् विष्णुजीही, जो कि गर्भोदशायी हैं—ब्रह्मारूपसे अवतीर्ण होकर स्वयंही सृष्टिकार्यको किया करतेहैं ॥ १३ ॥

तथाच पाद्मे—

"भवेत् क्वचिन्महाकल्पे ब्रह्मा जीवोऽप्युपासनैः ।
क्वचिदत्र महाविष्णुर्ब्रह्मत्वं प्रतिपद्यते ॥" इति ।
विष्णुर्यत्र महाकल्पे स्रष्टृत्वञ्च प्रपद्यते । ❀
तत्र भुङ्क्ते तं प्रविश्य वैराजःसौख्यसम्पदम् ॥
अतो जीवत्वमैश्यञ्च ब्रह्मणःकालभेदतः ॥ १४ ॥

टिप्प०—ब्रह्मणो द्वैरूप्ये प्रमाणं—भवेदिति । महाविष्णुः—गर्भोदशायः ॥ ननु यत्र महाकल्पे महाविष्णुः ब्रह्मा स्यात्, तत्र जीवलक्षणः स क्वचित् तिष्ठेत्, नचासौ मुक्तिं प्राप्नोतीति वाच्यं, तन्मुक्तेस्तच्छतवत्सरानन्तरत्वात्; एवमाह सूत्रकारः, "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (ब्र० सू० ३ । ३ । ३३) इति ? तत्राह—विष्णुर्यत्रेति। तं—स्रष्टारं विष्णुं,प्रविश्य, वैराजः—चतुर्म्मुखः, स चान्तर्गतहिरण्यगर्भो बोध्यः। सर्गक्रियाया विष्णुनावरुद्धत्वात् स तस्मिन् सायुज्यमासाद्य देवैरर्पितां भोगसम्पदं भुङ्क्ते । अधिकारमपनीयापि भोगानपनयान्महोदारत्वं विष्णोर्व्यञ्जितम्॥उक्तं द्वैविध्यं निगमयति—अतइति॥१४॥

भा०टी०—सोही पद्मपुराणमें कहाहै कि—"किसी २महाकल्पमें जीवभी उपासनाके प्रभावसे ब्रह्मा होता है और किसी २ महाकल्पमें गर्भोदशायी महाविष्णुजीही ब्रह्मा हुआ करते हैं"। इति। जिस कल्पमें गर्भोदशायी विष्णुजी,ब्रह्मा होकर सृष्टिकार्यको निर्वाह करतेहैं, तिस कालमें वैराज ब्रह्मा उनमें प्रवेश करके ब्रह्मलोककी सुखसम्पत्तिको उपभोग किया करते हैं । अतएव कालभेदसे ईश्वरत्व और जीवत्व, ब्रह्माके लिये यह दोनों सिद्ध होगये ॥ १४ ॥

---

१ "विष्णुर्यत्र" इत्यस्य पूर्वम् "अत्र कारिका" इत्यतिरिक्तपाठः क्वचित् दृश्यते स त्वस्माभिरनभिमतत्वात् न गृहीतः । "स्रष्टृत्वञ्च प्रपद्यते" इत्यत्र "ब्रह्मत्वं प्रतिपद्यते" इति पाठान्तरम् ।

२ जीव और ईश्वरभेदसे ब्रह्माजी दोप्रकारके हैं। इस वाक्यसे यह भली भांति प्रमाणित होगया ॥ १४ ॥

ईशत्वापेक्षया तस्य शास्त्रे प्रोक्तावतारता ।
समष्टित्वेन भगवत्सन्निकृष्टतयोच्यते ॥
अस्यावतारता कैश्चिदावेशत्वेन कैश्चन ॥ १५ ॥

टिप्प०—ब्रह्मणोऽवतारशब्दवाच्यतायां निर्णेतॄणां मतभेदानाह—ईशत्वेति–गर्भोदशयाविर्भावतामपेक्ष्य इत्यर्थः । तथाच ईशत्वपक्षे तत्रावतारशब्दो मुख्य इति भावः॥ कैश्चित्–आचार्य्यैः, ब्रह्मणः समष्टित्वेन या भगवत्सन्निकृष्टता तथा तस्यावतारता उच्यते । अयमर्थः-अशू व्याप्तौ संघाते च धातुः, तस्मात् संपूर्वात् क्तिनि समष्टिरिति पदसिद्धिः, सृष्टिकार्य्यक्षमत्वधिया भगवता अयं, समश्यते-व्याप्यते क्षीरनीरन्यायेन संपृच्यते वा इति समष्टिः तथात्वेन सन्निकृष्टतया स तदवतारः । कैश्चित् तु तदावेशत्वेन तद्वतारतोच्यते; भगवान् भास्वत्प्रभान्यायेन तमाविश्य सृष्टिकार्य्यं करोति; न तूक्तन्यायेन संपृच्येति । जीवत्वपक्षे तत्रावतारशब्दो गौण इत्यर्थः ॥ १५ ॥

भा०टी०—शास्त्रमें ईश्वराविर्भावकी अपेक्षाकरके ब्रह्माजीको अवतार कहाहै।कोई२ समष्टिरूपसे भगवान्‌की सन्निकृष्टताके हेतु अर्थात् सृष्टिकार्यमें ब्रह्माको सामर्थ्यवान् जानकर भगवान् अपनी शक्तिसे क्षीरमें नीरकी समान उसमें मिलकर अभिन्नवत् जानपडतेहैं, इस कारणसे ब्रह्माको अवतार कहते हैं ॥ १५ ॥

तथाच ब्रह्मसंहितायां (५ । ४९)—

"भास्वान् यथाश्मशकलेषु निजेषु तेजः
स्वीयं कियत् प्रकटयत्यपि तद्वदत्र ।
ब्रह्मा य एव जगदण्डविधानकर्त्ता
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥ १६ ॥" इति ।

टिप्प०--आवेशपक्षमुदाहरति–भास्वानिति--सूर्यः यथा, निजेषु अश्मशकलेषु--सूर्य्यकान्तमणिखण्डेषु स्वीयं कियत् तेजः प्रकटयति अपिना तेदाहं प्रकाशञ्च किंचित् करोति । तद्वत् यः- गोविन्दः अत्र जगति, कदाचित् पुरुपुण्ये जीवे स्वीयं तेजो निधायेत्यवशिष्टम् ।

१ जिस कालमें स्वयं गर्भोदशायी ब्रह्मा होकर सृष्टि किया करतेहैं, तिस कालमें ईश्वरत्व अपेक्षा करके अवतारशब्द मुख्य है, जीवत्व अपेक्षाकरके अवतारशब्द गौण है ॥ १५ ॥

जगदण्डे यत् विधानं-व्यष्टिनिर्म्माणं; तत्कर्त्तेत्यर्थः । उरुवाक्यान्तरञ्च रुद्रनिरूपणे द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥

भा०टी०—इसीहिमें ब्रह्मसंहितामें कहाहै—"सूर्य जिस प्रकार अपने पाषाणखण्डमें अर्थात् सूर्यकान्तमणिमें अपना कुछ तेज प्रकाश करके दाहादिकार्य किया करतेहैं, वैसेही जो, ब्रह्मानीमें अपनी सृष्टिशक्तिसे आविष्ट होकर ब्रह्माण्डमें व्यष्टि रचना करतेहैं, मैं उन आदिपुरुष गोविन्दका भजन करताहूं ।" ॥ १६ ॥ इति ।

गर्भोदशायिनोऽस्याभूत् जन्म नाभिसरोरुहात् । *
कदाचित् श्रूयते नीरात् तेजोवातादिकादपि ॥ १७ ॥

टिप्प०—ब्रह्मणो जन्मनि विशेषान्तरमाह—गर्भोदेति । नीरादिति । नीरात्-गर्भोदकात्, तेजसो वाताच्च तत्रत्यात्, इति यथेश-सङ्कल्पमिदं बोध्यम् ॥ १७ ॥

भा०टी०—गर्भोदशायीकी नाभिपद्मसे इस (पूर्वोक्त जीवकोटि) ब्रह्माका जन्म हुआ है । किसी कल्पमें जल अर्थात् गर्भोदकसे, किसी २ कल्पमें तहांके तेज वायुआदिसे, अर्थात् जिस कल्पमें परमेश्वरकी जैसी इच्छा होती है, उस कल्पमें उसी प्रकारसे जन्म हुआकरताहै ॥ १७ ॥

श्रीरुद्रः—

रुद्र एकादशव्यूहस्तथाष्टतनुरप्यसौ ।
प्रायःपञ्चाननस्त्र्यक्षो दशबाहुरुदीर्यते ॥ १८ ॥

टिप्प०-वाक्यविशेषलाभात् रुद्रस्यापि द्वैविध्यं प्रतिपादयितुमाह-श्रीति ॥ "सत्वं रजः" इत्यादिवाक्ये य ईश्वरकोटिरुक्तः,तं तावदाह-रुद्र एकादशव्यूह इति । अत्र भारतवाक्यम्--"अजैकपादहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षोऽथ रैवतः । हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः । सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः ॥" इत्येतत् । तथाष्टतनुरिति--"पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च । सूर्य्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टमूर्त्तयः ॥" इति यादवः । प्राय इति–जलावरणस्थरुद्रस्यैकमुखत्वधीक्षणात् ॥ १८ ॥

भा०टी०-श्रीरुद्रजी एकादशभागमें विभक्त हैं अर्थात् अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सावित्र, जयन्त, पिनाकी

श्रीरुद्र ।

---

*"दशायिनोऽस्याभूत्" इत्यत्र "गर्भोदकशयादस्य" इति पाठान्तरम् ।

और अपराजित और पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश, सूर्य, चंद्र और सोमराजी यह उनकी आठ मूर्ति हैं इनमें प्रायः रुद्रकेही दश भुजा, पांच मुख और प्रत्येक मुखमें तीन २ नेत्र हैं ॥ १८ ॥

क्वचिज्जीवविशेषत्वं हरस्योक्तं विधेरिव ।
तत् तु शेषवदेवास्तां तदंशत्वेन कीर्त्तनात् ॥ १९ ॥

टिप्प०—अथ जीवकोटित्वं तस्याह–क्वचिदिति । "यं कामये तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्" इत्यादिकमृक्छ्रुतौ; "अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेय" इत्यारभ्य "नारायणाद्ब्रह्माजायते नारायणाद्रुद्रो जायते नारायणात् प्रजापतिर्जायते नारायणादिन्द्रो जायते नारायणादष्टौ वसवो [जायन्ते] नारायणादेकादशरुद्रा [जायन्ते] नारायणाद् द्वादशादित्याः" (ना०उ० १) इत्यादिकं नारायणोपनिषदि । "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानः" इत्युपक्रम्य, "तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत बिभ्रच्छ्रियं सत्यं ब्रह्मचर्य्यं तपो वैराग्यम्" (म० उ० १–२) इत्यादिकं महोपनिषदि; "प्रजापतिश्च रुद्रश्चाप्यहमेव सृजामि वै । तौ हि मां न विजानीतो मम मायाविमोहितौ ॥" इति मोक्षधर्म्मे च; एभिर्वाक्यैर्जन्मोक्तेः हरस्य जीवत्वम् । अतः प्रलयश्च ।— "ब्रह्मा शम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः । एवमाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा ॥ जगत्कार्य्यावसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसा । वितेजसश्च ते सर्वे पंचत्वमुपयान्ति वै ॥" इति विष्णुधर्म्मे- "एको ह", इत्यादिश्रुतौ च । अन्यथा एतानि कुप्येयुः । दृष्टान्तोऽत्र विधेरिवेति शेषवदिति–शार्ङ्गिणः शय्यारूपस्तदाधारशक्तिः शेष ईश्वरकोटिः, भूधारी तु तदाविष्टो जीवः, इति परत्र व्यक्तंभावि । तदंशत्वेनेति–तत्स्वांशत्वेन तद्विभिन्नांशत्वेन च पुराणेष्वभिधानादित्यर्थः ॥ १९ ॥

भा०टी०–ब्रह्माजीकी समान अर्थात् किसी शास्त्रमें जिस प्रकार ब्रह्माजीको जीवविशेष कहकर वर्णन कियाहै, वैसेही किसी २ स्थान रुद्रजीकोभी जीवविशेष

---

१ ब्रह्माण्डके बहिर्भागमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और महत्तत्व यह सात आवर हैं । तिसमें जलआवरणके रुद्र एक वहन हैं ॥ १८ ॥

कहाहै । पुराणमें भगवदंशरूपसे कीर्त्तन कियाहै. इस कारण "शेष" जीकी समान इनकीभी मीमांसा करनीहोगी ॥ १९ ॥

हरः पुरुषधामत्वान्निर्गुणः प्राय एव सः ।
विकारवानिह तमोयोगात् सर्वैः प्रतीयते ॥

यथा श्रीदशमे (१० । ८८ । ३)—

"शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ॥२०॥" इति ।

टिप्प०—यस्तु "सत्वं रजस्तमः" इति पद्ये परस्य पुरुषस्याविर्भावो हरः पठितः, स खलु, पुरुषधामत्वात्—तदात्मभूतत्वात्, निर्गुण एव । प्राय इति—स्वेच्छागृहीतेन तमसा आवृतत्वात् । अतएव, सर्वैः-अतत्वविद्भिः, विकारवान्, इह—गुणावतारेषु, प्रतीयते; वस्तुतस्तु अविकारी स इत्यर्थः ॥ तमोयोगाद्, विकारवान् प्रतीयते, इत्यत्र प्रमाणमाह—शिवः शक्तीति । शिवः—रुद्रः शश्वत्—सर्वदा, शक्त्या स्वेच्छागृहीतया गुणसाम्यावस्थया प्रकृत्या, युतः, गुणक्षोभे सति, त्रिलिङ्गः—गुणत्रययुक्तः एकदेशश्च सद्भिस्तैर्गुणैर्दूरतः संवृतश्चेति । ननु तमःसंवृतत्वं तस्य ख्यातं, त्रिलिङ्गत्वमिह कथमुक्तमिति चेत्; उच्यते, त्रयाणां गुणानां मिथः संपृक्तत्वात् सत्वरजसी च तत्र स्याताममेवेत्यविरोधः । एतच्च वाक्यं लोकप्रतीत्यनुवादरूपं बोध्यम्॥२०॥

भा०टी०—भगवान्के अंश रुद्रजी, तत्त्वतः निर्गुण होकरभी तमोगुणके योगसे अर्थात् सान्निध्यमात्रसे तमोगुणकी सहायता करतेहैं, इस कारण साधारण लोगोंके निकट आपाततः विकारीकी समान जानेजातेहैं । यथा श्रीदशममें—"रुद्रजी, गुणसाम्यावस्थामें निरन्तर प्रकृतियुक्त, गुणक्षोभके पश्चात् त्रिगुणयुक्त और दूरसे तीनों गुणोंमें आवृत हैं" ॥ २० ॥ इति ।

यथा ब्रह्मसंहितायां (५ । ४५)—

"क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्
सञ्जायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः ।

---

१ अंश दो प्रकारके हैं; स्वांश और विभिन्नांश । इनमें भगवानके शय्यारूप आधारशक्ति 'शेष' स्वांश ईश्वरकोटि हैं । भूधारी शेष आधारशक्तियुक्त विभिन्नांश जीव हैं । वैसेही स्वांश रुद्र ईश्वर-कोटि हैं । संहारिकाशक्तियुक्त विभिन्नांश रुद्र जीव हैं ॥ २० ॥

२ यह वाक्य लोकप्रतीतिका अनुवाद मात्र है ।

यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्य्यात्
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥ २१ ॥"

टिप्प०--पुरुषधामत्वात् निर्गुणत्वं, तमोयोगात् विकारवत्त्व-गणितिः, इत्यत्र प्रमाणं–क्षीरं यथेति। विकारविशेषयोगात् क्षीरं यथा दधि संजायते, ततः–क्षीरात्, हेतोः दधि, पृथक्–भिन्नं, न अस्ति– न भवति, तथा, यः–गोविन्दः, तमोयोगात्–स्वेच्छागृहीततमःसम्बन्धात्, शम्भुर्भवति; नतु गोविन्दात् शम्भुरन्य इत्यर्थः। तथाच विकारस्यागन्तुकत्वात् स्वरूपे न तत्प्रसङ्ग इति ॥ २१ ॥

भा०टी०–यथा ब्रह्मसंहितामें–"जिस प्रकार दूध विकारविशेषके योगसे दही होजाताहै, परन्तु वह दही अपने कारण दूधसे कभीभी पृथक् वस्तु नहीं, वैसेही जो संहारकार्यके निमित्त रुद्ररूपसे अवतरण करतेहैं, मैं उन आदिपुरुष गोविन्दजीका भजन करताहूं ।" ॥२१॥

विधेर्ललाटाज्जन्मास्य कदाचित् कमलापतेः ।
कालाग्निरुद्रः कल्पान्ते भवेत् संकर्षणादपि ॥ २२ ॥

टिप्प०--रुद्रस्याविर्भावस्थानान्याह–विधेरिति । विधेर्ललाटादिति शतपथादौ दृष्टं, कमलापतेर्ललाटादिति महोपनिषदि (म० उ० २) पुराणेषु च; तदिदं कल्पभेदात् सम्भाव्यम् । कालाग्निरुद्र इति–" पातालतलमारभ्य संकर्षणमुखानलः । " (भा० ११ । ३।१०) इत्येकादशोक्तेर्बोध्यम् ॥ २२ ॥

भा०टी०–किसी कल्पमें ब्रह्माजीके ललाटसे और किसी कल्पमें विष्णुजीके ललाटसे रुद्रजीकी उत्पत्ति होतीहै । कल्पके अंतमें संकर्षणसेभी कालाग्निरुद्रका जन्म हुआकरताहै ॥ २२ ॥

सदाशिवाख्या तन्मूर्त्तिस्तमोगन्धविवर्जिता ।
सर्वकारणभूतासावङ्गभूता स्वयंप्रभोः ।
वायव्यादिषु सैवेयं शिवलोके प्रदर्शिता ॥ २३ ॥

टिप्प०--यत्तु कृष्णः स्वयंप्रभुः, नारायणादयस्तद्विलास–स्वांशाः, तथा आवेशाश्च केचित्, तत्स्वांशात् गर्भोदशयात् ब्रह्म-विष्णु-रुद्राः,

१ इस श्लोकसे ईश्वरकोटि रुद्र निर्दिष्ट हुए ॥ २१ ॥

तेषामीशत्वं, कदाचित् ब्रह्मरुद्रयोर्जीवत्वञ्च, इति वचनलाभात् शास्त्रकृता निर्णीतं, न तत् चतुरस्रं; किन्तु सदाशिवो मूलं तत्त्वं स्वयंपदाभिमतं, तदेव नारायणादिरूपम्, अतः ब्रह्मादयस्त्रयस्तस्यैव कार्य्यभूताः; "अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्। तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्॥ उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्। ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥ स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालाग्निः स चन्द्रमाः॥ स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं चराचरम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥" (कै०उ० ६-९) इति कैवल्योपनिषदि श्रवणात्; तस्मादयं पक्षो वरीयान्, श्रौतत्वादिति चेत्? तत्राह,सदेति। सा मूर्त्तिः,स्वयं प्रभोः-कृष्णस्य, अङ्गभूता, नारायणस्तद्विलास इत्यर्थः। अत एव तैत्तिरीयाः शिवमच्युतं नारायणम् इत्येकार्थेन पठन्ति। श्रुतौ, उमा-कीर्त्तिः, तत्सहायं,त्रिलोचनं-त्रिकालज्ञं, नीलकण्ठं-नीलमणिभूषितकण्ठम्,इति व्याख्येयं;प्रतीतार्थानां तस्मिन् शिवे अस्वीकारात्। वायव्यादिष्विति। शिवलोके-वैकुण्ठधाम्नि। "अण्डौघस्य समन्तात्तु" इत्यादिभिर्वायवीयवाक्यैर्निरूपितोऽयं सदाशिवस्तल्लोकश्च सन्दर्भकृद्भिः॥ २३॥

भा०टी०-वायुपुराणादिमें, वैकुंठके अन्तर्वर्त्ती शिवलोकमें सर्वकारणस्वरूप और तमोगुणसम्बन्धरहित जो सदाशिवनाम्नी शिवमूर्त्ति दिखाई है वह स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजीका विलास है॥ २३॥

तथा च ब्रह्मसंहितायाम् आदिशिवकथने (५।८)-

"नियतिः सा रमा देवी तत्प्रिया तद्वशंवदा।

तल्लिङ्गं भगवान् शम्भुर्ज्योतीरूपः सनातनः॥

या योनिः सा परा शक्तिः" इत्यादि॥ २४॥

टिप्प०-स्वयंरूपस्य कृष्णस्यैव मूर्तिः सदाशिवः, इत्यत्र निर्णायकं वाक्यमाह,-नियतिः सेति। आदिपदेनेदं ग्राह्यं-कामो बीजं महद्धरेः। लिङ्गयोन्यात्मिका जाता इमा माहेश्वरीः प्रजाः। शक्ति-

१ इस श्लोकसे यह प्रमाणित किया कि सदाशिवतत्त्व निर्गुण और स्वयं भगवान्का विलास है॥ २३॥

मान्पुरुषः सोऽयं लिङ्गरूपी महेश्वरः । तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुर्जगत्पतिः ॥" (ब्र० सं० ५ । ८-१०) इति । अस्यार्थः-पूर्वं रमया रमणमुक्तं,रमा सा कीदृशी ? इत्याह-नियतिरिति । नियम्यते नियता भवति- रमणे तस्मिन्निति तदनपायिनी तत्स्वरूपभूतेति यावत्; अत उक्तं-" तत्प्रिया तद्वशंवदा " इति; " न विष्णुना विना देवी न विष्णुः पद्मजां विना । " इति हयशीर्षपञ्चरात्रात्, " नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी । " (वि० पु० १ । ८ । १९) इति वैष्णवाच्च । तस्य स्वयंरूपस्य भगवान् शम्भुः, लिङ्गं-चिह्नं, भवति, " लिङ्गं चिह्नेऽनुमाने च " इति विश्वः । भगवान्-षडैश्वर्यविशिष्टः परव्योमाधीशः । शं भावयति स्वाद्वितीयव्यूहसङ्कर्षणात्मना प्रकृतिविलीनानां जीवानां तत्तदुपाधिसृष्टयेति शम्भुः, मितभ्वादित्वाड्डुः । ज्योतीरूपः-चैतन्यविग्रहः । अनेन तदधीशत्वेन कृष्णस्य स्वयंरूपत्वं परिचीयते, साम्राज्ञिव गोगोत्वम । यस्यासौ विलासः स स्वयम्, इत्यतस्तस्य स लिङ्गमुच्यते । या खलु; योनिः-महदाद्युपादानभूता, सा त्वपरा शक्तिः-त्रिगुणेत्यर्थः । हरेः-तदंशस्य संकर्षणस्य, कामः-तद्दिदृक्षालक्षणः; महदादिसृष्टिफलको भवति, ततो बीजं महदिति।महत्-अपरिमितं जीवतत्त्वं, तस्यामाहितं भवति।अत इमा माहेश्वर्यः प्रजाः, लिङ्गयोन्यात्मिकाः-पुरुषप्रकृतिकारणिकाः, जाताः कथ्यन्ते । प्रकृतेरुपसर्ज्जनत्वेन[1] तादधीन्यात् माहेश्वरीरिति प्रजानाम्, इत्युपपादयति-शक्तिमानित्यर्द्धकेन । अथोक्तार्थमेव स्फुटयति-तस्मिन्निति । लिङ्गे-तदधीशे, तत्सन्निधौ । महा-विष्णुः-संकर्षणः ॥ २४ ॥

भा० टी०-तथा ब्रह्मसंहिताके आदिशिवकथनमें कहा है-"सर्वदा अनपायिनी और वशंवदा रमादेवी जिनकी प्यारी हैं, सर्वदा एकरूप चैतन्यविग्रह भगवान् शम्भु उसही स्वयं रूपके अंगविशेष हैं । जो योनि अर्थात् महदादितत्त्वके उत्पत्तिस्थान हैं, वह अपरा अर्थात् त्रिगुणा शक्ति है " इत्यादि ॥ २४ ॥

श्रीविष्णुः ॥ ३ ॥ यथा श्रीतृतीये (भा० ३ । ८ । १६)-

"तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः
प्रावीविशत् सर्वगुणावभासम् ।

---

१ उपसर्ज्जनत्वेनेति-गौणत्वेनेत्यर्थः ।

"तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता
स्वयंभुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ॥" इति ।
यो विष्णुः पठ्यते सोऽसौ क्षीराम्बुधिशायी मतः ।
गर्भोदशायिनस्तस्य विलासत्वान्मुनीश्वरैः ।
नारायणो विराडन्तर्यामी चायं निगद्यते ॥ २५ ॥

टिप्प०—अथ सत्त्वप्रवर्त्तकं विष्णुं निर्णयति—श्रीविष्णुरिति ॥ तल्लोकेति । स उ एव गर्भोदकशयः, विष्णुः—प्रद्युम्नः, तत् लोकरूपं पद्मं, प्राविविशदिति—स्वार्थिको णिच्, प्राविशदित्यर्थः । कीदृशं तत् पद्मम्? इत्याह, सर्व्वान् गुणान्—भोग्यान् अर्थान्, अवभासयतीति तत्, नानाभोग्यवस्तूपेतमित्यर्थः । ब्रह्मवत् रुद्रवच्च विष्णोर्द्विरूप्यं नास्ति, अतस्तन्नोक्तम् ॥ लोकपद्मप्रविष्ट एष किंनामाभूत्? इत्यत्राह, यो विष्णुरिति । गर्भोदशायी प्रद्युम्नः सहस्रशीर्षा अनिरुद्धश्चतुर्भुजः सन् लोकपद्मं संप्रविष्टः क्षीराब्धौ शयानस्तन्नामाभूदित्यर्थः । नन्वस्य पालकस्य विष्णोर्नारायणादिनामता कुतः? तत्राह, गर्भोदेति । कारणजलाश्रयत्वं हि नारायणत्वं, तत्त्वाश्रयत्वं वा, तदुभयम् । अस्य यन्निगद्यते, तत्, तस्य—कारणार्णवशायिनः, गर्भोदशायिनः सतो विलासोऽयं भवति, तस्मात्, तत्तद्भेदादित्यर्थः ॥ २५ ॥

भा०टी०—श्रीविष्णुजी । यथा तीसरे स्कन्धमें—"जिसमें जीवकी समस्त भोग्य वस्तु निहित हैं, उस लोकात्मक—पद्ममें गर्भोदशायी, विष्णु होकर प्रवेश करते हैं । मुनिगण जिनको स्वयम्भु कहते हैं, वह वेदमय विधाता जिस पद्ममें स्वयं आविर्भूत हुए हैं"—इति । जिनको विष्णु कहकर कीर्त्तन करतेहैं वह क्षीराब्धिशायी हैं । गर्भोदशायीका विलास कहकर मुनिगण विष्णुजीको नारायण और विराट्का अन्तर्यामी भी बताते हैं ॥ २५ ॥

श्रीविष्णुजी

विष्णुधर्म्मोत्तराद्युक्ता याः पुर्य्योऽजाण्डमध्यतः ।
सन्ति विष्णुप्रकाशानां ताः कथ्यन्ते समासतः ॥ २६ ॥

---

१ गर्भोदशायी प्रद्युम्नजी, चतुर्भुज अनिरुद्धका आविष्कार और लोकपद्ममें प्रवेशपूर्वक क्षीरसमुद्रमें शयन करके क्षीराब्धिशायी नामको प्राप्त हुएहैं । वास्तवमें विष्णुजीको कारणार्णवशायी और गर्भोदशायीका विलास कहकर अभेदहेतसे विष्णुके नारायणादि नामसे भी पुकारा है ॥ २५ ॥

टिप्प०—अथास्य क्षीराब्धिपतेरस्मिन् जगदण्डे महत्यो विभूतयः सन्तीति दर्शयितुमाह—विष्णुधर्म्मेति ॥ २६ ॥

ब्रह्माण्डमध्यवर्ती विष्णुधामसमूह

भा०टी०—विष्णु प्रकाशवर्गके ब्रह्माण्डमें विष्णुधर्मोत्तरादिमें जिन पुरियोंका वर्णन है, मैं संक्षेपसे उन समस्त पुरियोंका निर्देश करूंगा ॥ २६ ॥

यथा—

"रुद्रोपरिष्टादपरः पञ्चायुतप्रमाणतः ।
अगम्यः सर्वलोकानां विष्णुलोकः प्रकीर्तितः ॥
तस्योपरिष्टाद्ब्रह्माण्डः काञ्चनोद्दीप्तिसंयुतः ।
मेरोस्तु पूर्वदिग्भागे मध्ये तु लवणोदधेः ।
विष्णुलोको महान्प्रोक्तः सलिलान्तरसंस्थितः ॥
तत्र स्वपिति धर्म्मान्ते देवदेवो जनार्दनः ।
लक्ष्मीसहायः सततं शेषपर्य्यङ्कमास्थितः ॥
मेरोश्च पूर्वदिग्भागे मध्ये क्षीरार्णवस्य च ।
क्षीराम्बुमध्यगा शुभ्रा देवस्यान्या तथा पुरी ॥
लक्ष्मीसहायस्तत्रास्ते शेषासनगतः प्रभुः ।
तत्रापि चतुरो मासान्सुप्तस्तिष्ठति वार्षिकान् ॥
तस्मिन्नवाचि दिग्भागे मध्ये क्षीरार्णवस्य तु ।
योजनानां सहस्राणि मण्डलः पञ्चविंशतिः ।
श्वेतद्वीपतया ख्यातो द्वीपः परमशोभनः ॥
नराः सूर्यप्रभास्तत्र शीतांशुसमदर्शनाः ।
तेजसा दुर्निरीक्ष्याश्च देवानामपि यादव ! ॥"

ब्रह्माण्डे च—

"श्वेतो नाम महानस्ति द्वीपः क्षीराब्धिवेष्टितः ।
लक्षयोजनविस्तारः सुरम्यः सर्वकाञ्चनः ॥

कुन्देन्दुकुमुदप्रख्यैर्लोलकल्लोलराशिभिः ।
धौतामलशिलोपेतः समन्तात्क्षीरवारिधेः ॥" इति ॥ २७ ॥

टिप्प०—विष्णुधर्म्मवचनम् उदाहरति,[1]—यथेत्यादि ॥ रुद्रोपरिष्टात्—रुद्रलोकस्योपरि ॥ तस्येति—विष्णुलोकस्य । ब्रह्माण्ड इति—ब्रह्मणा अम्यते दर्शनाय गम्यते इत्यर्थः; अम गत्यादिषु, क्रमान्ताड्डः ॥ अवाचि—दक्षिणे ॥ कुन्देन्द्विति । क्षीरवारिधेर्लोलकल्लोलराशिभिर्धौतामलशिलोपेतो द्वीप इत्यन्वयः ॥ २७ ॥

भा०टी०यथा—"रुद्रलोकके ऊपरी भागमें पंचायुतयोजनके परिमाणका विष्णुलोकनामक सर्वलोकअगम्य जो लोक है ॥ उसके ऊपर सुमेरुसे पूर्वकी ओर लवणसमुद्रके मध्यभागमें जलमें स्थित, जिसको देखनेके लिये बीचबीचमें ब्रह्माजी जायाकरते हैं, ऐसा बडे आकारवाला स्वर्णमय विष्णुलोक कहागया है ॥ जिस लोकमें जनार्दन विष्णुजी, लक्ष्मीजीके साथ, शेषरूपी पलंगपर वर्षाके चार मास सोते रहते हैं ॥ मेरुकी पूर्वदिशामें क्षीरसमुद्रके मध्य, क्षीराम्बुधिमध्यवर्त्तिनी शुभ्रवर्णकी और एक पुरी है ॥ जिसमें भगवान् विष्णुजी लक्ष्मीजीके साथ शेषासनपर बैठा करतेहैं । वहांपर भी प्रभुजी वर्षाके चार मासतक निद्राका सुख अनुभव करते हैं ॥ तिसकी ही दक्षिण दिशामें क्षीरसागरके बीच पच्चीस हजार योजनके परिमाणवाला 'श्वेतद्वीप' नामक विख्यात परमसुन्दर एक द्वीप है ॥ "यहांके मनुष्यगण सूर्यके समान तेजस्वी और चंद्रमाके समान प्रियदर्शन हैं । बरन इनको देखतेहुए देवताओंके नेत्रभी धर्षित होते हैं" ॥ ब्रह्माण्डपुराणमें भी कहा है—"जो क्षीरसमुद्रसे परिवेष्टित है जिसका विस्तार लक्षयोजन है । क्षीरसमुद्रके कुन्दकुसुम चंद्रमा और कुमुदकी समान धवल तरंगराशिके द्वारा जिसका निर्मल शिलातल धोयाजाता है । इस प्रकारके अत्यन्त बड़े सुदृश काञ्चनमय द्वीपका नाम श्वेतद्वीप है ।" इति ॥ २७ ॥

श्वेतद्वीप ।

किं च विष्णुपुराणादौ मोक्षधर्म्मे च कीर्त्तितम् ।
क्षीराब्धेरुत्तरे तीरे श्वेतद्वीपो भवेदिति ॥
शुद्धोदादुत्तरे श्वेतद्वीपं स्यात्पाद्मसम्मतम् ॥ २८ ॥

---

१ " उदाहरति, यथेत्यादि " इत्यत्र " उदाहर्त्तुं, यथेत्यादि " इति पाठान्तरम् ।

२ कल्पमें अलग २ स्थानमें श्वेतद्वीपका आविष्कार होनेसे, उन कल्पोंकी अपेक्षाकरके वर्णनकरनेसे पुराणादिका भिन्न भिन्न मत हुआहै । सर्वत्र यही सिद्धान्त है ॥ २७ ॥

टिप्प०—श्वेतद्वीपस्य स्थितौ मतान्तरे आह,—किञ्चेत्यादिना। तदिदं कल्पभेदादवगम्यम् ॥ २८ ॥

भा०टी—और भी कहता हूं—विष्णुपुराणादिमें और मोक्षधर्ममें क्षीराब्धिके उत्तर किनारेपर श्वेतद्वीप है, ऐसा कहा है ॥ पद्मपुराणमें भी यही कहा है कि—उदकसमुद्रके उत्तरतीरपर श्वेतद्वीप है ॥ २८ ॥

विष्णुः सत्त्वं तनोतीति शास्त्रे सत्त्वतनुः स्मृतः ॥
अवतारगणश्चास्य भवेत्सत्त्वतनुस्तथा ॥
बहिरङ्गमधिष्ठानमिति वा तस्य तत्तनुः ॥ २९ ॥

टिप्प०—"श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः" इत्युक्तं, तत्र विष्णोः सत्त्वतनुत्वं किं मायिकसत्त्वमूर्त्तित्वं वाच्यं? तथा च सति तदुपासनया मुक्तेरभावः, "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" (ब्र० सू० ४। १। ३) इति न्यायेनात्मविग्रहोपासनया मुक्तेरभिधानात्, इति चेत्? तत्राह,—विष्णुःसत्त्वम् इति—सत्त्वगुणं विस्तारयन् विष्णुः सत्त्वतनुरुच्यते। अस्य—क्षीरोदशायस्य विष्णोः, अवतारगणश्च सत्त्वविस्तारात् सत्त्वतनुः। अथवा, तत् सत्त्वं तस्य बहिरङ्गमधिष्ठानं भवति, "सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्" (भा० १। २। २४।) इत्युक्तेः, स्वच्छे शान्ते तत्र तत्प्रकाशस्तदाविर्भूत—तज्ज्ञानद्वारा भवतीत्यपेक्षया, तत् तस्य तनुरुच्यते; अन्तरङ्गमधिष्ठानन्तु वैकुण्ठमेवेति भावः ॥ २९ ॥

भा०टी०—सत्त्वगुणका विस्तार करतेहैं इस कारण शास्त्रमें विष्णुजीका नाम सत्त्वतनु हुआहै। तैसेही क्षीराब्धिशायी विष्णुजीके अवतारोंको भी 'सत्त्वतनु' कहाहै। अथवा वह सत्त्वरूप तनु उनके बहिरंगमें अधिष्ठित है, इस लिये उनको सत्त्वतनु कहागया है ॥ २९ ॥

[1]विष्णु सत्त्वतनु इसका अर्थ क्या है

अतो निर्गुणता सम्यक्सर्वशास्त्रे प्रसिद्ध्यति ॥
तथाहि श्रीदशमे (भा० १० । ८८ । ५)—
"हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥" इति।

---

१ सत्वगुणावलम्बि स्वच्छचित्तमें आविर्भूत स्वज्ञानसे उनका प्रकाश होता है इस कारण ऐसा कहा कि सत्त्वगुण उनके बहिरङ्गमें अधिष्ठान करताहै। उनका अन्तरंग अधिष्ठान वैकुण्ठ है ॥ २९ ॥

तेन सत्त्वतनोरस्माच्छ्रेयांसि स्युरितीरितम्[1] ॥ ३० ॥

टिप्प०–अत इति–स्फुटार्थम् ॥ हरिर्हीति । हरिर्निर्गुणः, सङ्कल्पेनैव सत्त्वस्य प्रवर्त्तनात् । अतः, साक्षात्–अनावृतः, न तु ब्रह्मादिवत् तदावृतः; यतः प्रकृतेः परः; न तु तद्वदिच्छया गृहीतगुणः।अतः, सर्वदृक्–सर्वेषां दृक् मोक्षहेतुर्ज्ञानं यस्मात् सः । उपद्रष्टा–सन्निधौ मुक्तान् पश्यति, मुक्तगम्यइत्यर्थः, नतु तद्वत् मुक्तैस्त्याज्यः । अतस्तं भजन् निर्गुणो भवेत्, "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मु० ३ । १ । ३) इति श्रुतेः ॥ यत ईदृग्विष्णुः, ततः, तेनेत्यादि–स्फुटार्थम् ॥ ३० ॥

भा०टी०–इस ही कारण सर्व्व शास्त्रोंमें विष्णुजीको निर्गुण कहा है ॥ तथाहि श्रीदशममें–"हरि निर्गुण, साक्षात् परमेश्वर, प्रकृतिसे परे, ब्रह्मादि देवताओंको ज्ञान देनेवाले और सर्वसाक्षी हैं । उनका भजन करनेसे निर्गुणता प्राप्त होती है ।" इति ॥ इसी हेतुसे "इस सत्त्वतनुसे सर्वप्रकारका मंगल सम्पन्न हुआ करताहै" यही भागवत पद्यमें कहा है ॥ ३० ॥

शास्त्रमें विष्णु निर्गुण हैं ।

इत्यतो विहिता शास्त्रे तद्भक्तेरेव नित्यता ॥

तथाहि पाद्मे–

"स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ॥ ३१ ॥"

टिप्प०–इत्यत इति–उक्तरीतिकेन निर्गुणत्वेन विष्णोरेव पारम्यात्, तद्भक्तेर्नित्यता[2] विहिता । यस्या अकरणे प्रत्यवायः, सा नित्या ॥ अत्र प्रमाणं, स्मर्त्तव्य इति । एतयोः–विष्णुस्मरणविस्मरणयोः । सन्ध्योपासनादेर्नित्यत्वेऽपि यथा पितृलोकः फलमस्ति, एवं भक्तेस्तत्त्वेऽपि विष्णुलोकस्तदिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

भा०टी०–अतएव शास्त्रमें विष्णुभक्तिकी नित्यताही विधान की है ॥ तैसेही पद्मपुराणमें–"सर्वदा विष्णुजीको स्मरणकरे, कभी भी उनको न भूले । शास्त्रमें जो विधि और निषेध हैं, वे समस्त उक्त स्मरण और विस्मरणके अधीन हैं ।" ॥ ३१ ॥

विष्णुभक्तिकी नित्यता ।

---

१ "स्युरितीरितम्" इत्यत्र "स्युरुदीरितम्" इति पाठान्तरम् ।

२ जिसको न करनेसे प्रत्यवाय लगताहै, उसकोही 'नित्य' कहतेहैं ॥ ३१ ॥

अत एव तत्रैव (प० पु० पा० ख० ९३ । २६)-
"व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा-
स्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधि ।
सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान्विष्णुः समस्तागम-
व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते ॥"
श्रीप्रथमस्कन्धे (भा० १ । २ । २६)-
"मुमुक्षवो घोररूपान्हित्वा भूतपतीनथ ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥" इति ।
अत्र स्वांशा हरेरेव कलाः शब्देन कीर्तिताः ॥ ३२ ॥

टिप्प०--नन्वेवं विष्णोरेव पारम्येण निर्णयो न सम्भवेत्, वादिविप्रतिपत्तेर्जागरूकत्वात्, तत्तत्पुराणेषु व्यासोक्तेष्वेव ब्रह्मरुद्रादीनामपि पारम्यदर्शनात्, इति चेत् ? तत्राह-अत एवेति-विष्णोरेव उक्तैः प्रमाणैः पारम्यस्य सिद्धत्वादित्यर्थः॥ व्यामोहायेति । चराः-देवमानवादयः, अचराः-शैलादयस्तदधिष्ठातारः, तद्रूपस्य जगतः । तां तां ब्रह्मरुद्रादिकाम् ; किन्तु ब्रह्मसूत्रैस्तद्भाष्येण च श्रीभागवतेन सिद्धान्ते सति, तेन समस्तागमव्यापारेषु अभिधालक्षणादिषु विवेकसंगतिं नीतेषु, विष्णुरेव अनावृतविज्ञानानन्दमूर्त्तिः पारम्यवान् निश्चीयते ॥ पारम्यात् विष्णुरेव भजनीय इत्यत्र सदाचारमाह-मुमुक्षव इति । भूतपतीन्-ब्रह्मरुद्रादीन् । तेषां हाने तासां भजने च हेतुः-घोररूपानिति, शान्ता इति च । अनसूयव इति-"हरिरेव सदाराध्यः सर्व्वदेवेश्वरेश्वरः । इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन ॥" (पद्मपुराणे) इति स्मृतेः ॥ अत्रेति । स्वांशाः-अनावृतज्ञानानन्दविग्रहत्वात् स्वयं प्रभुतुल्या मत्स्यकूर्म्मादयः ॥ ३२ ॥

भा०टी०-इसीसे उस पद्मपुराणमेंही कहाहै-"चराचर जगत्के लिये मोह उत्पन्न करनेको उन पुराण और आगम शास्त्रोंने कल्पकालतक उन देवताओंको श्रेष्ठ कहकर कीर्तन किया, सो वे करें, किन्तु समस्त शास्त्रोंकी रूढ़िप्रभृति वृत्तियोंसे विचार प्रसंग आपड़नेपर उन वृत्तियोंसे जो सिद्धान्त निकलताहै, उससे एक विष्णुजीही सर्वाराध्यरूपसे निश्चित होते हैं ।" ॥ श्रीप्रथममें-"मोक्षकी इच्छा करनेवाले और देवतामें दोषदृष्टिरहित हो

घोरस्वभाववाले भूतपति आदिको छोड़कर शान्तस्वभाव नारायणकलाका भजन किया करते हैं।" इति–इस श्लोकमें कलाशब्दसे विष्णुजीके स्वांशवर्गको कीर्त्तन कियाहै ॥ ३२ ॥

अतो विधिहरादीनां निखिलानां सुपर्वणाम्।
श्रीविष्णोः स्वांशवर्गेभ्यो न्यूनताभिप्रकाशिता ॥ ३३ ॥

टिप्प०–एवं विष्णोर्भक्तिर्ब्रह्माद्यैरप्यनुष्ठेयेति भावेनाह, 'अत इति–विष्णोर्मायानावृतविज्ञानानन्दमूर्तित्वादित्यर्थः । स्वांशवर्गेभ्यः–मत्स्यादिभ्यः ॥ ३३ ॥

विष्णुजीकी अपेक्षा ब्रह्मा व रुद्रादिकी न्यूनता

भा०टी०–अतएव श्रीविष्णुजीके स्वांशवर्ग मत्स्यादिकी अपेक्षा ब्रह्मा और रुद्रादि समस्त देवताओंकी न्यूनता प्रकाशित हुई है ॥ ३३ ॥

यथा तत्रैव (भा० १ । १८ । २१)–

"अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दा-
त्को नाम लोके भगवत्पदार्थः॥" इति ।

महावाराहे च–

"मत्स्यकूर्मवराहाद्याः समा विष्णोरभेदतः ।
ब्रह्माद्यास्त्वसमाः प्रोक्ताः प्रकृतिस्तु समासमा ॥ ३४॥" इति ।

टिप्प०–ब्रह्मादयोरीश्वरकोटित्वेऽपि रजस्तमोवृतत्वेन तादृशमूर्त्तित्वाभावात् तादृशानवरदेवान् शिक्षयन्तौ तौ तादृशमूर्तिं विष्णुं भजतः, जीवकोटित्वे तु सुतरामित्युदाहरति, अथापीति । विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः, यस्य–मुकुन्दस्य, पादनखावसृष्टं सत्, सेशं–सशिवं, जगत् पुनाति, ततोऽन्यो भगवत्पदार्थः कोनाम भवेत् ? न कोऽपीत्यर्थः । तथा च समग्रैश्वर्यादिषट्कवान् स एव ब्रह्मादिसेव्यत्वात् सर्वेषां सेव्य इत्यर्थः ॥ ब्रह्माद्यास्त्वसमा इति–स्वभावभेदादिति भावः । एवमत्रोक्तं रामचन्द्रकविराजैः–"प्रल्हाद-ध्रुव-रावणानुज-बलि-व्यासाम्बरीषादयो विष्णूपासनयैव पद्मज-भवादीनां प्रिया जज्ञिरे। येऽन्ये रावण–बाण-पाण्डूरु-वृकाः कौश्वान्धकाद्या

१ "पद्मज" इत्यत्र "तेऽपि च" इति पाठान्तरम् ।

अमी यद्भक्ता न च तत्प्रिया न च हरेस्तस्माज्जगद्वैरिणः ॥ शिवो भवतु वैष्णवः किमजितोपि शैवः स्वयं तथा समतयास्तु वा विधि-हरादिमूर्त्तित्रयम् । विलोक्य भव-वेधसोः किमपि भक्तवर्गक्रमं प्रणम्य शिरसापि तान् वयमुपेन्द्रदासान् श्रिताः ॥ " इति ॥ ३४ ॥

भा०टी०–यथा उसही प्रथममें–"ब्रह्माजीका दियाहुआ अर्हणोदक जिनके पांवके नखसे उत्पन्न होकर रुद्रजीके सहित समस्त जगत्को पवित्र करता है, उन मुकुन्दसे (बढ़कर) और कौनसा भगवत्पदार्थ है ? । " ॥ इति । यथा महावाराहमें–"मत्स्य, कूर्म और वराहआदिके अभेद हेतुसे विष्णुजी सम, ब्रह्मादि देवता असम और प्रकृतिको सम और असम कहते हैं" ॥ ३४ ॥

अत्र प्रकृतिशब्देन चिच्छक्तिरभिधीयते ।
अभिन्नाभिन्नरूपत्वादस्यैवोक्ता समासमा ॥ ३५ ॥

इति पुरुषावतार–गुणावतार–निरूपणम् ।

टिप्प०–प्रकृतिपदार्थं निश्चेतुमाह, अत्रेति । प्रकृतिशब्देनात्र, चिच्छक्तिः–पराख्या स्वरूपशक्तिः । या खलु–"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । " (श्वे० ६ । ८) इति श्रुत्या, " विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा । अविद्याकर्म्मसंज्ञानातृतीया शक्तिरिष्यते ॥ " (वि०पु० ६ । ७ । ६०) इति विष्णुपुराणेन चाभिधीयते । सा तु, अस्यैव–विष्णोः, अभिन्नभिन्नरूपत्वात् समासमा उक्ता, वराहवचनेन । एतदत्र बोध्यम्–अग्नेरुष्णतेव विष्णोरनितरा भवति, परा स्वाभाविकीति तद्विशेषणात्, " स्वरूपञ्च स्वभावश्च निसर्गश्च " (अ० को०) इति पर्य्यायशब्दाः । तथापि 'अस्य शक्तिः' इति विशेषबलात् व्यपदिश्यते, यथा 'सत्ता सती, भेदोभिन्नः, कालः सर्वदास्ति' इत्यादिषु सत्तादीनां सत्ताद्यन्तराभावेऽपि तद्वत्त्वं विद्वद्भिरुद्घोष्यते । ननु तेषु सत्ताद्यन्तराभावेऽपि वस्तुस्वभावादेव तथोक्तिरिति चेत् ? न, स्वभावस्यैवेह विशेषशब्दितत्वात् । विशेषश्च भेदप्रतिनिधिः, नतु भेदः, तं विना विशेषण-विशेष्यभावादि न स्यात् । न च 'सत्तासती' इत्यादिबुद्धिर्भ्रम एव, 'सन् घटः' इत्यादिवदबाधात् । न चारोपः, 'सिंहो देवदत्तो न' इतिवत 'सत्ता सती न' इति कदाचिदप्यव्यवहारात् । स च वस्त्वभिन्नः स्व-

१ " यद्भक्ता " इत्यत्र " यद्भृत्या " इति पाठान्तरम् ।

२ इस श्लोकसे हरिभक्तिकी नित्यता प्रमाणित होती है ॥ ३४ ॥

निर्वाही चेति नानवस्था । तस्य तादृशत्वञ्च धार्म्मिग्राहकप्रमाणसिद्धं जगत्कर्त्तुरिवेच्छाज्ञानकृतिमत्त्वम् । अस्मादेव विशेषात् गुणगुणिभावो देहदेहिभावोऽवतारावतारिभावश्चैकस्य विष्णोरुल्लसति । अभेदेऽपि सति भेदकार्यप्रत्यायको धर्म्मो विशेषः । अधिकन्त्वाकरग्रन्थान्वेयम् ॥ ३९ ॥

इति पुरुषावतारागणां गुणावताराणाञ्च निरूपणम् ।

भा०टी०—इस श्लोकमें प्रकृतिशब्दसे चिच्छक्तिका कथन हुआ है । इन विष्णुजीका भिन्न अथच अभिन्नरूप होनेसे यह शक्ति समा और असमा कहकर पुकारी गई है॥ ३५॥

इति पुरुषावतार व गुणावतारनिरूपण ।

अथ लीलावताराश्च विलिख्यन्ते यथामति ।
श्रीमद्भागवतस्यानुसारेण प्रायशस्त्वमी ॥
तत्र श्रीचतुःसनः ॥ १ ॥ श्रीप्रथमे (भा० १ । ३ । ६)—
" स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः ।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्य्यमखण्डितम् ॥" इति ।
चतुर्भिरवतारोऽयमेक एव सतां मतः ।
सनशब्दाच्चतुर्ष्वेव चतुःसन इति स्मृतः ॥
शुद्धज्ञानस्य भक्तेश्च प्रचारार्थमवातरत् ।
पंचपाब्दिकबालाभो गौरः कमलयोनितः ॥
श्रीनारदः ॥ २ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । ८)—
"तृतीयमृपिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः ।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्म्मणां यतः ॥" इति ।
प्रवर्त्तनाय लोकेऽस्मिन्स्वभक्तेरेव सर्वतः ।
हरिर्देवर्षिरूपेण चन्द्रशुभ्रो विधेरभूत् ॥
आविर्भूयादिमे ब्राह्मे कल्प एव चतुःसनः ।
नारदश्चानुवर्त्तेते कल्पेषु सकलेष्वपि ॥ १ ॥

टिप्प०—लीलावतारान् वक्तुमाह, अथेति ॥ तानाह, तत्र श्रीचतुःसन इत्यादिभिः । अत्र प्रकरणे संख्येयावतार-नाम-निर्देशोत्तराः पंचविंशतिरङ्काः, ते द्विबिन्दवः पुरातनाः; टीकाक्रमलाभाय नवीनास्तु निर्बिन्दवो ज्ञेयाः ॥ स एवेति । सः—गर्भोदकशयः कृष्णस्य स्वांशः । कौमारं—चतुःसनरूपं, सर्गम् । ब्रह्मा—विप्रः, भूत्वा । इह प्रथम-द्वितीयादिशब्दाः संख्यापूर्त्यपेक्षा, न तु क्रमापेक्षा । सामयिकः क्रमस्त्वेतद्ग्रन्थरचित इति बोध्यम् । तृतीयमिति । ऋषिसर्गमुपेत्य, तत्रैव, देवर्षित्वं— नारदत्वञ्च, उपेत्येति योज्यम् । सात्वतं तन्त्रं—नारदपंचरात्रम् । यतः—तन्त्रात्, कर्म्मणां, नैष्कर्म्म्यं--भगवदर्पणगुणयोगात् परिशोधितविषपारदन्यायेन कर्म्मबन्धहारित्वं, भवति१

भा०—टी०—अब मतिके अनुसार लीलावतारका नाम कीर्तन करताहूं । तिनमें प्रायः अवतारही श्रीमद्भागवतसम्मत हैं ॥ तिनमें चतुःसन ॥ १ ॥

लीलावतार/चतुःसन, नारद ।

श्रीप्रथममें—"वे गर्भोदशायी पुरुषने कौमार अर्थात् सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार और चतुःसनका सर्ग आश्रय करके ब्राह्मण हो अस्खलित और किसीसे न होसके ऐसे ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान करते हुए ।" ॥ इति । यह चारोंही एक अवतारके हैं । और चारोंके नामके पहिले 'सन' इस शब्दके विद्यमान रहनेसे इस अवतारको 'चतुःसन' नामसे निर्देश किया गया ॥ शुद्ध ज्ञान और भक्तिके प्रचारार्थ ब्रह्माजीसे यह 'चतुःसन' अवतार हुआ है इनका आकार पांच अथवा छैः वर्षके बालककी समान है । वर्ण गौर है ॥ श्रीनारद ॥ २ ॥ प्रथममें ही—"उन पुरुषने ऋषिसर्गको प्राप्त करके, देवर्षि होकर, जिससे कर्मके बन्धन छूटे ऐसे सात्वततंत्रको अर्थात् पंचरात्रनामक आगम शास्त्रको बनाया ।" ॥ इति । इस लोकमें सर्व प्रकारसे अपनी भक्तिका प्रचार करनेके लिये शुभ्रवर्ण धारण करके ब्रह्माजीसे नारदरूपसे जन्म ग्रहण किया ॥ चतुःसन और नारद प्रथम ब्राह्मकल्पमें आविर्भूत होते तथा सब कल्पोंमेंही अनुवर्त्तन किया करते हैं ॥ १ ॥

---

१ लीलावतार—जिस चेष्टा या कार्यके साथ किसीप्रकारके आयासका कोई सम्बन्ध नहीं जो सर्व प्रकारसे स्वेच्छाधीन है, जो विविधविचित्रतासे परिपूर्ण और नित्य २ नई नई उल्लासतरंगोंसे युक्त है, उसेही चेष्टा या कार्यका नाम लीला है । भगवानके जिन अवतारोंमें इस प्रकारकी चेष्टा, या कार्यकी प्रधानता या अधिकता दिखाई दे, वही लीलावतार हैं ॥ १ ॥

२ जिस कल्पमें ब्रह्माजीका जन्म होताहै, उसकोही प्रथम ब्राह्मकल्प कहतेहैं । उस ब्राह्मकल्पमें चतुःसन और नारदजीका जन्म हुआ। दैनन्दिन प्रलयमें चतुःसन, नारद, और मरीचिआदि ऋषिगण ब्रह्माजीके साथ नारायणजीके शरीरमें प्रवेश कियाकरतेहैं । फिर कल्पके आरम्भमें निकलतेहैं । जिससमयतक ब्रह्माजीकी स्थिति होतीहै तबतक चतुःसनआदिकीभी स्थिति रहतीहै ॥ १ ॥

श्रीवराहः ॥ ३ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । ७)–

"द्वितीयन्तु भवायास्य रसातलगतां महीम् ।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः शौकरं वपुः ॥"

श्रीद्वितीये च (भा० २ । ७ । १)–

"यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्र-
त्क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः ।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
त दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार ॥" इति ।

द्विराविरासीत्कल्पेऽस्मिन्नाद्ये स्वायम्भुवान्तरे ।
घ्राणाद्विधेर्धरोद्धृत्यै चाक्षुषीये तु नीरतः ॥
हिरण्याक्षं धरोद्धारे निहन्तुं दंष्ट्रिपुङ्गवः ।
चतुष्पाच्छ्रीवराहोऽसौ भूवराहः क्वचिन्मतः ॥ २ ॥

टिप्प०–द्वितीयन्त्विति । अस्य–विश्वस्य, भवाय–उद्भवाय, विष्णुधर्म्मोत्तरनिर्णयात् प्रलये रसातलगतां महीमुद्धरिष्यन्, स देवः शौकरं वपुः, उपादत्त–प्रकटितवान् । स्वायम्भुवमन्वन्तरीयोऽयमवतारः॥ चाक्षुषमन्वन्तरीयं तमाह,–यत्रेति । क्रौडीं–शौकरीं, तनुं, बिभ्रत्–प्रकटयन्, उपागतं–मिलितम्, आदिदैत्यं–हिरण्याक्षं, दंष्ट्रया, ददार–विदीर्णं चकार ॥ ननु प्रथमस्कन्धवाक्ये धरोद्धाराय वराहो यः, स कस्मात् कदा अभूत् ? द्वितीयस्कन्धवाक्ये च धरामुद्धर्त्तुं जातः सन् हिरण्याक्षं न्यवधीत्, स च कस्मात् कदा अभूत् ? तत्र तत्र च किंवर्णः किमाकारश्च सः ? इति सन्देहं छेत्तुमाह, द्विरिति । यावन्मत्स्यावतारम्, अस्मिन्–ब्राह्मे कल्पे वराहो द्विराविरासीत् । तत्राद्ये स्वायम्भुवीयेऽन्तरे विधेर्घ्राणाज्जातो धरामुद्दधार, यः प्रथमवाक्येनोक्तः; यस्तु द्वितीयवाक्येनोक्तः, स तु चाक्षुषीये षष्ठेऽन्तरे नीराज्जातः सन्

---

१ मुद्रितामुद्रितेषु बहुष्वेव श्रीमद्भागवतेषु "यज्ञेशः" इति पाठो दृश्यते । टीकाकृद्भिस्तु "यज्ञेशः" इत्यत्र "सदेवः" इत्येव पाठः परिगृहीत इति विद्वद्भिरवधेयम् ।

२ "श्रीवराहोऽसौ" इत्यत्र "श्रीवराहोऽभूत्" इति पाठान्तरम् ।

धरामुद्धार हिरण्याक्षञ्च जघानेति । नीरत इत्यपूर्वत्वम् ॥ कचित- पाद्मादौ ॥ २ ॥

भा०टी०—श्रीवराह ॥ ३ ॥ प्रथममेंही—"इस विश्वका मंगल करनेके लिये पातालको पहुँची हुई पृथिवीका उद्धार करनेके लिये, भगवान् यज्ञेश्वरने वराहमूर्त्तिका आविष्कार किया था" ॥ श्रीद्वितीयमें—"अनन्त भगवानने पृथिवीका उद्धार करनेके लिये उद्यत हो जिस समयमें यज्ञवराहमूर्ति प्रकटित की तिस समयमें उन्होंने, इन्द्रने जिस प्रकार समस्त पर्वतोंको, वैसेही प्रलयके जलमें निकट आये हुए आदिदैत्य हिरण्याक्षको दाढसे विदीर्ण किया था" ॥ इति । इस ब्राह्मकल्पमें वराहजीका दोवार आविर्भाव होता है । तिसमें प्रथम स्वायम्भुवमन्वन्तरमें पृथिवीका उद्धार करनेके लिये ब्रह्माजीकी नासिकाके रन्ध्रसे और छठे चाक्षुषमन्वन्तरमें पृथ्वीका उद्धार और हिरण्याक्षके निहत करनेके लिये जलसे आविर्भाव हुआ । श्रीवराहजी कभी चतुष्पद और कभी नृवराह मूर्तिको प्रकट करते हैं ॥ २ ॥

वराह ।

कदाचिज्जलदश्यामः कदाचिच्चन्द्रपाण्डरः[1] ।
यज्ञमूर्त्तिः स्थविष्ठोऽयं वर्णद्वययुतः स्मृतः ॥ ३ ॥

टिप्प०—कदाचिदिति–आद्ये आद्यता[2], द्वितीये द्वितीयता ॥ ३ ॥

भा०टी०—कभी मेघकी समान श्यामसुन्दर और कभी चंद्रमाकी समान शुभ्रवर्ण होते हैं । अतएव यह बृहदाकार यज्ञवराह दो वर्णसे युक्त अर्थात श्वेतवराह और कृष्णवराह॥ ३ ॥

दक्षात्प्राचेतसात्सृष्टिः श्रूयते चाक्षुषेऽन्तरे ।
अतस्तत्रैव जन्मास्य हिरण्याक्षस्य युज्यते ॥
तथा हि श्रीचतुर्थे (भा० ४ । ३० । ४९)–
"चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते ।
यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥" इति ।
उत्तानपादवंश्यानां तनयस्य प्रचेतसाम् ।
दक्षस्यैव दितिः पुत्री हिरण्याक्षो दितेः सुतः ॥
कल्पारम्भे तदा नास्ति सुतोत्पत्तिर्मनोरपि ।
कासौ प्राचेतसो दक्षः क्व दितिः क्व दितेः सुतः ॥

---

१ "पाण्डरः" इत्यत्र "पाण्डुरः" इति पाठान्तरम् ।
२ "आद्यता" इत्यत्र "आद्यस्य" इति, "द्वितीयता" इत्यत्र "द्वितीयस्य" इति च पाठान्तरम् ।

अतः कालद्वयोद्भूतं श्रीवराहस्य चेष्टितम् ।
एकत्रैवाह मैत्रेयः क्षत्तुः प्रश्नानुरोधतः ॥ ४ ॥

टिप्प०–ननु चाक्षुषेऽन्तरे वराहो नीरादाविर्भूय आदिदैत्यं जघानेत्येतत् 'यत्र' इति वाक्यात् न प्रतीतमिति चेत्? तत्राह,–दक्षादिति॥ अत्र प्रमाणं, चाक्षुषेत्विति । दैवेन–परेशेन, चोदितः–प्रेरितः ॥ ननु तत्रैव चाक्षुषेन्तरे हिरण्याक्षस्य जन्मेति कथं मन्तव्यं? तत्राह, उत्तानपादेति ॥ ननु स्वायम्भुवीयेऽन्तरे प्रादुर्भूतो वराहो हिरण्याक्षं जघानेति कुतो न मन्यते? तत्राह,–कल्पारम्भे तदेति । कल्पस्य–ब्राह्मस्य, आरम्भे–स्वायम्भुवीयेऽन्तरे, मनोरपि स्वायम्भुवस्य सुतोत्पत्तिर्नास्ति मनोः सुताभ्यां सुतासु च उत्पत्तिस्तदा न; केवलं मनोः कन्यापुत्रादीनामुत्पत्तिदर्शनात । एवञ्चेत् क्वासावित्यादि । एतदुक्तं भवति–स्वायम्भुवस्य मनोरुत्तानपादः पुत्रः, तद्वंशोद्भवाः प्रचेतसः, तेषां तनयो दक्षः, तत्पुत्र्यां दित्यां कश्यपात् हिरण्याक्षोऽभूदिति कथास्ति; तत्श्चातिचिरकालोत्तरजातं हिरण्याक्षं स्वायम्भुवीयेऽन्तरे जातो वराहो जघानेति न सम्भवति । तस्मात् तत्र जातोऽसौ धरोद्धारमात्रं चकार इत्येव वक्तव्यम् ॥ ननु स्वायम्भुवीये धरोद्धारमात्रं चकार, चाक्षुषीये तु धरोद्धारदैत्यवधौ इति विवेकस्तृतीयस्कन्धेनोपलभ्यते? तत्राह, अत इति–विवेकस्य साधितत्वादेव, कालद्वयोद्भूतं वराहचेष्टितं मिथो विविक्तमपि तदवतारत्वसामान्यात् एकीकृत्य, क्षत्तुः–विदुरस्य, प्रश्नानुरोधात् मैत्रेयोऽब्रवीत्, इति न काचिदनुपपत्तिः ॥ ४ ॥

भा०टी०–चाक्षुषमन्वन्तरमें प्रचेताके पुत्र दक्षजीसे प्रजाकी सृष्टि हुई । यही छठे स्कन्धमें वर्णन है । अतएव उस चाक्षुषमन्वन्तरमेंही हिरण्याक्षका जन्म होना उचित है । तथाहि चतुर्थे–"कालके वशसे पूर्व देहका नाश होजानेपर उन्हीं दक्षजीने प्रचेताके पुत्र होकर, ईश्वरकी प्रेरणासे अभिमत प्रजाकी सृष्टि की थी" इति । उत्तानपादवंशोत्पन्न प्रचेता, उस प्रचेताके पुत्र दक्षजी, उन दक्षजीकी कन्या दिति, उस दितिका पुत्र हिरण्याक्ष हुआ ॥ जिस समय आदि वराहका अवतार हुआ, उस कल्पके आरंभमें स्वायम्भुवमनुके भी पुत्र कन्यासे पुत्रकी उत्पत्ति नहीं हुई । फिर प्रचेताके पुत्र दक्ष, वा दिति और दितिका पुत्र यह सब कहां रहे? ॥ अतएव मैत्रेय ऋषिने विदुरजीके प्रश्न करनेपर वराहजीकी दोनों लीला–अर्थात् स्वायम्भुव और चाक्षुषमन्वन्तरीय यह दोनों लीला एकही स्थानमें कहीं ॥ ४ ॥

मध्ये मन्वन्तरस्यैव मुनेः शापान्मनुं प्रति ।
प्रलयोऽसौ बभूवेति पुराणे क्वचिदीर्यते ॥

अयमाकस्मिको जातश्चाक्षुपस्यान्तरे मनोः ।
प्रलयः पद्मनाभस्य लीलयेति च कुत्रचित् ॥ ५ ॥

टिप्प०--ननु प्रलयं विना धराया मज्जनं न स्यात, ततः प्रलयशून्ये स्वायम्भुवीये तस्या अमज्जनात् किमर्थं तत्र वराहोऽभूदिति चेत् ? तत्राह,–मध्ये इति । मनुं–स्वायम्भुवं, प्रति, मुनेः–अगस्त्यस्य, शापात् तन्मध्ये प्रलयो बभूव, तेन मग्नाया धराया उद्धाराय वराहाविर्भावः । पुराणे-मात्स्य ॥ ननु चाक्षुषीये केन हेतुना प्रलयोऽभूत, येन धराया मज्जनं ? तत्राह,--अयमिति । भगवदिच्छया अकस्मात प्रलयोऽभूत्, तेन तस्या मज्जनं, तदुद्धाराय तदाविर्भाव इति । कुत्रचित्--विष्णुधर्म्मोत्तरादौ । पुराणद्वयवचनानि तु मृग्याणि ॥ ५ ॥

भा०टी०–स्वायम्भुवमनुको अगस्त्यजीका शाप होनेसे मन्वन्तरके मध्यमें प्रलय हुई थी, मत्स्यपुराणमें इस कथाका वर्णन है ॥ चाक्षुपमन्वन्तरमें भगवदिच्छासे अकस्मात प्रलय हुई थी, यह विषय विष्णुधर्मोत्तरादिमें कहाहुआ है ॥ ५ ॥

सर्वमन्वन्तरस्यान्ते प्रलयो निश्चितं भवेत् ।
विष्णुधर्म्मोत्तरे त्वेतन्मार्कण्डेयेन भाषितम् ॥ ६ ॥

टिप्प०--स्वायम्भुवीये चाक्षुषीये च अन्तरे धरा प्रलयाम्भसि मग्ना अभूत, तदुद्धाराय वराहो द्विः आविर्बभूव । वस्तुतस्तु सर्वेषां मन्वन्तराणामवसाने प्रलयो भवेदेव, तत्र तत्र धरा प्रलयाम्भसा अदृश्या तिष्ठेत, न तु प्रलयाम्भसि निमज्जेत, इति मुख्यं मतं दर्शयितुमाह, सर्वेति ॥ ६ ॥

भा०टी०–समस्त मन्वन्तरोंके अंतमें प्रलय हुआ करती है । यह बात विष्णुधर्मोत्तरमें मार्कण्डेयऋषिने वचनसे कही है ॥ ६ ॥

---

१ समस्त मन्वन्तरोंके अंतमें जो प्रलय होतीहै, उस समयमें पृथिवी, प्रलयके जलसे ढककर छिपजातीहै दिखाई नहीं देती, परन्तु प्रलयके जलमें निमग्न नहीं होजातीहै ॥ ६ ॥

तथा हि—

" मन्वन्तरे परिक्षीणे देवा मन्वन्तरेश्वराः ।
महर्लोकमथासाद्य तिष्ठन्ति गतकल्मषाः ॥
मनुश्च सह शक्रेण देवाश्च यदुनन्दन ।
ब्रह्मलोकं प्रपद्यन्ते पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥
भूतलं सतलं वज्र ! तोयरूपी महेश्वरः ।
ऊर्म्मिमाली महावेगः सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
भूर्लोकमाश्रितं सर्वं तदा नश्यति यादव ! ।
न विनश्यन्ति राजेन्द्र ! विश्रुताः कुलपर्वताः ॥
नौर्भूत्वा तु तदा देवी मही यदुकुलोद्वह ! ।
धारयत्यथ बीजानि सर्वाण्येवाविशेषतः ॥
भविष्यश्च मनुस्तत्र भविष्या ऋषयस्तथा ।
तिष्ठन्ति राजशार्दूल ! सप्त ते प्रथिता भुवि ॥
मत्स्यरूपधरो विष्णुः[1] शृङ्गीभूत्वा जगत्पतिः ।
आकर्षति तु तां नावं स्थानात्स्थानन्तु लीलया ॥
हिमाद्रिशिखरे नावं बद्ध्वा देवो जगत्पतिः ।
मत्स्यस्त्वदृश्यो भवति ते च तिष्ठन्ति तत्रगाः ॥
कृततुल्यं ततः कालं यावत्प्रक्षालनं स्मृतम् ।
आपः शममथो यान्ति यथापूर्वं नराधिप ! ।
ऋषयश्च मनुश्चैव सर्वं कुर्वन्ति ते[2] तदा ॥" ७ ॥

टिप्प०—विष्णुधर्म्मोक्तिं दर्शयितुं, तथाहीति ॥ मन्वन्तरेऽतीते शक्रादीनामधिकारे परिक्षीणे सति, मन्वन्तरेश्वरा देवाः महर्लोकमासाद्य, प्रलयोदधिं पश्यन्तास्तिष्ठन्ति ॥ ततः, ब्रह्मलोकं-सत्यं, प्रपद्यन्ते । कीदृशमित्याह, पुनरावृत्तिभिः—सम्मुखयुद्धमृतैः, दुर्लभं—

---

१ " विष्णुः " इत्यत्र "देवः" इति पाठान्तरम् ।
२ "ते तदा" इत्यत्र "पूर्ववत्" इति पाठान्तरम् ।

दुःखेन लभ्यम् । ते तत्र चिरं न वसन्ति, पुण्यक्षये तस्मात् पतन्ति, " आ ब्रह्मभवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । " (गी० ८ । १६) इति स्मृतेः । अधिकारिणस्तु तत्रैव निवसन्तः ब्रह्मणा सह विमुच्यन्ते, " ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ " (गी० ८ । १६, भा० ३ । ३२ । १० स्वा० टी०) इति स्मृतेः । प्रतिसञ्चरः—प्राकृतिकः प्रलयः ॥ भूतलं—पृथिवीं, तलेन—पृथिव्यधोभागेन पातालसप्तकेन, सहितमित्यर्थः । वज्रेति—कृष्णप्रपौत्रस्य सम्बोधनम् ॥ सर्व—वस्तु, नश्यति । कुलपर्वताः—हिमालयाद्योऽष्टौ, न विनश्यन्ति, किन्तु देवैर्दृश्यमाना वर्त्तन्ते इत्यर्थः ॥ महीदेवी—धराधिष्ठात्री वराहपत्नी ॥ ऋषयः सप्तेत्यन्वयः । तत्र—नावि ॥ तत्रगा इति—नावि स्थिता इत्यर्थः ॥ कृततुल्यं—सत्ययुगसमम् । सर्वं कुर्वन्ति—प्रजासर्ज्जनतत्पालनादि-कार्यं प्रवर्त्तयन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

भा०टी०—"मन्वन्तर बीतजानेपर, निर्दोष मन्वन्तरेश्वर देवतालोग महर्लोकमें जाकर स्थिति किया करते हैं ॥ हे यदुनंदन ! मनु इन्द्र और देवतागण, सन्मुख युद्धमें मृतक हुए पुरुषको दुःखसे प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोकमें लेकर गमन करते हैं ॥ हे वज्र ! उस काल ऐशिकशक्तिसम्पन्न और महावेगशाली समुद्र, सप्तपातालके साथ पृथ्वीको छाये रहता है ॥ हे यदुकुमार ! तब पृथ्वीके समस्त वस्तुएं नाशको प्राप्त होजाती हैं । विख्यात जो अष्ट कुलाचल हैं, केवल उनकाही नाश नहीं होता ॥ हे यदुकुलावतंस ! इसके उपरान्त पृथिवी देवी उसकाल नौकारूपको धारण करके फिर समस्त बीजोंको धारण किया करती है ॥ हे राजशार्दूल ! होनहार मनु और विख्यात सप्तर्षिगण उसही नावमें वास करते हैं ॥ उस समयमें जगन्नाथ नारायणजी, एकसिंगवाले मत्स्यका रूप धारण करके सरलतासेही उस नावको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें खेंचते हैं ॥ फिर जगत्पति मत्स्यदेव, हिमालय पर्वतके शिखरसे उस नावको बाँधकर अंतर्हित होजाते हैं । पहिले जो मन्वादि कह आये हैं वह सबही उस नावपर रहते हैं ॥ हे महाराज ! जबतक प्रलयका जल नहीं हटता है, तबतक सत्ययुगकी समान काल होता है । फिर जलभी पहिलेकी नांई शमताको प्राप्त होजाता है । उस समय ऋषिगण और मनुजी पहिलेकी समान सृष्टिपालनादिकार्योंको किया करते हैं" इति ॥ ७ ॥

मनोरन्ते लयो नास्ति मनवेऽदर्शि मायया ।
विष्णुनेति ब्रुवाणैस्तु स्वामिभिर्नैष मन्यते ॥ ८ ॥

टिप्प०—अत्र श्रीधरस्वामिनां मतमाह, (भा० १ । ३ । १५, ८ ।

२४ । ४६ स्वा० टी०) मनोरिति । मनोरन्ते लयो नास्ति, किन्तु कल्पान्त एवेत्यर्थः । माययेति–स्वाप्निकवत् प्रातीतिक इत्यर्थः । एषः–मन्वन्तरप्रलयः । इदं विष्णुधर्म्मेण विरुध्यते ॥ ८ ॥

भा०टी०–मन्वन्तरके अवसानमें प्रलय नहीं होती 'चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें श्रीभगवानर्जीने अपनी मायाके द्वारा, स्वप्नके विषयकी समान सत्यव्रतको प्रलय दिखलाई थी ।' श्रीधरस्वामीजी यह कहकर मन्वन्तरके अंतमें प्रलयका होना स्वीकार नहीं करते ॥ ८ ॥

श्रीमत्स्यः ॥ ४ ॥ श्रीप्रथमे (भा० १ । ३ । १५)–

"रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसंप्लवे ।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ॥"

श्रीद्वितीये च (भा० २ । ७ । १२)–

"मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः
क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः ।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे
आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥"

पाद्मे च–

"एवमुक्तो हृषीकेशो ब्रह्मणा परमेश्वरः ।
मत्स्यरूपं समास्थाय प्रविवेश महोदधिम् ॥ ९ ॥" इति ।

टिप्प०–एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतमवतारमुदाहरति, श्रीमत्स्य इत्यादिना ॥ रूपं स इति । चाक्षुषमन्वन्तरान्ते य उदधिसंप्लवस्तस्मिन् मात्स्यं रूपं सः, जगृहे–प्रकटितवान् । वैवस्वतं–भावि तन्नामानं सत्यव्रतम्, अपात्–पालितवान् ॥ मत्स्यो युगान्तेति । मनुना–सत्यव्रतेन, दृष्टो मत्स्यः । क्षोणीमयः–पृथ्वीप्रधानः, तत्समाश्रय इत्यर्थः; अतएव निखिलानां जीवनिकायानां, केतः–निवासभूतः । मे–मम ब्रह्मणः, मुखात्, विस्रंसितान्–स्खलितान्, वेदरूपान् मार्गान् आदाय, तत्र–युगान्तसलिले, विजहार ॥ एवमिति–'मम मुखाद्वेदा दैत्येन हृताः, वेदपालक ! रक्ष' इत्याद्युक्त इत्यर्थः । अन्यत् स्फुटार्थम् ॥ ९ ॥

१ श्रीधरस्वामीके मतसे कल्पके अंतमेंही प्रलय होती है ॥ ८ ॥

भा०टी०—श्रीमत्स्य ॥ ४ ॥ श्रीप्रथममें—"उन पुरुषनें चाक्षुष मन्वन्तरके अवसानमें, समुद्र प्लवनके समय मत्स्यरूपको आविष्कार करके पृथ्वीमयी नौकामें होनहार वैवस्वत मनु राजा सत्यव्रतको संवाद कराकर रक्षा की थी" ॥

मत्स्य

दूसरेमें ब्रह्माजीकी उक्ति—"युगान्त समयमें अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तरके अवसानमें, पृथ्वीके आश्रय और समस्त जीवोंके निवासभूत भगवान् मत्स्यदेवजी, होनहार वैवस्वतमनु राजा सत्यव्रतको दिखाई दिये थे। और मेरे मुखसे निकले हुए वेदमार्गको ग्रहण करके युगान्तके भयानक जलमें उन्होंने विहार किया था" ॥ पद्मपुराणमें—"ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर परमेश्वर हृषीकेशने मत्स्यरूपका आविष्कार करके महार्णवमें प्रवेश किया था" इति ॥ ९ ॥

मत्स्योऽपि प्रादुरभवद्द्विः कल्पेऽस्मिन्वराहवत् ।
आदौ स्वायम्भुवीयस्य दैत्यं घ्नन्नाहरच्छ्रुतीः ।
अन्ते तु चाक्षुषीयस्य कृपां सत्यव्रतेऽकरोत् ॥ १० ॥

टिप्प०—सङ्कीर्णं मत्स्यचरितं विभजति, मत्स्योऽपीति । अस्मिन् ब्राह्मे, कल्पे, मत्स्यो द्विः प्रादुरभूत् । स्वायम्भुवीयस्य मन्वन्तरस्य आदौ, श्रुतिचौरं दैत्यं—हयग्रीवं, घ्नन्—विनाशयन्, श्रुतीः, आहरत्—आनीतवान् । चाक्षुषीयस्य तु तस्य अन्ते, सत्यव्रते कृपामकरोत्—नावि तत्प्रभृतीन् निधाय पालितवानित्यर्थः ॥ १० ॥

भा०टी०—वराहजीकी समान, मत्स्यावतारभी इस वर्त्तमान कल्पमें दो बार हुआ है । प्रथम तो स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हयग्रीवनामक दैत्यका नाश करके वेदको लाये । फिर चाक्षुष मन्वन्तरके अवसानमें राजा सत्यव्रतपर कृपा की ॥ १० ॥

अन्त्येन सार्द्धपद्येन प्रोक्तमाद्यस्य चेष्टितम् ।
पूर्वसार्द्धेन चान्त्यस्य मत्स्यो ज्ञेयो वराहवत्[1] ॥ ११ ॥

टिप्प०—मत्स्यचरितं विभज्य तद्विषयकं प्रमाणं विभजति,—अन्त्येनेत्यादिना । "रूपं सः" इत्यादीनां त्रयाणां पद्यानां मध्ये, अन्त्येन 'विस्रंसितान्' इत्यादिकेन, सार्द्धपद्येन, आद्यस्य—स्वायम्भुवीयान्तरजातस्य मत्स्यस्य, दैत्यहननवेदानयनं चेष्टितमुक्तं; तत्सार्द्धकं तत्र प्रमाणम् । पूर्वसार्द्धकेन तु—'रूपं सः' इत्यादिकेन, चाक्षुषीयान्तर-

१ "मत्स्यो ज्ञेयो वराहवत्" इत्यत्र "मत्स्यौ ज्ञेयौ वराहवत्" इति पाठान्तरम् ।

जातस्य तस्य सत्यव्रते कृपालोस्तत्पालनं चेष्टितमुक्तं; तत्सार्द्धकं तत्र प्रमाणमित्यर्थः ॥ ११ ॥

भा०टी०-अन्त्य सार्द्ध पद्य अर्थात् "विस्रंसितान्" इत्यादि दूसरेका शेषार्ध और "एवमुक्तः" इत्यादि पद्मपुराणीय १ ॥ श्लोकके द्वारा स्वायम्भुव मन्वन्तरके मत्स्यावतारका चरित्र कहा है । और पूर्व सार्द्ध अर्थात् "रूपं स" इत्यादि प्रथमीय श्लोक और "मत्स्यो युगान्त" इत्यादि द्वितीयके पूर्वार्द्ध इस डेढ़ श्लोकसे चाक्षुष मन्वन्तरके मत्स्यावतारका चरित्र कहा है । अतएव वराहजीके समान मत्स्यावतारभी दो प्रकारका है ॥ ११ ॥

उपलक्षणमेवैतदन्यमन्वन्तरस्य च ।
विष्णुधर्म्मोत्तराज्ज्ञेयाःप्रादुर्भावाश्चतुर्द्दश ॥ १२ ॥

टिप्प०--न चैतत्पद्यत्रयात् मत्स्यस्य द्विरेव व्यक्तिः । किन्तु सर्वमन्वन्तरान्ते तद्व्यक्तिरिति मन्तव्यं, तत्रयस्य तदुपलक्षणत्वादित्याह, उपलक्षणमिति । वाचनिकमाह, विष्णुधर्म्मेति । तथा च मत्स्यस्य प्रतिकल्पं चतुर्द्दशकृत्वो व्यक्तिरिति ॥ १२ ॥

भा०टी०-स्वायम्भुव मन्वन्तरमें और चाक्षुष मन्वन्तरमें जो मत्स्यावतारकी कथा कही इसको दूसरे मन्वन्तरका उपलक्षण[1] जानना चाहिये । क्योंकि विष्णुधर्मोत्तरके प्रत्येक मन्वन्तरमें मत्स्यावतारकी कथा है । अतएव, प्रतिकल्पमें मत्स्यावतार चौदहवार हुआ करताहै ॥ १२ ॥

श्रीयज्ञः ॥ ६ ॥ श्रीप्रथमे (भा० १ । ३ । १२)-
"ततःसप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत ।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम् ॥" इति ।
त्रयाणामेव लोकानां महार्त्तिहरणादसौ ।
मातामहेन मनुना हरिरित्यपि शब्दितः[2] ॥ १३ ॥

टिप्प०-तत इति । रुचेः-पितुः, आकूत्यां-मातरि, यज्ञोऽजायत ।

---

१ जो द्रव्य नियत विषयका प्रतिपादक होकर औरऔर विषयोंकाभी प्रतिपादक होताहै उसको 'उपलक्षण' कहतेहैं । 'कागसे दहीको बचाओ' इस बातके कहनेसे जैसे 'काक' द्रव्य काकको प्रतिपादन करके काकसे भिन्न दहीके आघातक गीदड कुत्ते आदिकोभी प्रतिपादन करताहै वैसेही इस स्थानमेंभी स्वायम्भुव मन्वन्तर और चाक्षुष मन्वन्तरके दोनों अवतार उन मन्वन्तरोंके मत्स्यावतारोंको प्रतिपादनकरके विष्णुधर्ममें कहे अवतारकाभी प्रतिपादन करेंगे ॥ १२ ॥

२ "हरिरित्यपि शब्दितः" इत्यत्र "हरिरित्यभिशब्दितः" इति पाठान्तरम् ।

स-यज्ञः, यामाद्यैः-सुपुत्रैः, सुरगणैः, स्वायम्भुवं मन्वन्तरम् अपात्-तदा स्वयमिन्द्रोऽभूदित्यर्थः ॥ मनुना-स्वायम्भुवेन ॥ १३ ॥

भा०टी०-श्रीयज्ञ ॥ ५ ॥ श्रीप्रथममें "अनन्तर उन पुरुषने रुचिसे आकूतिमें यज्ञरूपसे अवतीर्ण हो अपने पुत्र यामादि देवगणोंके साथ स्वायम्भुवमन्वन्तरका पालन किया था।" इति। वह यज्ञजी, त्रिलोकीकी महार्तिको हरण करते हैं इस कारण उनके मातामह मनुजीनें उनको 'हरि' नामसेभी पुकारा ॥ १३ ॥

श्रीयज्ञ

श्रीनरनारायणौ ॥ ६ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । ९)-
"तुर्य्ये धर्म्मकलासर्गे नरनारायणावृषी ।
भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद्दुश्चरं तपः ॥" इति ।
शास्त्रेऽन्यौ हरिकृष्णाख्यावनयोः सोदरौ स्मृतौ ।
एभिरेकोऽवतारः स्याच्चतुर्भिः सनकादिवत् ॥ १४ ॥

टिप्प०--तुर्य्ये इति । धर्मस्य, कला-भागः, तद्भार्य्येत्यर्थः, "अर्द्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी" इति श्रवणात्, तस्याः सर्गे, स देवो नरनारायणावृषी भूत्वेति । अन्यत् प्रकटार्थम् ॥ विषयान्तरमाह, शास्त्रे इति-नारायणीये इति बोध्यम् । एतौ गृहिणौ बभूवतुरिति तत्रैवोच्यते ॥ १४ ॥

भा०टी०-श्रीनरनारायण ॥ ६ ॥ उस प्रथममेंही-"उन पुरुषने धर्मकी पत्नी मूर्त्तिमें नर और नारायण ऋषिरूपसे अवतार लेकर, जिससे मनको उपशान्ति अर्थात् विषयानुरागनिवृत्तिपूर्वक परब्रह्ममें निष्ठा हो, इस प्रकारकी दुःसाध्य तपस्या की थी जो किसी दूसरेसे न होसके।" इति। इन नरनारायणके हरि और कृष्ण नामक और दो सहोदरोंका विषय शास्त्रमें देखाजाता है । अतएव चतुःसनके समान इन चारमें एक अवतार है ॥ १४ ॥

नरनारायण

श्रीकपिलः ॥ ७ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । १०)-
"पञ्चमः कपिलोनाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥" इति ।
देवहूत्यां कर्दमतः प्रादुर्भावमसौ गतः ।
प्रोक्तः कपिलवर्णत्वात्कपिलाख्यो विरिञ्चिना ॥

पाद्मे—[1]

"कपिलो वासुदेवांशस्तत्त्वं सांख्यं जगाद ह ।
ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च ॥
तथैवासुरये सर्ववेदार्थैरुपबृंहितम् ॥
सर्ववेदविरुद्धञ्च कपिलोऽन्यो जगाद ह ।
सांख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्कपरिबृंहितम् ॥ १५ ॥"

टिप्प०--पञ्चम इति। तत्त्वग्रामस्य-प्रकृत्यादितत्त्ववर्गस्य सपुरुषस्य, विवेकेन निर्णयो यत्र तत्, सांख्यम्, आसुरये—तन्नाम्ने विप्राय, प्रोवाच ॥ ननु श्रीभागवतोक्तः कपिलः सेश्वरः, स कथं निरीश्वरं सांख्यमकरोत् ? इति सन्देहं छेत्तुमाह, कपिल इति । वासुदेवः—कार्दमिः कपिलः ॥ अन्यस्तु जीवोऽग्निवंशजः; यदुक्तं वनपर्वणि अग्निवंशवर्णने मार्कण्डेयेन—" कपिलं परमर्षिञ्च यं प्राहुर्यतयः सदा । अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्त्तकः ॥ " (म० भा० व० प० २२० । २२) इति । तथा च नाममात्रेण न भ्रमितव्यमिति ॥ १५ ॥

भा०टी०—श्रीकपिलजी ॥ ७ ॥ प्रथममेंही--"इन पुरुषने सिद्धेश्वर कपिलरूपसे अवतार लेकर, वह कालविप्लुत सांख्यशास्त्र आसुरिनामक ब्राह्मणसे कहा था कि जिसमें विवेकपूर्वक तत्त्ववर्गका निर्णय है ।" इति । यह कपिलदेवजी, कर्दमऋषिसे देवहूतिमें अवतरे थे । कपिलवर्ण अर्थात् कुछ नीला, कुछ पीला ऐसे वर्णसे युक्त होनेसे ब्रह्माजीने इनको 'कपिल' नामसे पुकारा। पद्मपुराणमें—"वासुदेवके अवतार कपिलदेवजीने, ब्रह्मादि देवता, भृग्वादि ऋषिगण और आसुरि नामक ब्राह्मणसे सर्ववेदार्थ-उपबृंहित' सांख्यतत्त्व कहा है दूसरे कपिलजीने वेदविरुद्ध और कुतर्कजालसे परिपूर्ण सांख्य दूसरे आसुरिसे कहा था ।" ॥ १५ ॥

कपिल

श्रीदत्तः ॥ ८ ॥ श्रीद्वितीये (भा० २ । ७ । ४)—

" अत्रेरपत्यमभिकांक्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद्भगवान्स दत्तः ।
यत्पादपंकज-पराग-पवित्रदेहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदु-हैहयाद्याः ॥"

---

[1] "वासुदेवांश" इत्यत्र "वासुदेवारूय" इति पाठान्तरम् ।

श्रीप्रथमे (भा० १ । ३ । ११)–

"षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥१६॥" इति ।

टिप्प०--अत्रेरिति । मया अहमेव तुभ्यं दत्त इति यत् भगवान् आह, ततः स नाम्ना दत्तोऽभवत् । उभयीं–भोगमोक्षरूपाम् । हैहयः–कार्त्तवीर्य्यः ॥ षष्ठमिति । अनसूयया–अत्रिपत्न्या, वृतः सन्, अत्रेरपत्यत्वं प्राप्तः । चरितमाह, आन्वीक्षिकीम्–आत्मविद्याम् ॥ १६ ॥

भा०टी०–श्रीदत्त ॥ ८ ॥ श्रीद्वितीयमें–"जिस समयमें अत्रिके पुत्रने कामना करके तपस्या की, तिस काल भगवान्‌जीने उनकी तपस्यासे संतुष्ट होकर कहा था, "मुझकरके मैं दियागया " अर्थात् "मैंने तुम्हें अपनेको दिया " इसही हेतुसे भगवानजी दत्तनामसे पुकारे जाते हैं । जिनके पादपद्मकी रेणुसे पवित्रदेह होकर यदु और कार्त्तवीर्यादिने भोग–मोक्षरूपा योगसिद्धिको प्राप्त किया था" इति ॥१६॥

दत्त वा दत्तात्रेय

श्रीब्रह्माण्डे तु कथितमत्रेःपत्न्यानसूयया ।
प्रार्थितो भगवानत्रेरपत्यत्वमुपेयिवान् ॥

तथाहि–

"वरं दत्त्वानसूयायै विष्णुः सर्वजगन्मयः ।
अत्रेः पुत्रोऽभवत्तस्यां स्वेच्छामानुषविग्रहः ।
दत्तात्रेय इति ख्यातो यतिवेषविभूषितः ॥ १७ ॥"

टिप्प०--प्रथमस्कन्धवचनार्थं पुष्णाति, श्रीब्रह्माण्डे त्विति ॥ स्वेच्छया मानुषाकारो विग्रहो यस्य सः, अभेदेऽपि भेदव्यपदेशो विशेषाद् बोध्यः । अत्रिणा तत्सदृशपुत्रोत्पत्तिमात्रं प्रकटं प्रार्थितमिति चतुर्थाद्यभिप्रायः । प्रथमवाक्ये तु अनसूयया साक्षात् पुत्रत्वं प्रार्थितमिति लब्धं तत्पोषकन्तु ब्रह्माण्डवाक्यम् ॥ १७ ॥

भा०टी०–श्रीब्रह्मांडपुराणमें कहा है कि भगवानजीकी प्रार्थना जब अत्रिकी स्त्री अनसूयाने की थी तब वह उसके अत्रिके पुत्र हुए थे ॥ तथाहि–"जो भक्तकी इच्छाके

---

१ अत्रिने भगवत्सदृश पुत्रकी प्रार्थना की, यही चतुर्थस्कन्धादिका अभिप्राय है । अनसूयाने साक्षात् भगवान्‌को पुत्ररूपसे प्रार्थना की, यह प्रथमस्कन्धका अभिप्राय है, उसकीही पोषकता करनेवाला ब्रह्माण्डपुराणका वचन है । 'मैं दत्त हुआ' इसही हेतुसे उनका नाम 'दत्त' है । और अत्रिके पुत्र होनेसे उनका नाम आत्रेय है । दत्त + आत्रेय दत्तात्रेय ॥ १७ ॥

वश हो मनुष्यलोकमें श्रीविग्रहको प्रगट करते हैं, जो समस्त जगत्के निदान हैं, उन्हीं भगवान् विष्णुजीने अनसूयाको वर दिया और उसमें जन्म लेकर अत्रिके पुत्र हुए थे। उस कालमें उनका नाम 'दत्तात्रेय' हुआ; वह ब्राह्मणवेषसे विभूषित हैं।" ॥ १७ ॥

श्रीहयशीर्षा ॥ ९ ॥ श्रीद्वितीये (भा० २ । ७ । ११)-
"सत्रे ममास भगवान्हयशीरपाथो
साक्षात्स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः ।
छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा
वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः ॥" इति ।
प्रादुर्भूयैष यज्ञाग्रेदानवौ मधुकैटभौ ।
हत्वा प्रत्यानयद्वेदान्पुनर्वागीश्वरीपतिः ॥
श्रीहंसः ॥ १० ॥ श्रीद्वितीये (भा० २ । ७ । १९)-
"तुभ्यञ्च नारद ! भृशं भगवान्विवृद्ध-
भावेन साधु परितुष्ट उवाच योगम् ।
ज्ञानञ्च भागवतमात्मसतत्त्वदीपं
यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव ॥" इति ।
शक्तोऽखिलविवेकेऽहं क्षीरनीरविभागवत् ।
इति व्यञ्जन्नयं राजहंसो व्यक्ति जलाद्रुतः ॥ १८ ॥

टिप्प०-सत्रे इति । मम-ब्रह्मणः । श्वसतः, अस्य-हयशीर्ष्णः, नस्तः-नासिकातः, वाचः-वेदलक्षणाः, बभूवुः-जाताः । उशतीः-उशत्यः, कमनीया इत्यर्थः । तुभ्यञ्चेति-चात् सनकादिभ्यः । हे नारद! विवृद्धेन, भावेन-प्रेम्णा, योगं-भक्तिलक्षणम्, उवाच । ज्ञानञ्च कीदृशं? भागवतं-भगवद्विषयकम्; आत्मनः-जीवस्य, यत्, सतत्त्वं-स्वरूपं, तस्य दीपं, तद्विषयकञ्च । यत् वासुदेवशरणाः, अञ्जसैव-आयासं विनैव, विदुः, अन्ये तु कष्टेनापि सम्यक् न बुद्ध्यन्ते इति भावः॥१८॥

भा०टी०-श्रीहयशीर्ष ॥ ९ ॥ श्रीद्वितीयमें-"वह साक्षात् यज्ञपुरुष भगवान् मेरे यज्ञमें हयशीर्ष होकर प्रगट हुए थे। जिनका वर्ण सुवर्णके समान है, जिनके शरीरमें समस्त वेद और वेदविहित यज्ञ विराजमान हैं और

हयशीर्ष ।

जो यज्ञमें यजनीय देवतागणोंके आत्मा हैं । जिस समय उन्होंने श्वासवायुको छोडा था, तिस कालमें उनके नासापुटसे कमनीयवेदवाणीका आविर्भाव हुआ था ।" इति ॥ वागीश्वरीके पति यह हयग्रीवजी ब्रह्माजीकी यज्ञाग्निसे प्रगट होकर मधु और कैटभ नामक दो दैत्योंका संहारकर, पुनर्वार वेदको ले आये ॥ श्रीहंस ॥ १० ॥ श्रीद्वितीयमें–"हे नारद ! उत्तरोत्तर वर्द्धमान उद्रिक्त भक्तियोगसे भगवान्‌जीने अत्यन्त प्रसन्न हो, हंसरूपसे तुमको भक्तियोग और भगवद्विषयक व जीवतत्त्वका स्वरूपप्रकाशक ज्ञानयोग कहा था, जिसको भगवद्भक्तगण विनाही परिश्रमके समझ सकते हैं ।" इति । मैं क्षीरनीरविभागकी समान समस्त वस्तुओंके ज्ञानमें समर्थ हूं, इसको ही ज्ञापन करनेके लिये जलसे राजहंसजी अभिव्यक्त हुए थे ॥ १८ ॥

हंस ।

श्रीध्रुवप्रियः ॥ ११ ॥

" विद्धः सपत्न्युदितपत्रिभिरन्ति राज्ञो
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि ।
तस्मा अदाद्ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्य्यधस्तात् ॥" इति ।
स्वायम्भुवेऽवतारोक्तेर्नाम्नश्चाकथनादिह ।
यज्ञादीनाञ्च तत्रोक्त्या पारिशेष्यप्रमाणतः ॥
प्रसिद्ध्या पृश्निगर्भेति तदाख्यास्य निगद्यते ।
हन्तायमद्रिरित्यादौ पद्ये गोवर्द्धनाद्रिवत् ॥
तथा श्रीदशमे (भा० १० । ३ । ३२, ४१)–
"त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूःपृश्निः स्वायम्भुवे सति ।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥"
"अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति स्मृतः ॥" इति ।
अस्यात्र चरितानुक्त्या नामानुक्त्या च तत्र वै ।

---

१ जिससमय हयग्रीवजीकी नासापुटसे वेद निकले, उस समय मधुकैटभ दैत्योंने वेदोंको चुरा लिया, तब हयग्रीवजीने उनको मारकर फिर वेदका उद्धार किया था ॥ १८ ॥

२ दूध और जल मिलतेही एकाकार होजातेहैं । परन्तु राजहंसकी जीभसे छुतेही दूध अलग और पानी अलग होजाताहै । ऐसी प्रसिद्धि है ॥ १८ ॥

परस्परमपेक्षित्वाद्युक्ता चैकत्र संगतिः ॥
अत्रागमनमात्रेण यदि स्यादवतारता ।
अन्यत्रापि प्रसज्येत यथेष्टं तत्प्रकल्पना ॥ १९ ॥

टिप्प०—विद्ध इति । बालोऽपि ध्रुवः, राज्ञः—उत्तानपादस्य पितुः, अन्ति—समीपे, मातुः सपत्न्याः—सुरुच्याः, उदितपत्त्रिभिः—वाग्बाणैः, विद्धः सन्, क्षात्रत्वात् असहिष्णुः, तपसे—तपः कर्त्तुं, वनान्युपगतः । गृणते—स्तुवते, तस्मै भगवान् प्रसन्नः सन् ध्रुवगतिम् अदात् । यत्—यां गतिम्, उपरिस्थिता भृग्वादयो दिव्याः स्तुवन्ति, अधः स्थितास्तु सप्तर्षयः ॥ नन्वेष किमकस्मात् वैकुण्ठादागत्य ध्रुवाय वरं दत्त्वा तमगात्, किं वा मातापितृभ्यामस्याभिव्यक्तिरस्ति ? इति सन्देहो न निवर्त्तते, वाक्यात् विशेषालाभात्, इत्यत्राह, स्वायंभुवे इति—एतदुक्त भवति—स्वायम्भुवीये यज्ञादयः सचरित्रा उक्ताः, तत्रैव पृश्निगर्भोऽचरित्र उक्तः, ध्रुवप्रियोऽपि तत्रैवाभाणि, न च तन्नाम, ध्रुवाय वरप्रदानं चरितन्तु उक्तं, न चायं ध्रुव—वरदानकृत् यज्ञादिष्वन्तर्भाव्यः, स्वायम्भुवान्तरपालनस्य तच्चरितस्योक्तत्वात्, तस्मात् पृश्निगर्भोऽयं तद्दानचरितकृदिति सिद्धम् । सामान्यस्य विशेषपरत्वे दृष्टान्तः, हन्तायमिति (भा० १० । २१ । १८) । तत्र प्रकरणात्, इह तु पारिशेष्यादिति बोध्यम् ॥ त्वमेवेति कृष्णवाक्यम् । हे साति !—देवकि ! मातः !। अयं—वसुदेवः ॥ अस्यात्रेति । अस्य—पृश्निगर्भस्य । अत्र—श्रीदशमे । तत्र—श्रीद्वितीये ॥ ननु पृश्निगर्भो ध्रुवमागत्य वरं तस्मै प्रादादिति पृथगयमवतारोऽस्तु ? मैवं, तथा सति दाशरथिः कृष्णश्च बहून् प्रति गत इति तत्र तत्रापि पृथगवतारता वक्तव्या स्यादिति ॥ १९ ॥

भा०टी०—श्रीध्रुवप्रिय ॥ १७ ॥ उस दूसरेमेंही—"राजा उत्तानपादके निकट, माताकी सपत्नी सुरुचिके वाक्यबाणसे विद्ध हो ध्रुवजी बालक होकरभी वनमें तप करनेको चलेगए थे । तपस्या और स्तुतिसे प्रसन्न हो भगवान्‌नीने उन ध्रुवजीको ध्रुवगति अर्थात् ध्रुवलोक प्रदान किया । उपरस्थित भृग्वादि मुनिगण और नीचे स्थित सप्तर्षिमंडल इस ध्रुवगतिकी स्तुति किया करते हैं" इति । स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ध्रुवप्रियका अवतार कहा हुआ है। परन्तु उस स्थानमें कोई नाम नहीं लिखाहै । उसही स्वायम्भुव मन्वन्तरमें सच रित यज्ञादि अवतारकी कथाभी कही गई है । उस कालमें

ध्रुवप्रिय ।

पृश्निगर्भके नामसे उनकी प्रसिद्धि है । पारिशिष्य प्रमाणसे, वह 'पृश्निगर्भ' इन ध्रुवप्रियका नाम है "हन्तायमद्रिः" इत्यादि दशमस्कन्धीय पदसे जिस प्रकार अद्रिशब्द गोवर्द्धन पर्वतका बोध कराता है॥ तथा श्रीदशममें (श्रीकृष्णजीने देवकीसे कहा है)--"हे सति ! स्वायम्भुव मन्वन्तरके मध्य पूर्वजन्ममें तुम्हीं पृश्नि हुई थीं । उस समय यह वसुदेवजी सुतपा नामके प्रजापति हुए थे । ये परम पुण्यशील हैं ।" तिस समय में तुम्हारा पुत्र हुआ तिसकाल मेरा नाम पृश्निगर्भ कहागया" इति । इस स्थानमें पृश्निगर्भके चरित्रका वर्णन न रहनेसे और दूसरे ध्रुवके वरदाताका नाम न लिखा होनेके कारणसे नाम और चरितके परस्पर सापेक्ष होनेसे पृश्निगर्भ नाम और ध्रुवका वरदान, इन दोनोंकी एक स्थानमें संगति होनाही युक्तिसिद्ध है यदि ध्रुवके निकट आगमन करनेसेही 'अवतार' कहकर निर्देश किया जाय, तो रामकृष्णादि भी समय २ पर अनेक भक्तोंके निकट गए हैं, उन २ स्थानोंमें पृथक् २ अवतारकल्पनाकी प्रसक्ति होती है ॥ १९ ॥

श्रीऋषभः ॥ १२ ॥ श्रीप्रथमे (भा० १ । ३ । १३)—
"अष्टमे मेरुदेव्यान्तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।
दर्शयन्वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥" इति ।
शुक्रः परमहंसानां धर्म्मं ज्ञापयितुं प्रभुः ।
व्यक्तो गुणैर्वरिष्ठत्वाद्विख्यात ऋषभाख्यया ॥
श्रीपृथुः ॥ १३ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । १४)—
"ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः ।
दुग्धेमां ह्योषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः ॥" इति ।
मथ्यमानान्मुनिगणैरसव्याद्वेणबाहुतः ।
प्रादुर्भूतो महाराजः शुद्धस्वर्णरुचिः पृथुः ॥ २० ॥

टिप्प०—ऋषभावतारमाह, अष्टमे इति।उरुक्रमः—हरिः, नाभेः—अग्नीध्रपुत्रात्, मेरुदेव्यां जातोऽभूत् । चरितमाह, सर्वाश्रमनमस्कृतं

१ "हन्तायमद्रिः" यह सामान्य अद्रिशब्द जिसप्रकार प्रकरणवशसे आद्रिवशसे गोवर्द्धनका बोध कराताहै,वैसेही स्वायम्भुवमन्वन्तरमें यज्ञादिअवतारके तत्तत्पालनादि चरित्र कीर्त्तित हुएहैं, परन्तु पृश्निगर्भका कोइ चरित्र नहीं कहागया;ध्रुवजीका वरदानरूप चरित्र और पृश्निगर्भनाम अंतमें यह दोनोंही रहे; अस्तु, पारिशिष्य-प्रमाणसे ध्रुवजीके वरदाता और पृश्निगर्भ नामक यह एकही हुए ॥ १९ ॥

धीराणां वर्त्म पारमहंस्याश्रमं, दर्शयन्निति ॥ अस्य नाम व्यञ्जयन्नाह, शुक्र इति ॥ ऋषिभिरिति । स हरिः ऋषिभिर्याचितः सन्, पार्थिवं वपुः-राजदेहं, भेजे । चरितमाह, इमां-पृथिवीम्, ओषधीः-निखिलानि वसूनि, अदुग्ध, अडभाव आर्षः । हे विप्राः !-शौनकादयः ! तेन-पृथिवीदोहनेन कर्म्मणा, सः-पृथुरवतारः, उशत्तमः-अतिरम्यः ॥ नामास्य व्यनक्ति, मथ्यमानादिति । असव्यात्--दक्षिणात् । चतुर्थे (भा० ४ । १९-२३ अ०) ख्यातमस्य चरितम् ॥ २० ॥

भा०टी०-श्रीऋषभ ॥ १२ ॥ श्रीप्रथममें--"सर्वाश्रमनमस्कृत धीरगणसेवित पदवी वा पारमहंस्य आश्रमको दिखानेके लिये उरुक्रम हरि आग्नीध्रके पुत्र नाभिसे मेरुदेवीमें ऋषभदेव रूपसे अवतीर्ण हुए थे ।" इति । शुक्र भगवान् परमहंस लोगोंको धर्मका उपदेश देनेके लिये आविर्भूत और सब गुणोंमें श्रेष्ठ होनेसे ऋषभ नामसे विख्यात हुए थे ॥ श्रीपृथु ॥ १३ ॥ उस प्रथममें ही--"ऋषि लोगोंसे प्रार्थित हो, श्रीभगवानजीनें राजदेह धारण करके पृथिवीसे सर्व प्रकारकी वस्तुओंको दुहा था, हे विप्रगण ! इसी हेतुसे यह अवतार अत्यन्त रमणीय है ।" इति । मुनिलोगोंकरके वेनकी दक्षिण भुजा मथेजानेपर उस बाँहसेही शुद्धसत्त्वमूर्ति और स्वर्णकान्ति महाराज पृथुजी उत्पन्न हुए थे ॥ २० ॥

आद्ये व्यक्ताः कुमाराद्याः पृथ्वन्ताश्च त्रयोदश ।
कोलमत्स्यौ पुनर्व्यक्तिं चाक्षुषीये तु जग्मतुः ॥ २१ ॥

टिप्प०--कोलमत्स्याविति--आपाततः । प्रतिमन्वन्तरं मत्स्यस्य व्यक्तेः ॥ २१ ॥

भा०टी०--चतुःसनसे लेकर पृथुतक यह तेरह अवतार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हुए। और चाक्षुषीय मन्वन्तरमें वराह और मत्स्यका पुनर्वार प्रादुर्भाव हुआ ॥ २१ ॥

अथ श्रीनृसिंह ॥ १४ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । १८)—
"चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्ज्जितम् ।
ददार करजैरूरावेरकां कटकृद्यथा ॥" इति ।
अस्य लक्ष्मीनृसिंहाद्या विलासा बहवः स्मृताः ।
तत्र पद्मपुराणादौ नानावर्णविचेष्टिताः ॥

१ साधारणदृष्टिसे पुनर्वार चाक्षुषीय मन्वन्तरमें मत्स्यजीकी अभिव्यक्ति कही । वास्तविक बात यह है कि, प्रत्येक मन्वन्तरमें मत्स्यजीका अवतार हुआकरताहै ॥ २१ ॥

षष्ठेऽन्तरेऽब्धिमथनान्नृहरेः पूर्वभाविता ।
अतः प्रागेष कूर्म्मादेर्व्यक्ति षष्ठेऽन्तरे गतः ॥ २२ ॥

टिप्प०—चतुर्दशमिति । दैत्येन्द्रं—हिरण्यकशिपुम्, ऊरौ निपात्य ददार । एरकां—निर्ग्रन्थितृणविशेषं, यथा कटकृत् दारयति ॥ अस्येति—नृसिंहस्य । कथास्तु पाद्मादौ द्रष्टव्याः । "नानाकारा नृसिंहास्ते नानाचेष्टासमन्विताः । जनलोके च वैकुण्ठे नित्यधाम्नि चकासति ॥" इति तत्रत्यं वाक्यमेतत् ॥ व्यक्तिसमयं तस्याह, षष्ठेऽन्तरे इति । अब्धिमथनात् पूर्वं नृसिंहो जातः । स्फुटमन्यत् ॥ २२ ॥

भा०टी०--अथ श्रीनृसिंह ॥ १४ ॥ उस प्रथममें ही—"भगवान् अत्यूर्जितर्जने नृसिंह नारसिंह--रूप प्रगट करके कट--कारी (फरसका बनानेवाला) जिस प्रकार एरका (तृणविशेष) को विदारित किया करता है, वैसेही उन्होंने हिरण्यकशिपुको जांघों पर गिराकर नखोंसे चीर डाला था ।" इति । पद्मपुराणादिमें इन नृसिंहजीकी लक्ष्मीनृसिंह आदि बहुतसी विलासमूर्तियोंका उल्लेख है । उनका वर्ण और आकार अनेक प्रकारका है । छठे चाक्षुष मन्वन्तरमें समुद्रमथनसे पहिले श्रीनृसिंहजीका अवतार हुआ, अत एव चाक्षुष मन्वन्तरके कूर्मादि अवतारसे पहिलेही श्रीनृसिंहजीकी अभिव्यक्ति हुई थी ॥ २२ ॥

श्रीकूर्म्मः ॥ १५ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । १६)—
"सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम् ।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ॥" इति ।
पाद्मे प्रोक्तं दधे क्षोणीमयमेवार्थितः सुरैः ।
शास्त्रान्तरे तु भूधारी कल्पादौ प्रकटोऽभवत् ॥
श्रीधन्वन्तरिमोहिन्यौ तत्रैव (भा० १ । ३ । १७)—
"धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च ।
अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्या मोहयन्स्त्रिया ॥" इति ।
तत्र श्रीधन्वन्तरिः ॥ १६ ॥
षष्ठे च सप्तमे चायं द्विराविर्भावमागतः ।
षष्ठेऽन्तरेऽब्धिमथनाद्धृतामृतकमण्डलुः ॥

उद्भूतो द्विभुजः श्याम आयुर्वेदप्रवर्त्तकः ॥
सप्तमे च तथारूपः काशीराजसुतोऽभवत् ॥

श्रीमोहिनी ॥ १७ ॥

दैत्यानां मोहनायासौ प्रमोदाय च धूर्ज्जटेः ।
अजितो मोहिनीमूर्त्या द्विराविर्भावमागतः ॥
इति षष्ठेऽत्र चत्वारो नृसिंहाद्याः प्रकीर्त्तिताः ॥ २३ ॥

टिप्प०--सुरासुराणामिति । कमठः–कूर्म्मः, तद्रूपेण पृष्ठे मन्दराचलं दधे । त्रिभुः–अजितः ॥ पाद्मे इति । अयं–पृष्ठधृतमन्दरः, सुरैरर्थितोऽधस्तात् क्षोणीं दधे इति पाद्ममतम् । शास्त्रान्तरे–विष्णुधर्म्मोत्तरादौ कल्पादौ तु यः भूधारी कूर्म्मः, स एव मन्दरं धर्त्तुं प्रकटोऽभूत् । एष पक्षः सुलग्नत्वात् उत्तरत्वाच्च सिद्धान्तो बोध्यः ॥ धान्वन्तरमिति । द्वादशं धान्वन्तररूपं, त्रयोदशमश्च हरे रूपमभूत् । चरितमाह, अपाययदिति–सुधामिति शेषः । मोहिन्या स्त्रिया–तद्वपुषा, अन्यान्–असुरान्, मोहयन्निति । धन्वन्तरिवपुषा सुधामानीय मोहिनीवपुषा असुरान् मोहयन् तां सुरान् अपाययदित्यर्थः ॥ तयोरवतारयोर्विशेषधर्म्मानभिधातुं तौ विविच्य दर्शयति, तत्र श्रीधन्वन्तरिरित्यादिना ॥ षष्ठे–चाक्षुषीये । सप्तमे–वैवस्वतीये ॥ तथारूपः–द्विभुजादिलक्षणः ॥ दैत्यानामिति । धूर्ज्जटेः–शिवस्य । अजितः–भगवान् । कूर्म्मादयस्त्रयोऽजितस्यावताराः ॥ चत्वार इति–नृसिंहकूर्म्मधन्वन्तरिमोहिन्यः, चाक्षुषीये बभूवुरित्यर्थः ॥ २३ ॥

भा०टी०--श्रीकूर्म ॥ १९ ॥ उस प्रथममेंही–"जिस समय देवता व असुर लोगोंने मिलकर समुद्रको मथन किया; उस कालमें भगवान् अजितने (चाक्षुष मन्वन्तरका अवतार) कूर्मरूप धारणकरके पीठपर मन्दर पर्वतको धारण किया था ।" इति । पद्मपुराणमें कहा है कि--इन मन्दराचलधारी कूर्मजीनेही देवताओंकी प्रार्थनासे पीठपर पृथिवीको धारण किया । विष्णुधर्मोत्तरादिमें ऐसा वर्णन है कि, कल्पकी पृथिवीको धारण करनेके लिये जो कूर्म अभिव्यक्त हुए हैं वेही मन्दराचल धारण

कूर्म

करनेके लिये प्रगट हुए ॥ **श्रीधन्वन्तरि और श्रीमोहिनी** ॥ १६ ॥ इस प्रथममें ही—"धन्वन्तरि और मोहिनीरूपसे नारायणजीने अभिव्यक्त हो, धन्वन्तरि रूपसे अमृत लाये और मोहिनीरूपसे असुरोंको मोहितकर देवताओंको वह अमृत पान कराया था ।" इति ॥ तिनमें **श्रीधन्वन्तरि** ॥ १६ ॥

धन्वन्तरि और मोहिनी।

यह धन्वन्तरिजी एकवार छठे चाक्षुष मन्वन्तरमें और एकवार सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरमें, सर्व समेत दो वार प्रगट हुए। पहिले तो चाक्षुष मन्वन्तरमें समुद्रमन्थनके समय द्विभुज श्यामसुन्दर रूप धारण करके, अमृतका कमण्डलु हाथमें लिये समुद्रसे निकले और आयुर्वेदका प्रचार किया । वैवस्वत मन्वन्तरमेंभी इसही आकारसे प्रगट होकर काशीराजके पुत्र हुए व आयुर्वेदका प्रचार किया है ॥ **श्रीमोहिनी** ॥ १७ ॥ दैत्य लोगोंको मोहित करनेके लिये और महादेवजीको आनंद उत्पन्न करानेको भगवान् अजित मोहिनी मूर्ति धारण करके दोवार अवतरे थे । छठे मन्वन्तरमें नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि और मोहिनी यह चार अवतार कीर्तित हुए ॥ २३ ॥

श्रीवामनः ॥ १८ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । १९)—

"पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः ।
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ॥" इति ।
वामनस्त्रिरभिव्यक्तिं कल्पेऽस्मिन्प्रतिपेदिवान् ।
तत्रादौ दानवेन्द्रस्य वास्कलेरध्वरं ययौ ॥
ततो वैवस्वतीयेऽस्मिन्धुन्धोर्मखमसौ गतः ।
अदितौ कश्यपाज्जातः[1] सप्तमेऽस्य चतुर्युगे ॥
प्रतिग्रहकृते जातास्त्रय एव त्रिविक्रमाः ॥ २४ ॥

टिप्प०--पञ्चदशमिति । वामनकं—ह्रस्वरूपं, कृत्वा—प्रकटय्य, बलेः अध्वरं—यज्ञम्, अगात् । पदत्रयं याचमानः सन्, त्रिविष्टपं—स्वर्गं तस्मात्, प्रत्यादित्सुः—आच्छिद्य शक्राय दातुमिच्छुः, इति छलितं व्यज्यते ॥ वामनस्य विशेषधर्म्मान् वक्तुं, वामनस्त्रिरित्यादि । अस्मिन्—ब्राह्मे, कल्पे । तत्र--ब्राह्मकल्पे, आदौ—स्वायम्भुवीयान्तरे ॥ अस्मिन्—वैवस्वतीये—वर्त्तमानेन्तरे, धुन्धोः—तन्नाम्नोऽसुरस्य । यदुक्तं वामने—" धुन्धोर्यज्ञे वरारोहे ! भगवान् मधुसूदनः । देहं वामनकं कृत्वा गत्वायाचत्त्रिविष्टपम् ॥" इति । अस्य—वैवस्वतीयस्य, सप्तमे चतुर्युगे कश्यपात् अदित्यां जातः ॥ त्रयोऽपि वामनाः प्रतिग्राहिणोऽभूवन्नित्याह, प्रतिग्रहेति ॥ २४ ॥

---

१ "कश्यपाज्जातः" इत्यत्र "कश्यपाद्व्यक्तिः" इति पाठान्तरम् ।

भा०टी०-श्रीवामन ॥ १८ ॥ उस प्रथममेंही-"भगवान् वामनजी बलिरूपसे प्रगट हो स्वर्गको पुनर्वार ग्रहण करनेके मनसे बलिके निकट तीन पैर भूमि प्रार्थना करके उसके यज्ञमें गये ।" इति । इस ब्राह्मकल्पमें तीनवार श्रीवामनजीका अवतार हुआ । पहिले तो ब्राह्मकल्पके स्वायम्भुव मन्वन्तरके मध्य वास्कलि नामक दैत्यके यज्ञमें और दूसरीवार वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तरमें धुन्धु नामक असुरके यज्ञमें गये । और सबसे पीछे यही वैवस्वत मन्वन्तरके प्रथम चतुर्युगमें कश्यपजीसे अदितिमें उत्पन्न हुए । (बलिके यज्ञमें यही गये थे) इन तीनों वामनमूर्त्तियोंनेही प्रतिग्रहके निमित्त त्रिविक्रमरूपका[1] आविष्कार किया था ॥ २४ ॥

वामन

श्रीभार्गवः ॥ १९ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । २०)-
"अवतारे षोडशमे पश्यन्ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।
त्रिः सप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ॥" इति ।
रेणुकाजमदग्निभ्यां गौरो व्यक्तिमसौ गतः ।
प्राहुः सप्तदशे केचिद्द्वाविंशेऽन्ये चतुर्युगे ॥ २५ ॥

टिप्प०-अवतारे इति । नृपान्, ब्रह्मद्रुहः-विप्रद्विषः, पश्यन् कुपितो भगवान् परशुरामः सन्, त्रिः-त्रिगुणं यथा स्यात् तथा, सप्तकृत्वः-सप्तवारान्, एकविंशतिवारानित्यर्थः, महीं निःक्षत्रामकरोत् ॥ अस्य मातापितरौ जन्मकालश्चाह, रेणुकेति । प्राहुरिति-वैवस्वतीयस्येति शेषः ॥ २५ ॥

भा०टी०-श्रीभार्गवः ॥ १९ ॥ उस प्रथममेंही-"क्षत्रियवर्गको ब्राह्मणविद्वेषी जानकर, भगवान्जीने परशुराम रूपसे अवतार ले क्रोधमें भरकर इक्कीस वार पृथिवीको क्षत्रियशून्य किया था" इति । यह गौरवर्ण हो जमदग्निसे रेणुकामें आविर्भूत हुए । कोई तो वैवस्वत मन्वन्तरकी सत्रहवीं चौयुगीमें, कोई बाईसवीं चौकड़ीमें इनके अवतारका होना कहा करते हैं ॥ २५ ॥

परशुराम

श्रीराघवेन्द्रः ॥ २० ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । २२)-
"नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥" इति ।

1 वामनजीने जिस मूर्त्तिसे त्रिलोकीको आक्रमण कियाथा, उसकाही नाम त्रिविक्रम है ॥ २४ ॥

कौशल्यायां दशरथान्नवदूर्वादलद्युतिः ।
त्रेतायामाविरभवच्चतुर्विंशे चतुर्युगे ।
भरतेन सुमित्राया नन्दनाभ्याञ्च संयुतः ॥
अस्य शास्त्रे त्रयो व्यूहा लक्ष्मणाद्या अमी स्मृताः ।
भरतोऽत्र घनश्यामः सौमित्री कनकप्रभौ ॥
पाद्मे भरतशत्रुघ्नौ शंखचक्रतयोदितौ ।
श्रीलक्ष्मणस्तु तत्रैव शेष इत्यभिशाब्दितः ॥ २६ ॥

टिप्प०--नरेति । नरदेवत्वं-राजेन्द्रत्वं, श्रीरामवपुषा प्राप्तः सन् । अतःपरमष्टादशे अवतारे ॥ अस्य मातापितरौ जन्मकालं पार्षदांश्चाह, कौशल्यायामिति । चतुर्विंशे चतुर्युगे इति-वैवस्वतीयस्येति बोध्यम् ॥ शास्त्रे इति-स्कान्दे श्रीरामगीतायामित्यर्थः । तत्र श्रीरामस्य वासुदेवत्वेन निर्णीतत्वात्, लक्ष्मणाद्यास्त्रयः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाः क्रमाद् बोध्याः ॥ पाद्मे इति-पाद्मे रामो नारायण उक्तः, भरतादयस्तु शंखाद्य इत्यर्थः ॥ २६ ॥

भा०टी०-श्रीरामचंद्र ॥ २० ॥ इस प्रथममें ही-" भगवान्जीने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये, रामरूपसे नरदेवत्वको प्रगट कर समुद्रवन्धनादिरूप असाधारण प्रभाव दिखाये थे।" इति। श्रीरामचंद्रजी, नवदूर्वादलकान्ति धारण करके भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके साथ, वैवस्वतमन्वन्तरीय चौवीसवें चतुर्युगके त्रेतामें दशरथजीसे कौशल्यामें प्रगट हुए थे ॥ स्कन्दपुराणके मध्य रामगीतामें कहा है। लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न श्रीरामचंद्रजीके यह तीन व्यूह हुए । तिनमें भरतजी, नवमेघकी समान श्यामसुन्दर और लक्ष्मण व शत्रुघ्न सुवर्णकी समान गौरवर्ण हुए॥ पद्मपुराणमें भरत और शत्रुघ्नको 'शंख, चक्र' और लक्ष्मणजीको 'शेष' का अवतार कहकर कीर्तन कियाहै ॥ २६ ॥

(श्रीरामचंद्र ।)

श्रीव्यासः ॥ २१ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । २१)-
"ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥" इति ।

---

१ श्रीराम आदिव्यूह वासुदेव । लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, यह सब क्रमानुसार संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं ॥ २६ ॥

२ पद्मपुराणमेंभी श्रीरामचंद्रजीको नारायण कहाहै ॥ २६ ॥

'द्वैपायनोऽस्मि व्यासानाम्' इति शौरिर्यदूचिवान् ।
अतो विष्णुपुराणादौ विशेषेणैव वर्णितः ॥

यथा (वि० पु० ३ । ४ । ५; म० भा० शा० प० ३४६ । ११)—

"कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं स्वयम् ।
को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् ॥" इति ।
श्रूयतेऽपान्तरतमा द्वैपायन्यमगादिति ।
किं सायुज्यं गतः सोऽत्र विष्ण्वंशः सोऽपि वा भवेत् ।
तस्मादावेश एवायमिति केचिद्वदन्ति च ॥ २७ ॥

टिप्प०—तत इति । पराशरात् सत्यवत्यां जातः स देवो वेदतरोः शाखाश्चक्रे; पुंसः—द्विजान्, अल्पमेधसः—मन्दप्रज्ञान्, दृष्ट्वा ॥ स्वमतं तत्स्वरूपमाह, द्वैपायनोऽस्मीति, शौरिः—कृष्णः, ऊचिवान् एकादशे (भा० ११ । १६ । २९) । विशेषेण—साक्षादीश्वरत्वेन ॥ श्रूयते नारायणीये । अपगतम् आन्तरतमो यस्यास कश्चित् तपस्वी विप्रः । अत्र—साक्षादीश्वरे द्वैपायने । सोऽपि—अपान्तरतमाः । तस्मादिति । सनकादिवत् आवेशोऽयमिति केचिदाहुः ॥ २७ ॥

भा० टी०—श्रीव्यास ॥ २१ ॥ उस प्रथममेंही—"मनुष्योंको मन्दबुद्धि जानकर भगवानजीने, पराशरजीसे, सत्यवतीमें व्यासरूपसे अवतार ले, वेदरूप कल्पतरुका शाखाविभाग किया है ॥" इति ॥ श्रीकृष्णजीनें एकादशमें कहा है कि "व्यासके मध्य मैं द्वैपायन हूं" अत एव विष्णुपुराणादिमें साक्षात् ईश्वर कहकरही व्यासजीका वर्णन किया है यथा—"कृष्णद्वैपायन व्यासजीको साक्षात् नारायणजीने पुण्डरीकाक्षके शिवाय और ऐसा कौन है, जो महाभारतकी रचना करनेमें समर्थ हो ॥" इति ॥ नारायणोपाख्यानमें श्रवण किया जाता है कि, अपान्तरतमा नामक कोई तपस्वी ब्राह्मण द्वैपायन हुए । ऐसा जान पड़ता है कि अपान्तरतमानें द्वैपायनमें सायुज्यलाभ किया, अथवा वही विष्णुजीके अंश होसकते हैं । इसही कारणसे कोई २ महात्मा द्वैपायनको आवेश अवतार कहकर निर्देश करते हैं ॥ २७ ॥

(हाशिया: व्यास)

अथ श्रीरामकृष्णौ ॥ श्रीप्रथमे (भा० १ । ३ । २३)—

"एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥" इति ।

तत्र श्रीरामः ॥ २२ ॥

एष मातृद्वये व्यक्तो जनकाद्वसुदेवतः ।
यो नव्यघनसाराभो घनश्यामाम्बरः सदा ॥
संकर्षणो द्वितीयो यो व्यूहो रामः स एव हि ।
पृथ्वीधरेण शेषेण संभूय व्यक्तिमीयिवान् ॥
शेषो द्विधा महीधारी शय्यारूपश्च शार्ङ्गिणः ।
तत्र संकर्षणावेशाद्भूभृत्संकर्षणो मतः ॥
शय्यारूपस्तथा तस्य सख्यदास्याभिमानवान् ॥

श्रीकृष्णः ॥ २३ ॥

एष मातरि देवक्यां पितुरानकदुन्दुभेः ।
प्रादुर्भूतो घनश्यामो द्विभुजोऽपि चतुर्भुजः ॥ २८ ॥

टिप्प०—एकोनेति । भगवानिति—स्वयं भगवत एव गोकुलादिधाम्नोऽयमवतारः, न तु प्रद्युम्नस्येत्यर्थः । एतेन बलदेवस्यापि प्रद्युम्नावतारत्वं निरस्तं, श्रीकृष्णव्यूहस्य तदंशत्वासम्भवादिति व्यक्तीभावि ॥ अथ विविच्य तौ दर्शयति, तत्र श्रीराम इत्यादिना ॥ मातृद्वये इति—आदौ देवक्यां गर्भे अभूत्, ततो रोहिणीगर्भे योगमायया नीत इति द्वैमातुरो राम इत्यर्थः । घनसारः—कर्पूरः, तदाभः ॥ ननु संकर्षणः शेषः कथ्यते ? तत्राह, पृथ्वीधरेणेति—भूधारी शेषस्तं प्रविष्टः, अतस्तथोच्यते इत्यर्थः ॥ शेषो द्विधेत्याह, शेषो द्विधेति—आद्यो जीवकोटिः, अन्त्यस्त्वीश्वरकोटिरित्यर्थः ॥ एष इति-स्फुटम् । यद्यप्ययं यशोदायाश्च जातः, तथैव प्रमाणसद्भावात्, तथापि रहस्यत्वात् शास्त्रकृता न स्फुटीकृत इत्युपरि निवेदयिष्यामः ॥ २८ ॥

भा०टी०—अथ बलराम और श्रीकृष्ण ॥ २२ ॥ २३ ॥ श्रीमथ-

बलराम और श्रीकृष्ण ।

मथ—"भगवान् राम और कृष्ण, इन दोनों मूर्त्तियोंने वृष्णिवंशमें अवतार लेकर पृथ्वीका भार उतारा था।" इति । तिनमें श्रीबलराम ॥ २२ ॥ यह बलरामजी पिता वसुदेवजीसे दो माताओंमें अर्थात् देवकी और रोहिणीमें आविर्भूत हुए।

१ श्रीबलरामजी प्रथम तो देवकी के गर्भमें वास करतेहुए फिर श्रीकृष्णजीकी आज्ञासे योगमायाने इनको रोहिणीके गर्भमें संचारित कियाथा ॥ २८ ॥

इनके अंगकी कान्ति नवीन कपूरके समान, और वसन नीलवर्ण हुए ॥ जो गोलोकमें संकर्षण नामक दूसरे व्यूह हैं वेही भूमिधारी 'शेषजी' के साथ मिलकर रामरूपसे अवतरे हैं ॥ शेषजी दो प्रकारके हैं एक पृथ्वीको धारण करते हैं, दूसरे भगवानके शय्यारूप हैं । इनमें पृथ्वीको धारण करनेवाले 'शेषजी' सङ्कर्षणजीके आवेश हैं, इसही हेतुसे उनको सङ्कर्षण कहा करते हैं । जो शय्यारूप हैं, वे अपनेको दास और सखा कहकर अभिमान करते हैं ॥ श्रीकृष्णजी ॥ २३ ॥ पिता वसुदेवजीसे माता देवकीमें श्रीकृष्णजी प्रगट हुए । यह नवीन मेघके समान श्यामशरीर हैं, और दो भुजावाले होकर भी कभी कभी चतुर्भुज हुआ करते हैं ॥ २८ ॥

श्रीबुद्धः ॥ २४ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । २४)–
"ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाजिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥ २९ ॥" इति ।

टिप्प०--तत इति–अजिनस्य सुतः, नाम्ना बुद्धः । कीकटेषु–धर्म्मारण्याख्येषु गयाप्रदेशेषु ॥ २९ ॥

भा०टी०–श्रीबुद्ध ॥ २४ ॥ उस प्रथममेंही–"कलियुगकी प्रवृत्ति होनेपर असुरगणोंको मोहित करनेके लिये, भगवान्जी गयाप्रान्तके धर्मारण्य नाम ग्राममें, बुद्धनाम धारण करके अजिनके पुत्र होकर अवतार लेंगे" ॥ २९ ॥ इति ।

बुद्ध

असौ व्यक्तः कलेरब्दसहस्रद्वितये गते ।
मूर्तिः पाटलवर्णास्य द्विभुजा चिकुरोज्झिता[1] ॥
यदा सूतः कथामाह तदा बुद्धस्य भाविता ।
अधुना वृत्त एवायं धर्मारण्ये यदुद्गतः ॥ ३० ॥

टिप्प०–बुद्धस्याविर्भावकालं रूपञ्चाह, असाविति–विस्पष्टार्थम् ॥ धर्म्मारण्ये ग्रामे ॥ ३० ॥

भा०टी०–कलियुगके दो हजार वर्ष व्यतीत होनेपर बुद्धजीका अवतार हुआ । इस अवतारकी मूर्ति पाटल (श्वेतरक्त) वर्ण, दो भुजावाली और शिखावर्जित हुई । जिस समयमें सूतजीने नैमिषारण्यमें भागवतकी कथा कही, उस समयमें बुद्धजीका अवतार नहीं हुआ था । सम्प्रति धर्मारण्यग्राममें उनका अवतार होगया है ॥ ३० ॥

---

१ "चिकुरोज्झिता" इत्यत्र "शिखरोज्झिता" इति पाठान्तरम् ।

श्रीकल्की ॥ २६ ॥ तत्रैव (भा० १ । ३ । २५)–

"अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥" इति ।
पूर्वं मनुर्दशरथो वसुदेवोऽप्ययसावभूत् ।
भावी विष्णुयशाश्चायमिति पाद्मे प्रकीर्तितम् ॥
ऐश्वर्यं कल्किनस्तस्य ब्रह्माण्डे सुष्ठु वर्णितम् ।
केश्चित्कलौ कलौ बुद्धः स्यात्कल्की चेत्युदीर्यते ॥
अष्टौ वैवस्वतीयेऽमी कथिता वामनादयः ॥ ३१ ॥

टिप्प०–अथेति । असौ–देवो हरिः, विष्णुयशसः–तन्नाम्नो विप्रात् जनिता–भविष्यति ॥ कोऽयं विष्णुयशाः ? इत्याकांक्षायामाह, पूर्वं मनुरिति । असौ वसुदेवः पूर्वं मनुः दशरथश्च अभूत्, परत्र, अयमपि–वसुदेवोऽपि, विष्णुयशा भावीत्यन्वयः, स्वयंभगवत्पितृत्वादिति तदभिप्रायः ॥ केश्चिदिति–बुद्धकल्किनौ प्रतिकलौ स्यातामिति केश्चिन्मतम्, अन्यैस्त्वष्टाविंशचतुर्युगीयकलावेवेति भावः । अष्टाविति–वामनाद्योऽष्टौ कल्क्यन्ता वैवस्वतीये स्युः ॥ ३१ ॥

भा०टी०–श्रीकल्कि ॥ २५ ॥ उस प्रथममेंही–"कलियुगके अंतसमयमें जिस समयमें राजा लोगोंका स्वभाव चोरकी समान हो जायगा, उस कालमें जगन्नाथ श्रीनारायणजी, विष्णुयशानामक ब्राह्मणसे, कल्किनाम धारण करके उत्पन्न होंगे" पद्मपुराणमें ऐसाही कहा है ॥ ब्रह्माण्डपुराणमें इन कल्किजीके ऐश्वर्यका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक लिखा है । कोई २ महात्मा प्रतिकलियुगमें बुद्ध और कल्किजीके अवतारका होना कहते हैं ॥ वैवस्वतमन्वन्तरमें वामनजीसे लेकर कल्किजीतक यह आठ अवतार कहेगये ॥ ३१ ॥

श्रीकल्कि

कल्पावतारा इत्येते कथिताः पंचविंशतिः ।
प्रतिकल्पं यतः प्रायः सकृत्प्रादुर्भवन्त्यमी ॥ ३२ ॥

इति लीलावतारनिरूपणम् ।

१ किसीके मतसे केवल वैवस्वत मन्वन्तरकी अट्टाईसवीं चौकड़ीके कलियुगमें बुद्ध और कल्किजीका अवतार हुआ करताहै ॥ ३१–३२ ॥

टिप्प०—कल्पावतारा इति । सर्वेषु ब्राह्मादिकल्पेषु, यदेते, सकृत्—एकवारं, भवन्तः कल्पावताराः पंचविंशतिरेते कथिताः । प्राय इति—वराहो द्विराविः स्यात्, मत्स्यस्तु चतुर्दशकृत्व इति भावः । ब्रह्मणो मासस्य त्रिंशद् वासरास्ते त्रिंशत् कल्पाः स्कान्दे प्रभासखण्डे उक्ताः—"प्रथमः श्वेतकल्पस्तु द्वितीयो नीललोहितः । वामदेवस्तृतीयस्तु ततो गाथान्तरोऽपरः ॥ रौरवः पंचमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः। सप्तमोऽथ बृहत्कल्पः कन्दर्पोऽष्टम उच्यते ॥ सद्योथ नवमः प्रोक्त[1] ईशानो दशमः स्मृतः। ध्यान एकादशः प्रोक्तस्तथा सारस्वतोऽपरः ॥ त्रयोदश उदानस्तु गरुडोऽथ चतुर्दशः । कौर्म्मः पंचदशोज्ञेयः पौर्णमासी प्रजापतेः ॥ षोडशो नारसिंहस्तु समाधिस्तु ततोऽपरः । आग्नेयो विष्णुजः[2] सारः सोमकल्पस्ततोऽपरः ॥ द्वाविंशो भावनः प्रोक्तः सुपु[3]मानिति चापरः । वैकुण्ठश्चार्षिषस्तद्वद्वल्मीकल्पस्ततोऽपरः[4] ॥ सप्तविंशोऽथ वैराजो गौरीकल्पस्तथापरः । माहेश्वरस्तथा प्रोक्तस्त्रिपुरो यत्र घातितः ॥ पितृकल्पस्तथान्ते च यः कुहूर्ब्रह्मणः स्मृतः । त्रिंशत् कल्पाः समाख्याता ब्रह्मणो दिवसाः सदा ॥ अतीताश्च भविष्याश्च वाराहो वर्त्ततेऽधुना । प्रतिपत् ब्रह्मणः प्रोक्ता द्वितीयार्द्धस्य साम्प्रतम् ॥" इति । इह श्वेतः—श्वेतवाराहः, अयमेव ब्रह्मोत्पत्तिसमयत्वाद्ब्राह्मः;एवं पितृकल्प एव प्रथमपरार्द्धावसाने पद्मनिर्म्मितलोकत्वात् पाद्मःकथ्यते । एकस्य कल्पस्य मन्वन्तराणि चतुर्दश भवन्ति,एकस्य मन्वन्तरस्य एकसप्ततिश्चतुर्युगाणि,चतुर्दशमन्वन्तरात्मकस्य तु सहस्रं चतुर्युगाणीति ३२॥

इति लीलावतारा निरूपिताः ।

भा०टी०--प्रायः यह समस्त अवतार प्रत्येक कल्पमें हुआ करते हैं । इस ही कारणसे यह पच्चीस अवतार 'कल्पावतार' कहेजाते हैं । (ब्रह्माजीके एकदिन का नाम 'कल्प' है ।) ॥ ३२ ॥

इति लीलावतारनिरूपण ।

---

१ "सद्योऽथ नवमः प्रोक्तः" इत्यत्र "सद्योऽथ नवमः कल्पः" इति पाठान्तरम् ।

२ "विष्णुजः सौरः सोमकल्प" इत्यत्र "विष्णुजो वंशः सोमवंश" इति पाठान्तरम् ।

३ "सुपुमानिति" इत्यत्र "सुप्तमानिति" इति, "सुप्तमालीति" इति च पाठान्तरम् ।

४ "वल्मीकल्पस्ततोऽपरः" इत्यत्र "वल्लीकल्पो रथान्तरः" इति पाठान्तरम् ।

अथ मन्वन्तरावताराः ।–

मन्वन्तरावतारोऽसौ प्रायः शक्रारिहत्यया ।
तत्सहायो मुकुन्दस्य प्रादुर्भावः सुरेषु यः ॥
युक्ते कल्पावतारत्वे यज्ञादीनामपि स्फुटम् ।
मन्वन्तरावतारत्वं तत्तत्पर्यन्तपालनात् ॥
मन्वन्तरेष्वमी स्वायम्भुवीयादिष्वनुक्रमात् ।
अवतारास्तु यज्ञाद्या बृहद्भान्वन्तिमा मताः ॥
यज्ञस्तु पूर्वमेवोक्तस्तेनात्र न विलिख्यते ॥ १ ॥

टिप्प०–मन्वन्तरावताराम् निर्णेतुमाह, अथेति । मनोः, अन्तरं–समयः, तत्र योऽवतारः, स मन्वन्तरावतारः । "वस्तुमध्ये तथा छिद्रे व्यवसायेऽन्तरात्मनि । अवकाशे बहिर्योगे विशेषेऽवसरेऽन्तरम् ॥" इति हलायुधः ॥ तल्लक्षणमाह, मन्वन्तरेति । तत्तन्मन्वन्तरीयतत्तदिन्द्रशत्रुहननेन तत्तदिन्द्रसाहाय्यकरभगवदवतारत्वम् ॥ ननु मन्वन्तराणां कल्पानतिरेकात् एषां कल्पावतारता वाच्या ? तत्राह, युक्ते इति । तथापि मन्वन्तरपर्यन्तपालनात् तत्त्वमुच्यते इत्यर्थः । क्रमेण तानाह । यज्ञः–स्वायम्भुवीयान्तरावतारः, स तु लीलावतारे प्रोक्तत्वादिह नोच्यते ॥ १ ॥

भा०टी-इसके उपरान्त । मन्वन्तर तत्तन्मन्वन्तरीय इन्द्रशत्रुविनाशद्वारा देवताओंके मध्यमें भगवान् मुकुन्दजीका जो इन्द्रके सहायतामें आविर्भाव है, वही 'मन्वन्तरावतार' है ॥ यज्ञादि अवतारोंका कल्पावतारोंमें निवेश होना उचित होनेपर भी प्रत्येक मन्वन्तरके कालतक पालन करनेसे उनको मन्वन्तरावतार भी कहा जाताहै ॥ स्वायम्भुवीय आदि चौदह मन्वन्तरमें यथाक्रमसे 'यज्ञ' से 'बृहद्भानु' तक चौदह अवतार निर्दिष्ट हुए हैं ॥ यज्ञकी कथा पहिले ही लीलावतारमें निर्दिष्ट हुई है, इसीसे उनका विषय यहांपर फिर नहीं लिखागया ॥ १ ॥

मन्वन्तरावतार कल्पावतार होनेपर भी यज्ञादि मन्वन्तरावतार किस प्रकारसे १ यज्ञ ।

द्वितीये स्वारोचिषीये विभुः । यथा अष्टमस्कन्धे (भा०८।१। २१–२२)–

"ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत् ।

---

१ इस श्लोकमें मन्वन्तरावतारके लक्षण निरूपित हुएहैं ॥ १ ॥

तस्यां जातस्ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः ।
अन्वशिक्षन्व्रतं तस्य कौमारब्रह्मचारिणः ॥ २ ॥"

टिप्प०–स्वरोचिषोऽग्नेः पुत्रः स्वारोचिषः, स एव मनुः, तदीयेऽन्तरे विभुः–अवतारः । अवतारस्य परिकरास्त्वष्टमे बोध्याः । एवं सर्वत्र ॥ ऋषेरिति । वेदशिरसः–पितुः सकाशात्, तुषितायां–मातरि, जातो विभुनामा ॥ २ ॥

भा०टी०–दूसरे स्वारोचिषीय मन्वन्तरमें विभु ॥ २ ॥ यथा अष्टमस्कन्धमें–"वेद-शिरानामक पितासे तुषितानामक जननीमें आविर्भूत होकर भगवान् 'विभु' नामसे विख्यात हुए थे अट्ठासी हजार मुनिगणोंने, नियम धारण करके उन कौमार ब्रह्मचारी भगवान् विभुके निकट ब्रह्मचर्य व्रतको सीखा था ॥ २ ॥

२ विभु ।

तृतीये उत्तमीये सत्यसेनः । (भा० ८ । १ । २५–२६)–

"धर्म्मस्य सूनृतायान्तु भगवान् पुरुषोत्तमः ।
सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह ॥
सोऽनृतव्रतदुःशीलान् असतो यक्षराक्षसान् ।
भूतद्रुहो भूतगणानवधीत् सत्यजित्सखः ॥ ३ ॥"

टिप्प०–तृतीये इति । उत्तमः–प्रियव्रतसुतो मनुः, तदीयेऽन्तरे इत्यर्थः ॥ धर्म्मस्येति–धर्म्मनाम्नः पितुः सकाशात्, सूनृतायां–मातरि, सत्यव्रतैः–भ्रातृभिः सह, जातो भगवान् सत्यसेननामा ॥ भूतद्रुहः–प्राणिपीडकान् । सत्यजितः–इन्द्रस्य, सखा सन् ॥ ३ ॥

भा०टी०–तीसरे औत्तमीय मन्वन्तरमें सत्यसेन॥३॥ "भगवान् पुरुषोत्तमजी धर्मसे सूनृतामें सत्यव्रत नामक भ्राताओंके साथ उत्पन्न होकर 'सत्यसेन' नामसे विख्यात हुए थे ॥ उन्होंने इन्द्रके सखा होकर मिथ्यापरायण दुःशील और अंकुशरहित यक्ष राक्षस और प्राणिपीड़क भूतगणोंका नाश किया था" ॥ ३ ॥

३ सत्यसेन

---

१ अन्यान्य लीलावतार कल्प २ में उत्पन्न हो अपना २ प्रयोजन साधन करनेके पीछे अपने लोकमें चले जातेहैं । मन्वन्तरावतार अपने २ मन्वन्तरके अन्तमें स्वलोकमें चले जाते हैं ॥ २ ॥

चतुर्थे तामसीये हरिः । (भा० ८ । १ । ३०)-

"तत्रापि जज्ञे भगवान्हरिण्यां हरिमेधसः ।
हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् ॥" इति ।
स्मर्य्यतेऽसौ सदा प्रातः सदाचारपरायणैः ।
सर्वानिष्टविनाशाय हरिर्दन्तीन्द्रमोचनः ॥ ४ ॥

टिप्प०—उत्तमभ्राता तामसः, तदीयान्तरे ॥ तत्रापीति । हरिमेधसः—पितुः सकाशात्, हरिण्यां—मातरि, जातो भगवान् हरिनामा ॥ ४ ॥

भा–टी०—चौथे तामसीय मन्वन्तरमें श्रीहरि ॥ ४ ॥ "उस तामस मन्वन्तरमें श्रीभगवान्जी, हरिमेधानामक पितासे हरिणीनामक मातामें आविर्भूत होकर 'हरि' नामसे विख्यात हुए । इन्होंने ग्राहके मुखसे गजेन्द्रका उद्धार किया ।" इति । सदाचारपरायण साधुगण सर्व मकारके अनिष्टोंका नाश करनेके लिये मतिदिन मातःकालके समय इन गजेन्द्रविमोचक हरिका स्मरण किया करते हैं ॥४॥

४ हरि ।

पञ्चमे रैवतीये वैकुण्ठः । (भा० ८ । ५ । ४–५)-

"पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः ।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान्स्वयम् ॥
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः ।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया ॥" इति ।
महावैकुण्ठलोकस्य व्यापकस्याव्ययात्मनः ।
प्रकटीकरणं सत्योपरि कल्पनमुच्यते ॥ ५ ॥

टिप्प०—रैवतः–तामससोदरः, तदीये इत्यर्थः ॥ पत्नीति । शुभ्रात्–पितुः, विकुण्ठायां–मातरि, वैकुण्ठैः–भ्रातृभिः सह, जातो भगवान् वैकुण्ठनामा ॥ वैकुण्ठो येन कल्पित इत्यर्थः ॥ तद्व्याचष्टे, महावैकुण्ठेति। कल्पितः–कृप् सामर्थ्य धातुरित्यर्थात् स्वसामर्थ्येन सत्यलोकोपरि प्रकाशित इत्यर्थः ॥ ५ ॥

भा०टी०—पंचम रैवतीय मन्वन्तरमें वकुण्ठ ॥ ५ ॥ "शुभ्रनामक पितासे विकुण्ठानामक मातामें वकुण्ठनामक देवताओंके साथ आविर्भूत होकर वैकुण्ठनाम स्वयंभी 'वैकुण्ठ' नामसे पुकारे गये थे इन वैकुण्ठजीने रमादेवीकी

५ वैकुण्ठ

प्रार्थना करनेपर उनकी प्रसन्नताके लिये लोकनमस्कृत वैकुण्ठलोककी कल्पना की थी।" इति। अपनी सामर्थ्यसे सर्वव्यापक और अव्ययात्मा अर्थात् नित्य महावैकुण्ठलोकके, सत्यलोकके, ऊपरभागमें प्रकाश करनेको यहांपर 'कल्पना' कहागया है ॥ ५ ॥

षष्ठे चाक्षुषीये अजितः। (भा० ८।५।९–१०)–
"तत्रापि देवः सम्भूत्यां वैराजस्याभवत्सुतः।
अजितानाम भगवानंशेन जगतीपतिः॥
पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्म्मरूपेण मन्दरः॥ ६॥" इति।

टिप्प०–चक्षुषः पुत्रः चाक्षुषः–मनुः, तदीये इत्यर्थः॥ तत्रापि देव इति। वैराजात्–पितुः, सम्भूत्यां–मातरि, जातो भगवान् अजितनामा॥ ६॥

भा०टी०–छठे चाक्षुषीय मन्वन्तरमें अजित॥ ६॥ "उस चाक्षुष मन्वन्तरमें भी भगवान् जगदीश्वरने वैराजनामक पितासे सम्भूतिनामक जननीमें अंशरूपसे आविर्भूत हो 'अजित' नामसे विख्यात हुए थे यही भगवान् अजित समुद्रको मन्थन करके देवताओंके लिये अमृत लाये, और कूर्मरूपसे जलमें प्रवेशकरके घूमते हुए मन्दराचलको इन्होंने ही पीठपर धारण किया था।" ॥ ६ ॥ इति।

६ अजित

वैवस्वतान्तरे व्यक्तः पुरैवोक्तः सवामनः॥ ७॥

टिप्प०–वैवस्वतीयान्तरावतारो वामनः, स तु पूर्वमुक्तः, इति नात्रोच्यते। विवस्वतः सूर्य्यस्य पुत्रो वैवस्वतः–श्राद्धदेवो मनुः, तदीयेऽन्तरे वामन इत्यर्थः॥ ७॥

भा०टी०–वैवस्वत मन्वन्तरावतार 'वामन देव' पहिले लीलावतारप्रकरणमें परिकीर्तित हुए हैं। इस समय सावर्णिआदि मन्वन्तरोंके होनेवाले सात अवतारोंका वृत्तान्त कहा जाता है॥ ७॥

७ वामन।

---

१ इस स्थानमें साधारण युगावतारकी कथा कहीगई। किंतु युगविशेषमें इसका व्यतिक्रम होजाताहै। प्रत्येक युगका मन्वन्तरावतार युगावताररूपसे प्रगट होकर युगधर्मका प्रचार करताहै। परन्तु जिस द्वापरमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजी अवतरे तिससमय जैसे उस युगावतारमें श्रीकृष्णजी प्रविष्ट हुए, तैसेही जिस कलिमें स्वर्णकान्ति श्रीकृष्णचैतन्यदेवका अवतार हुआ, तिसकालमें उस युगका कृष्णवर्ण अवतार उसमेंही प्रवेशकर जाताहै। जिस वैवस्वतमन्वन्तरकी अट्ठाईसवीं चौकड़ीके द्वापरयुगमें कृष्णावतार हुआ, उस द्वापरके संनिकृष्ट कलियुगके पारंभमें चैतन्यदेवका अवतार हुआकरताहै। अतएव कलियुगके प्रायिक युगावतारकी कथाही कीर्तन की॥ ६–१५॥

भविष्याः सप्त कथ्यन्ते ते सावर्ण्यन्तरादिषु ॥

अष्टमे सावर्णीय सार्वभौमः । (भा० ८ । १३ । १७)-

"देवगुह्यात्सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः ।
स्थानं पुरन्दराद्धृत्वा बलये दास्यतीश्वरः ॥ ८ ॥"

टिप्प०—सूर्य्याच्छायायां जातः सावर्णिः-मनुः, तदीये इत्यर्थः ॥ देवेति । देवगुह्यात्-पितुः, सरस्वत्यां-मातरि, जातो भगवान् सार्वभौमनामा ॥ ८ ॥

भा०टी०—अष्टम सावर्णीय मन्वन्तरमें सार्वभौम ॥ ८ ॥ "श्रीहरिजी, देवगुह्यनामक पितासे सरस्वतीनाम्नी मातामें 'सार्वभौम' नामसे उत्पन्न होंगे और पुरन्दरनामक इन्द्रसे स्वर्गका राज्य लेकर राजा बलिको अर्पण करेंगे ।" ॥ ८ ॥

८ सार्वभौम ।

नवमे दक्षसावर्णीये ऋषभः । (भा० ८ । १३ । २०)-

"आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवान्किल ।
भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः ॥ ९ ॥"

टिप्प०—दक्षसावर्णिः-वरुणपुत्रो मनुः, तदीये इत्यर्थः ॥ आयुष्मतः-पितुः सकाशात्, अम्बुधारायां-मातरि, जातो भगवान् ऋषभनामा । येन संराद्धाम्-अर्ज्जितां, त्रिलोकीम्, अद्भुतः-इन्द्रः, भोक्ष्यते ॥ ९ ॥

भा०टी०—नवम दक्षसावर्णीय मन्वन्तरमें ऋषभजी ॥ ९ ॥ "आयुष्मान्नामक पितासे अम्बुधारा नामवाली मातामें प्रगट हो, भगवान् 'ऋषभ' नामसे पुकारे जायँगे । इनकी प्राप्त कीहुई त्रिलोकीको अद्भुतनामक इन्द्र भोग करेगा" ॥ ९ ॥

९ ऋषभ ।

दशमे ब्रह्मसावर्णीये विष्वक्सेनः (भा० ८ । १३ । २३)-

"विष्वक्सेनो विषूच्यान्तु शम्भोः सख्यं करिष्यति ।
जातः स्वांशेन भगवान्गृहे विश्वजितो विभुः ॥ १० ॥"

टिप्प०—उपश्लोकपुत्रः ब्रह्मसावर्णिः-मनुः, तदीये इत्यर्थः ॥ विष्वगिति । विश्वजितः-पितुः, विषूच्यां-मातरि, जातो भगवान् विष्वक्सेननामा, शम्भुनाम्नः इन्द्रस्य सख्यं करिष्यति ॥ १० ॥

भा०टी०—दशम ब्रह्मसावर्णीय मन्वन्तरमें विष्वक्सेन ॥ १० ॥ "भगवान् विश्वजित्नामक पितासे विषूची नामवाली मातामें अपने अंशसे अवतार लेकर 'विष्वक्सेन' कहलाये जांयगे शम्भुनामक इन्द्रके साथ इनकी मख्यता होगी ।" ॥ १० ॥

१० विष्वक्सेन

एकादशे धर्म्मसावर्णीये धर्म्मसेतुः । (भा० ८ । १३ । २६)—

"आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्म्मसेतुरिति स्मृतः ।
वैधृतायां हरेरंशस्त्रिलोकीं धारयिष्यति ॥ ११ ॥"

टिप्प०—धर्म्मसावर्णिः—मनुः, तदीये इत्यर्थः ॥ आर्यकेति । आर्यकात्—पितुः, वैधृतायां—मातरि, जातो भगवान् धर्म्मसेतुनामा, त्रिलोकीं धारयिष्यति ॥ ११ ॥

भा०टी०—एकादश धर्मसावर्णीय मन्वन्तरमें धर्मसेतु ॥ ११ ॥ "श्रीहरिजी, आर्यकनामक पितासे वैधृता नामवाली मातामें अंशरूपसे अवतार ले 'धर्मसेतु' नाम पाय त्रिलोकीका पालन करेंगे ।" ॥ ११ ॥

११ धर्मसेतु ।

द्वादशे रुद्रसावर्णीये सुधामा । (भा० ८ । १३ । २९)—

"सुधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः ।
अन्तरं सत्यसहसः सूनृतायाः सुतो विभुः ॥ १२ ॥"

टिप्प०—रुद्रसावर्णिः—मनुः, तदीये इत्यर्थः ॥ सुधामेति । सत्यसहसः—पितुः, सूनृतायाश्च—मातुः, सुतः सन्, सुधामाख्यो भगवान् तस्य मनोरन्तरं साधयिष्यति ॥ १२ ॥

भा०टी०—द्वादश रुद्रसावर्णीय मन्वन्तरमें सुधामा ॥ १२ ॥ "नारायणजी, सत्यसहानामक पितासे सूनृता नामक मातामें अंशरूपसे अवतार ले 'सुधामा' नामसे विख्यात हो रुद्रसावर्णिमन्वन्तरका पालन करेंगे ।" ॥ १२ ॥

१२ सुधामा ।

त्रयोदशे देवसावर्णीये योगेश्वरः । (भा० ८ । १३ । ३२)—

"देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः ।
योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां सम्भविष्यति ॥ १३ ॥"

टिप्प०—देवसावर्णिः—मनुः, तदीये इत्यर्थः ॥ देवेति । देवहोत्रात्—पितुः, बृहत्यां—मातरि, जातो भगवान् योगेश्वरनामा, दिवस्पतेः—इन्द्रस्य, उपहर्त्ता—कार्य्यसाधकः, भविष्यति ॥ १३ ॥

भा०टी०--त्रयोदश देवसावर्णीय मन्वन्तरमें योगेश्वर ॥ १३ ॥ "नारायणजी, देवहोत्रनामक पितासे, बृहतीनामक मातामें अंशरूपसे अवतार ले. 'योगेश्वर' नामसे विख्यात हो देवराजका कार्यसाधन करेंगे" ॥ १३ ॥

१३ योगेश्वर ।

चतुर्दश इन्द्रसावर्णीये बृहद्भानुः । (भा० ८ । १३ । ३५)–

"सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तथा हरिः ।
विनतायां महाराज ! क्रियातन्तून्विभाविता ॥ १४ ॥" इति ।

टिप्प०—इन्द्रसावर्णिः—मनुः तदीये इत्यर्थः॥सत्रेति। सत्रायणात्–पितुः, विनतायां–मातरि, जातो हरिर्बृहद्भानुनामा, क्रियातन्तून्–कर्म्मसन्ततीः, विस्तारयिष्यति ॥ १४ ॥

भा०टी०--चतुर्दश इन्द्रसावर्णीय मन्वन्तरमें बृहद्भानु ॥ १४ ॥ "हे महाराज ! श्रीनारायणजी, सत्रायणनामक पितासे विनतानामक मातामें उत्पन्न हो कर्मसन्ततिका विस्तार करेंगे" ॥ १४ ॥ इति ।

१४ बृहद्भानु ।

यज्ञवामनयोस्तत्र पुनरुक्ततया द्वयोः ।
मन्वन्तरावतारास्तु संख्यायां द्वादशोदिताः ॥ १५ ॥

इति मन्वन्तरावताराः ।

टिप्प०—यज्ञेति। पूर्वसंख्यायां द्वादशैव मिश्रणीया इति भावः १५॥

एतेन मन्वन्तरावतारा निरूपिताः ।

भा०टी०--कल्पावतारप्रकरणमें यज्ञ और वामनजीका विषय लिखा गया है यहांपर फिर दोनोंकी गिनती करनेसे पुनरुक्ति होती है; अत एव मन्वन्तरावतार की संख्या १२ होती है ॥ १५ ॥

मन्वन्तरावतारकी संख्या १४–(१ यज्ञ १ वामन)–१२

इति मन्वन्तरावतार ।

अथ युगावताराः ।–

कथ्यते वर्णनामभ्यां शुक्लः सत्ययुगे हरिः ।
रक्तः श्यामः क्रमात्कृष्णस्त्रेतायां द्वापरे कलौ ॥
उपासनाविशेषार्थं सत्यादिषु युगेष्वसौ ।
मन्वन्तरावतारस्तु तथावतरति क्रमात् ॥ १६ ॥

टिप्प०—युगावतारान् वक्तुम्, अथेति ॥ वर्णनामभ्याम् इति चतुर्ज्यम् । कलौ कृष्ण इति सामान्यतः सर्वेषु कलिषु; "कृष्णः कयुगे विभुः" इति श्रीहरिवंशात् । यस्मिन् कलौ स्वर्णगौरः कृष्णचैतन्यः स्यात्, तदा कृष्णः स तत्रान्तर्भवेदिति बोध्यम् । एते चैकादशे (भा० ११।५।२०–३२) करभाजनेनोक्ता द्रष्टव्याः ॥ ननु युगावतारः कस्मात् आविः स्यात् ? तत्राह, उपासनेति । यो हि मन्वन्तरावतारः, स एव मन्वन्तरस्य तत्तद्युगेषु तथा तथा आविः स्यात्, नतु गर्भोदकशाय इत्यर्थः ॥ १६ ॥

भा०टी०—अनन्तर युगावतार । वर्ण और नामसे श्रीनारायणजी सतयुगमें शुक्ल, त्रेतामें लाल, द्वापरमें श्याम और कलिमें कृष्ण कहे जातेहैं । प्रत्येक मन्वन्तरावतारके निमित्त उसही इस मन्वन्तरके सत्यादियुगमें कर्मानुसार शुक्लादिरूपसे अवतरण किया करते हैं ॥ १६ ॥

युगावतार । मन्वन्तरावताराहीयुगावतार हुआ करते हैं

कल्पमन्वन्तरयुगप्रादुर्भावविधायिनः ।
अवतारा इमे त्वेकचत्वारिंशदुदीरिताः ॥ १७ ॥

टिप्प०—सर्वान् अवतारान् संख्याति, कल्पेति । कल्पावताराः पंचविंशतिः, मन्वन्तरावतारा द्वादश, युगावतारास्तु चत्वारः, इति मिलितास्त्वेकचत्वारिंशत् ॥ १७ ॥

---

१ सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि, इन चार युगोंको दिव्ययुग कहतेहैं । सहस्रचतुर्युगका १ कल्प होताहै । इस कल्पमें १४ मन्वन्तर होतेहैं । ब्रह्माके एकदिनका एक कल्प होताहै । कल्पान्तमें जो प्रलय होतीहै, उसको ब्रह्माकी रात्रि कहतेहैं । इसहीका नाम प्रतिदिनकी प्रलय है । इसप्रकार ३० कल्पमें ब्रह्माजीका १ मास होताहै । बारह मासका १ वर्ष, पचासवर्षका एक परार्द्ध । इस प्रकारसे ब्रह्माजीकी आयु दो परार्द्ध होतीहै । दो परार्द्ध काल जब बीतजाताहै, तब प्राकृतिक प्रलय होकर ब्रह्माजीको परमपदकी प्राप्ति होतीहै । उस समय समस्तप्रपंच प्रकृतिमें लीन होजाताहै । तीस कल्पोंके नाम लिखतेहैं यथा १ श्वेतवाराह । २ नीललोहित । ३ वामदेव । ४ गाथान्तर । ५ रौरव । ६ प्राण । ७ बृहत् । ८ कन्दर्प । ९ सद्य । १० ईशान । ११ ध्यान । १२ सारस्वत । १३ उदान । १४ गरुड । १५ कौर्म । इसकोही ब्रह्माजीकी पौर्णमासी कहतेहैं ॥ १६ नारसिंह । १७ समाधि । १८ आग्नेय । १९ विष्णुज । २० वंश । २१ सोमवंश । २२ भावन । २३ वैकुण्ठ । २४ आर्चिष । २५ वल्लीकल्प । २६ रथन्तर । २७ वैराज । २८ गौरी । २९ माहेश्वर और । ३० पितृकल्प है । इसको ब्रह्माजीकी अमावस्या कहतेहैं । प्रथम श्वेतवाराह कल्पमें ब्रह्माजीका जन्म हुआ, इसही कारणसे इसको ब्राह्मकल्पभी कहतेहैं । इसप्रकारसे प्रथम परार्द्धके अवसानमें भगवानके नाभिसरोवरसे एक लोकात्मक पद्म उत्पन्न हुआ । इस कारण पितृकल्पहीका पाद्मकल्प नाम हुआ । ब्रह्माजीकी आयुका प्रथम परार्द्ध बीतगया । आजकल दूसरे परार्द्धका श्वेतवाराहकल्प वर्तमान है ॥ १६–२० ॥

अवतारसंख्या । भा०टी०—कल्पावतार २५, मन्वन्तरावतार १२, और युगावत यह सब इकताळीस अवतार कहे हैं ॥ १७ ॥

वृत्ता ब्राह्मादयः कल्पाः पाद्मान्तास्ते सहस्रशः ।
वर्त्तमानस्तु कल्पोऽयं श्वेतवाराह उच्यते ॥ १८ ॥

टिप्प०—वृत्ता इति—अतीता इत्यर्थः । श्वेतवाराहः—द्वितीयपरार्द्ध-गतो बोध्यः ॥ १८ ॥

अतीत और वर्त्तमान कल्प भा०टी०—ब्राह्मसे लेकर पाद्मतक कल्प सहस्र २ वार अतीत हो चुके हैं आज कल जो कल्प वर्त्तमान है इसका नाम 'श्वेतवाराह' है ॥ १८ ॥

ब्राह्मकल्पप्रथमजे व्यक्ताः स्वायम्भुवान्तरे ।
कुमारनारदाद्याश्च चाक्षुषीयादिपूत्तरे ॥ १९ ॥

टिप्प०—ब्राह्मेति । ब्राह्मकल्पस्य आद्ये स्वायम्भुवेऽन्तरे कुमाराद्या-स्त्रयोदश बभूवुः, चाक्षुषीये तु नृसिंहादयो द्वादश, वराहमत्स्यौ च अत्रापि बभूवतुः, "आद्ये व्यक्ताः कुमाराद्याः" इति प्रागुक्तेः अन्य-स्मिन् अन्ये ॥ १९ ॥

भा०टी०—ब्राह्म कल्पके प्रथम स्वायुम्भवमन्वन्तरमें चतुःसन और नारदादिके ब्राह्मकल्पके अवतार और चाक्षुष मन्वन्तरादिमें नृसिंहादिकी अभिव्यक्ति हुई है ॥ १९ ॥

प्रायः स्वायम्भुवाद्याख्याः कल्पे कल्पे भवन्त्यमी ।
मनवस्तेऽवताराश्च तथा यज्ञादिनामकाः ॥ २० ॥

टिप्प०—मनूनां मन्वन्तरावताराणाञ्च प्रतिकल्पं तुल्यनामतामाह, प्राय इति—अगूढार्थम् ॥ २० ॥

मनु और मन्वन्तरावतारोंकी प्रतिकल्पमें तुल्यनामता । भा०टी०—प्रायः प्रत्येक कल्पमें मनुगणोंकी स्वायम्भुवादि नामसे मन्वन्तरावतारोंकी यज्ञादिनामसे अभिव्यक्ति होती है ॥ २० ॥

तथा हि श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे श्रीवज्रप्रश्नः—
"य एते भवता प्रोक्ता मनवश्च चतुर्दश ।
नित्यं ब्रह्मदिने प्राप्ते एत एव क्रमाद्द्विज! ।
भवन्त्युतान्ये धर्म्मज्ञ ! एतं मे छिन्धि संशयम् ॥"

श्रीमार्कण्डेयोत्तरम्—

"एत एव महाराज ! मनवश्च चतुर्दश ।
कल्पे कल्पे त्वया ज्ञेया नात्र कार्या विचारणा ॥
एकरूपास्त्वया प्रोक्ता ज्ञातव्याः सर्व एव हि ॥
केचित्किंचिद्विभिन्नाश्च मायया परमेशितुः ॥ २१ ॥" इति ।

टिप्प०—अत्रार्थे प्रमाणं दर्शयितुं, तथाहीति ॥ य एत इत्यादिकम् अगूढार्थम् ॥ २१ ॥

भा०टी०--इसही प्रकारसे श्रीधर्मोत्तरमें श्रीवज्रका प्रश्न--" हे नैष्ठिक ब्रह्मचारिन् ! आपने जिन चतुर्दशमनुका नाम कीर्तन किया, क्या यही प्रतिकल्पमें जन्मग्रहण करते हैं, अथवा और कोई महात्मा मनु हुआकरते हैं ? हमारे इस संशयको दूर कीजिये ।" श्रीमार्कण्डेयजीका उत्तर--"हे महाराज ! यह चौदह मनुही, प्रत्येक कल्पमें अभिव्यक्त हुआ करते हैं, इस विषयमें तुम कोई संशय न करो ॥ तुम समस्त कल्पकोही इस प्रकारसे जानो, तो भी परमेश्वरकी इच्छासे, कभी, कोई २ किसी अंशसे विभिन्न हुआ करते हैं ।" ॥ २१ ॥ इति ।

अवताराश्चतुर्द्धा स्युरावेशाः प्राभवा अपि ।
अथैव वैभवावस्थाः परावस्थाश्च तत्र ते ॥ २२ ॥

टिप्प०—उक्तान् अवतारान् विधान्तरेण विभजति, अवतारा इति ॥ २२ ॥

अवतार और एक रीतिसे चार प्रकारके हैं ।

भा०टी०--आवेश, प्राभव, वैभव और परावस्थ भेदसे अवतार चार प्रकारके हैं ॥ २२ ॥

तत्रावेशावतारास्तु ज्ञेयाः पूर्वोक्तरीतितः ।
यथा कुमारदेवर्षिवेणाङ्गप्रभवादयः ॥ २३ ॥

---

१ "प्रोक्ता" इत्यत्र "कल्पा" इति पाठान्तरम् ।

२ कोई २ विषय किसी२ अंशमें भिन्न हुआ करताहै । इससे यही प्रतिपन्न होताहै कि, किन्हीं पुरा- साथ यदि किसी पुराणादिका अनमेल हो, तो यहां "भिन्न २ कल्पकी कथा अलग२है" यह कह- विरोध दूर करना होगा, इस सिद्धान्तका आश्रय करनेपर फिर किसी शास्त्रमें परस्पर विरोध नहीं ॥ २१–२५ ॥

टिप्प०—यथेति । कुमारेषु नारदे च ज्ञानकलया भक्तिकलया पृथौ परशुरामे कल्किनि च शक्तिकलया हरेरावेशः ॥ २३ ॥

भा०टी०--इनमें पूर्वोक्तरीतिके अनुसार आवेशके लक्षण समझने चाहिये । आवेश । प्रकार कुमार अर्थात् चतुःसन, नारद और वेनकी देहसे उत्प. पृथुआदि ॥ २३ ॥

यथा पाद्मे—

"आविष्टोऽभूत्कुमारेषु नारदे च हरिर्विभुः ॥"

यथा तत्रैव—

"आविवेश पृथुं देवः शंखी चक्री चतुर्भुजः ।" इति ।

आविष्टो भार्गवे चाभूदिति तत्रैव कीर्त्तितम् ॥

तथाहि—

"एतत्ते कथितं देवि ! जामदग्नेर्महात्मनः ।

शक्त्यावेशावतारस्य चरितं शार्ङ्गिणः प्रभोः ॥ २४ ॥" इति ।

टिप्प०—आविष्टोऽभूदित्यादिकं स्फुटार्थम् ॥ भार्गवे-परशुरामे ॥ तत्रैव-पाद्मे एव ॥ तद्दर्शयति, तथाहीति ॥ एतत्-कार्त्तवीर्य्यवधादिकम् ॥ २४ ॥

भा०टी०--यथा पद्मपुराणमें--"भगवान् हरि, कुमार और नारदमें आविष्ट हुए हैं ।" फिर उसही पद्मपुराणमें--"शंखचक्रधारी, चतुर्भुज हरि, पृथुराजमें आविष्ट हुएथे ।" इति । उसही पद्मपुराणमें कहा है कि, "हरि, परशुरामजीमें आविष्ट हुए थे" तथा हि--"हे देवि ! भगवान् हरिके शक्त्यावेशावतार महात्मा जमदग्नितनय परशुरामजीका चरित्र तुमसे कहा" ॥ २४ ॥ इति ।

आवेशत्वं कल्किनोऽपि विष्णुधर्म्मे विलोक्यते ॥

यथा—

"प्रत्यक्षरूपधृग्देवो दृश्यते न कलौ हरिः ।

कृतादिष्विव तेनैव[1] त्रियुगः परिपठ्यते ॥

कलेरन्ते च संप्राप्ते कल्किनं ब्रह्मवादिनम् ।

---

१ "तेनैव" इत्यत्र "तेनासौ" इति पाठान्तरम् ।

अनुप्रविश्य कुरुते वासुदेवो जगत्स्थितिम् ॥
पूर्वोत्पन्नेषु भूतेषु तेषु तेषु कलौ प्रभुः[1] ।
कृत्वा प्रवेशं कुरुते यदभिप्रेतमात्मनः ॥" इति ।
अतोऽमीष्ववतारत्वं परं स्यादौपचारिकम् ॥ २८ ॥

टिप्प०--प्रत्यक्षेति । कृतादिष्वेव त्रिषु युगेषु देवः प्रत्यक्षरूपधृक् दृश्यते, न तु कलौ, अतोऽसौ त्रियुगः कथ्यते । न चैवं कृष्णचैतन्यस्य प्रत्यक्षरूपत्वं न स्यादिति वाच्यं, तस्य कलियुगावतारत्वाभावात्; प्रतिकलि कृष्णवर्णोऽवतारःस्मर्यते, स च जीवविशेष एव, कलिविशेषे तु गर्गोक्तः पीतः साक्षात् ईश्वर एव, तदा कृष्णवर्णस्तत्र प्रविष्ट इति सर्वं सुस्थम ॥ अत इति । अमीषु–कुमारादिषु कल्क्यन्तेषु पञ्चसु ॥ २८ ॥

भा०टी०--विष्णुधर्मोत्तरमें कल्किजीकाभी आवेशावतारत्व[2] दिखाई देता है यथा "भगवान् हरिजी, प्रत्यक्षरूपसे कलियुगमें साधारणको दिखाई नहीं देते, परन्तु मत्स्य,

---

१ "प्रभुः" इत्यत्र "हरिः" इति पाठान्तरम् ॥

२ विष्णुधर्मोत्तरके वचनानुसार कलियुगमें स्वयंरूपादिका अवतार नहीं, केवल आवेशावतारही हुआ करते हैं । परन्तु सातवें स्कन्धमें भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादने कहा है कि "छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ सत्त्वम्" तुम कलियुगमें छन्न अर्थात् अन्यरूपादिद्वारा आच्छादित रहतेहो, इसकारण तुम्हारा "त्रियुग" नाम है । पुराणमें भगवानजीने कहाहै " अहमेव क्वचिद्ब्रह्मन्! नित्यं प्रच्छन्नविग्रहः । भगवद्भक्तरूपेण लोकान्रक्षामि सर्वथा ॥ " हे ब्रह्मन्! मैं ही कभी प्रच्छन्न-विग्रह हो-भगवद्भक्तरूपसे समस्त लोककी रक्षा कियाकरताहूं । छन्नरूप लिङ्ग (शब्दकी सामर्थ्य) से प्रह्लादके वाक्यके सहित इस श्लोककी एकवाक्यता करनेसे, यह श्लोकभी कलियुगविषयकही हो उठताहै । इस 'अहमेव' शब्द-द्वारा अपने अंशादिका व्यावर्त्तन किया । अर्थात् स्वयं भगवान् मैंही हूं, और कोई नहीं है । प्रच्छन्न–अन्यरूपादिसे आच्छन्न हुआहै, विग्रह–स्वरूप, जिसका, उसकोही प्रच्छन्नविग्रह कहतेहैं । जीवका स्वरूप जीवका स्वरूप नहीं होसकता । ईश्वरमें देह और देहीका विभाग न होनेसे उसका देह उसका स्वरूप है । 'क्वचित्' इस 'चित्' प्रत्ययका अर्थ साकल्य अर्थात् चित्प्रत्ययसे सब समयमें नहीं । किसी समयविषयमें, ऐसे अर्थकी प्राप्ति हुई । इससे यह अर्थ प्राप्त होताहै कि, मैं स्वयं भगवान् विशेष कलिविशेषमें अर्थात् वैवस्वतमन्वन्तरकी अट्ठाईसवी चौकड़ीके समय कलिमें प्रेयसीकान्तिद्वारा अपने स्वरूपको आच्छादितकरके प्रपंचके गोचर हुआकरताहूं । आवेशावतारका स्वाभाविकविग्रहे दर्शनकरनेसे जब इसमें ईश्वरकी प्रतीति नहीं होसकती तब फिर उसके विग्रहको प्रच्छन्न कहनेका क्या प्रयोजन है ? अतएव जिस कलियुगमें विद्युद्गौर श्रीकृष्णचैतन्यदेवका अवतार होताहै, तिस कालमें कृष्णवर्ण कलियुगावतार उसमें प्रविष्ट हुआ करता है । वस्तुतः विष्णुधर्मोत्तरादिके वचन साधारण कलियुगकी वार्ता है, और भागवतादिके वचनोंने कलिविशेषकी वार्ता कहीहै । सामान्य और विशेषके मध्यमें विशेषकी प्रबलता है ॥ २८ ॥

त्रेता और द्वापर युगमें प्रत्यक्षरूपसे दिखाई दिया करते हैं, इसही कारणसे शास्त्रने उनको त्रियुगके नामसे पुकारा है ॥ कलियुगके अंतमें भगवान् वासुदेव, कल्किनामक वेदवेत्ता ब्राह्मणमें प्रवेश करके जगत्का पालन करते हैं श्रीनारायणजी, कलियुगमें पहिले उत्पन्न हुए उन महत्तम प्राणिवर्गमें प्रवेश करके अपने अभिमत कार्यको साधन किया करते हैं ॥" इति । अतएव कुमार, नारद, पृथु, परशुराम और कल्कीजीको जो 'अवतार' कहागया है, वहभी औपचारिक अर्थात् गौण है ॥ २५ ॥

अथ प्राभववैभवाः—

हरिस्वरूपरूपा ये परावस्थेभ्य ऊनकाः ।
शक्तीनां तारतम्येन क्रमात्ते तत्तदाख्यकाः ॥ २६ ॥

टिप्प०--अथेति ॥ प्राभववैभवानामुभयेषां सामान्यलक्षणं, हरीति। तेषां भेदकमाह, शक्तीति । प्राभवेषु अल्पाः शक्तयः, वैभवेषु तेभ्योऽधिकास्ता इत्यर्थः ॥ २६ ॥

भा०टी०--अथ प्राभव और वैभव । जिनका रूप हरिस्वरूप है, किन्तु जो परावस्थकी अपेक्षा न्यून हैं, उनको 'प्राभव' और 'वैभव' कहते हैं । शक्तिप्रकाशके तारतम्य अनुसारही यह क्रमानुसार 'प्राभव' और 'वैभव' नामसे पुकारे जाते हैं ॥ २६ ॥

प्राभव और वैभव ।

प्राभवाश्च द्विधा तत्र दृश्यन्ते शास्त्रचक्षुषा ।
एके नातिचिरव्यक्ता नातिविस्तृतकीर्त्तयः ॥
ते मोहिनी च हंसश्च शुक्लाद्याश्च युगानुगाः ॥
अपरे शास्त्रकर्त्तारः प्रायः स्युर्मुनिचेष्टिताः ।
धन्वन्तर्य्यृषभौ व्यासो दत्तश्च कपिलश्च ते ॥ २७ ॥

टिप्प०—प्राभवान् विभजति, प्राभवाश्चेति । विभाजकान् धर्म्मान् आह, एके नातिचिरस्थितयः मोहिन्यादयः षट्॥ चिरस्थितयो मुनिस्तु धन्वन्तर्यादयः पञ्च । इत्युभयेऽमी एकादश प्राभवाः ॥२७॥

सो वैवस्वतमन्वन्तरकी अट्ठाईसवीं चतुर्युगीमें जो कलियुग होगा, इसके अतिरिक्त और स्वांशादिअवतार होकर केवल आवेशावतारही हुआ करतेहैं । अन्यथा गर्ग, और व्यका मेल नहीं रहता ॥ २५ ॥

जिस परिमाणसे, शक्तिकी अभिव्यक्ति होतीहै, तिसकी अपेक्षा वैभवमें अधिक परिविकाश होताहै ॥ २६ ॥

१ "तौ" इत्यन्

भा०टी०--शास्त्रदृष्टिके अनुसार दो प्रकारके 'प्राभव' देखेजाते हैं । इनमें एक प्रकारके 'प्राभव' तो अल्पकालतक अभिव्यक्त रहते हैं, अतएव उनकी कीर्ति भी लोकमें बहुतायतसे विस्तारित नहीं होती । जिसप्रकार मोहिनी, हंस और शुक्लादि युगावतार ॥ और प्रकारके अर्थात् दीर्घकालस्थायी 'प्राभवगण' शास्त्र-प्रणयनकर्त्ता और प्राय समस्तकी चेष्टाहीं मुनिगणोंकी समान होती है । धन्वन्तरि, ऋषभ, व्यास, दत्त और कपिल ॥ २७ ॥

प्राभव वैभव

अथ स्युर्वैभवावस्थास्ते च कूर्म्मो झषाधिपः ।
नारायणो नरसखः श्रीवराहहयाननौ ॥
पृश्निगर्भः प्रलम्बघ्नो यज्ञाद्याश्च चतुर्दश ।
इत्यमी वैभवावस्था एकविंशतिरीरिताः ॥ २८ ॥

टिप्प०—सामान्यतो लक्षितान् वैभवान् विशिष्याह, अथ स्युरिति। नारायणनरसखयोः ऐक्यात् एकविंशतिरित्युक्तिः सङ्गच्छते । यज्ञाद्याः-मन्वन्तरावताराः ॥ २८ ॥

भा०टी०--कूर्म, मत्स्य, नर, नारायण, वराह, हयग्रीव, पृश्निगर्भ, प्रलम्बका संहार करनेवाले बलदेव और यज्ञादि चतुर्दश मन्वन्तरावतार, इन इक्कीस अवतारोंको 'वैभवावस्थ' कहते हैं ॥ २८ ॥

वैभव ।

तत्र क्रोडहयग्रीवौ नवव्यूहान्तरोदितौ ।
मन्वन्तरावतारेषु चत्वारः प्रवरास्तथा ॥
ते तु श्रीहरिवैकुण्ठौ तथैवाजितवामनौ ।
षडमी वैभवावस्थाः परावस्थोपमा मताः ॥ २९ ॥

टिप्प०--एकविंशतिसंख्येषु वैभवेषु मध्ये वराहादीनां विशेषमाह, तत्रेति-एकविंशतावित्यर्थः ।; नवेति-" चत्वारो वासुदेवाद्या नारायणनृसिंहकौ । हयग्रीवो महाक्रोडो ब्रह्मा चेति नवोदिताः ॥ " इति ये नवव्यूहाः, तन्मध्योदितौ क्रोडहयग्रीवौ, मन्वन्तरावतारेषु हरिवैकुण्ठाजितवामनाः चत्वारः, अमी षट् वैभवावस्थाः परावस्थतुल्या भवन्ति, इति एकविंशतौ एषां षण्णां वैशिष्ट्यं, शक्त्याधिक्यप्रकटनात् ॥ २९ ॥

१ वैकुण्ठादिसे स्वांशादिके प्रपंचमें अवतरणको मुख्य अवतार कहतेहैं ॥ २७ ॥

भा०टी०--इन इक्कीसमें नवव्यूहके मध्यमें कथित जो वराह और हयग्रीव हैं, मन्वन्तरावतारके मध्यमें मधानरूपसे कथित जो हरि हैं (और) अजित व वामन, यह छेः अवतार वैभवावस्थ होनेपर भी परावस्थकी समान हैं ॥ २९ ॥

केषाञ्चिदेषां स्थानानि लिख्यन्ते शास्त्रदृष्टितः ।
यत्र यत्र विराजन्ते यानि ब्रह्माण्डमध्यतः ॥
विष्णुधर्म्मोत्तरादीनां वाक्यं तत्र प्रमाण्यते ॥ ३० ॥

टिप्प०—केषाञ्चित् धामानि वैशिष्ट्यावरोधाय वाच्यानीत्याह, केषांचिदिति ॥ ३० ॥

कितने एक अवतारोंके ब्रह्माण्डमध्यवर्ती धाम-समूह

भा०टी०—इनके मध्यमें कितने एक अवतारोंके ब्रह्माण्ड मध्यमें जिन२ स्थानोंमें जो जो धाम विराजमान हैं, वे वे स्थान शास्त्रके अनुसार लिखे जाते हैं । विष्णुधर्मोत्तरादिके वाक्य जिस विषयमें प्रमाणित होंगे ॥ ३० ॥

तथाहि—
"तस्योपरिष्टादपरस्तावानेव प्रमाणतः ।
महातलेति विख्यातो रक्तभौमश्च पञ्चमः ॥
सरोवरं भवेत्तत्र योजनानां दशायुतम् ।
स्वयञ्च तत्र वसति कूर्म्मरूपधरो हरिः ॥ ३१ ॥

टिप्प०—कूर्म्मस्य तावदाह, तस्योपरीति द्वाभ्याम् । तस्य—तलातलस्य ॥ ३१ ॥

भा०टी०--तथाहि—उस तलातलके ऊपर महातल है । इसका परिमाण तलातलकी समान और भूमिका रंग लाल है । इस महातलमें एक श्रेष्ठ सरोवर है जिसका विस्तार लक्ष योजनका है इस स्थानमें कूर्मरूपी साक्षात हरि निवास करते हैं ॥ ३१ ॥

तस्योपरिष्टादपरस्तावानेव प्रमाणतः ।
तत्रास्ते सरसी दिव्या योजनानां शतत्रयम् ॥
तस्यां स वसते देवो मत्स्यरूपधरो हरिः ॥ ३२ ॥

टिप्प०—मत्स्यस्याह, तस्येति सार्द्धकेन । अपरः—रसातलः ॥३२॥

---

१ वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, नृसिंह, हयग्रीव, वराह और ब्रह्मा, इनकोही नवव्यूह कहतेहैं ॥ २९–३४ ॥

भा०टी०–इसके ऊपर रसातल है । रसातलका परिमाण महातलकी तुल्य है । यहां-परभी एक अपूर्व सरोवर है; जिसका परिमाण तीन शत योजनका है । उसमें मत्स्यरूपी नारायणजी विराजमान हैं ॥ ३२ ॥

नारायणो नरसखो वसते बदरीपदे ॥ ३३ ॥

टिप्प०–नारायणस्याह, नारायण इत्यर्द्धकेन ॥ ३३ ॥

भा०टी०–नर नारायणजी बदरिकाश्रममें वास करते हैं ॥ ३३ ॥

नृवराहस्य वसतिर्महर्लोके प्रकीर्त्तिता ।
योजनानां प्रमाणेन अयुतानां शतत्रयम् ॥ ३४ ॥

टिप्प०–नराकार–वराहस्याह, नृवराहस्येत्येकेन । कीदृशं तत् ? इत्याह, योजनानामिति–प्रमाणेनायुतानां योजनानां शतत्रयं, तत्परिमितं तदित्यर्थः ॥ ३४ ॥

भा०टी०–नृ–वराहका वासस्थान महर्लोक है । इनके वासस्थानका परिमाण तीस लाख योजन है ॥ ३४ ॥

अयुतानि च पंचाशच्छेषस्थानं मनोहरम् ॥ ३५ ॥

टिप्प०–अथ शेषस्याह, अयुतानि चेत्यर्द्धकेन ॥ ३५ ॥

भा०टी०–'शेषजी' का वसतिस्थान, पांचलाख योजनके परिमाणका है ॥ ३५ ॥

स एव लोको वाराहः कथितस्तु स्वयंप्रभः[1] ॥
लोकोऽयमण्डसंलग्नः सर्वाधस्तान्मनोहरः ।
वराहरूपी भगवाञ्छ्वेतरूपधरो वसेत्[2] ॥ ३६ ॥

टिप्प०–चतुष्पाद्वराहस्याह, स एवेति सार्द्धकेन । शेषस्थानसम इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भा०टी०–चतुष्पाद्–वराहजीका वसतिस्थान शेषजीके स्थानकी समान है और स्वयंप्रभ है । सबसे नीचे ब्रह्माण्डसंलग्न, अतिमनोहर जो लोक है, भगवान् श्वेतवराहजी उसही स्थानमें वास करते हैं ॥ ३६ ॥

---

१ "स्वयंप्रभः" इत्यत्र "स्वयंप्रभुः" इति पाठान्तरम् ।
२ "श्वेतरूपधरो वसेत्" इत्यत्र "शतरूपधरोऽवसत्" इति पाठान्तरम् ।

तस्योपरिष्टादपरस्तावानेव प्रमाणतः ।
पीतभौमश्चतुर्थस्तु गभस्तितलसंज्ञकः ॥
तत्रास्ते भगवान्विष्णुर्देवो हयशिरोधरः ।
शशाङ्कशतसङ्काशः शातकुम्भविभूषणः ॥ ३७ ॥

टिप्प०—हयग्रीवस्याह, तस्योपरीति द्वयेन ॥ ३७ ॥

भा०टी०—उसके ऊपर गभस्तितल नामक और एक लोक है । इसका परिमाण श्वेतवाराह लोककी समान है, भूमि पीतवर्ण है । इस स्थानमें भगवान् हयग्रीवजी वास किया करते हैं, उनकी देहकान्ति शत २ चंद्रमाकी समान है । और विभूषित स्वर्णमय है ॥ ३७ ॥

पृश्निगर्भस्य वसतिर्ब्रह्मणो भुवनोपरि ॥ ३८ ॥

टिप्प०—पृश्निगर्भस्याह, पृश्नीत्यर्द्धकेन ॥ ३८ ॥

भा०टी०—ब्रह्मलोकके ऊपर पृश्निगर्भका वासस्थान है ॥ ३८ ॥

वासस्तत्र प्रलम्बारेर्यत्रैवाघारिपोर्भवेत् ॥ ३९ ॥

टिप्प०—बलदेवस्याह, वासस्तत्रेत्यर्द्धकेन । यत्र–गोकुलादौ, कृष्णस्य वासः, तत्रैव, इति द्वयोर्नित्यसंयोग उक्तः ॥ ३९ ॥

भा०टी०—जिन गोकुलादिके मध्यमें अघरिपु श्रीकृष्णजी वास करते हैं, प्रलम्बके शत्रु बलदेवजी भी उसी स्थानमें वास करते हैं ॥ ३९ ॥

एतस्यैवांशभूतोऽयं पाताले वसति स्वयम् ।
नित्यं तालध्वजो वाग्मी वनमालाविभूषितः ॥
धारयञ्छिरसा नित्यं रत्नचित्रां फणावलीम् ॥
लाङ्गली मुसली खड्गी नीलाम्बरविभूषितः ॥ ४० ॥

टिप्प०—ननु महीधारिणः शेषस्य क धाम ? इत्यत्राह, एतस्येति । प्रलम्बार्यंशो भूधारी शेषस्तदाविशीत्यर्थः । वाग्मी–सनकादीन् प्रति श्रीभागवतं कथयन्नित्यर्थः ॥ ४० ॥

भा०टी०—और इन बलदेवके अंशभूत संकर्षणजी भी पातालमें वास किया करते हैं । यह तालध्वज और वाग्मी हैं, अर्थात् सनकादिको भागवत सुनाया करते हैं । इनके कंठमें वनमाला विभूषित है; यह मस्तकके ऊपर रत्नपरम्परासे उज्ज्वलीकृत विचित्र फणावली धारण किया करते हैं; यह हल, मूशल और खड्गसे अलंकृत हैं, और नीलाम्बर पहिर रहे हैं ॥ ४० ॥

ब्रह्मलोकोपरिष्टाच्च हरेर्लोको विराजते ।
स्वर्लोके वसतिर्विष्णोर्वैकुण्ठस्य महात्मनः ॥
तथा वैकुण्ठलोके च स्वयमाविष्कृतो हि यः ॥
अजितस्य निवासस्तु ध्रुवलोके समर्थितः ।
भुवर्लोके तु वसतिर्वामनस्य महात्मनः ॥ ४१ ॥

टिप्प०—मन्वन्तरावतारेषु ये चत्वारो विशिष्टा हर्य्यादयः, तेषां धामान्याह, ब्रह्मलोकेति सार्द्धद्वाभ्याम् ॥ ४१ ॥

भा०टी०—ब्रह्मलोकके ऊपर नारायणजीका लोक विराजमान है ॥ महात्मा विकुण्ठा-नंदनका वासस्थान स्वर्गलोकमें विराजमान है, और स्वयं जिसको प्रकट कियाहै, वह वैकुंठ लोकभी उनका वासस्थान है । भगवान् अजितका वासस्थान ध्रुवलोक है । महात्मा वामन-का वासस्थान भुवर्लोक है ॥ ४१ ॥

त्रिविक्रमस्य वसतिस्तपोलोके प्रकीर्त्तिता ।
तथास्य ब्रह्मलोकस्थो दिव्यो नारायणाश्रमः ॥
ब्रह्मलोकोपरिष्टाच्च निवासोऽनेन निर्म्मितः ॥
हरिवंशे सुरेन्द्रेण कथितो यः सुरर्षये ॥
तथाहि (ह०वं० १२७ । ३७)—
"इदं भङ्क्त्वा मदीयतुं भगवन्विष्णुना कृतम् ।
उपर्य्युपरि लोकानामधिकं भुवनं मुने ! ॥ ४२ ॥" इति ।

टिप्प०—त्रिविक्रमस्याह, त्रीत्यादित्रयेण । अनेन—त्रिविक्रमेण ॥ हरिवंशे इति । यः—ब्रह्मलोकोपरि स्थितः त्रिविक्रमस्य निवासः ॥ इदमिति । इदं मदीयं—स्वर्गाख्यं स्थान, भङ्क्त्वा—पादप्रहारेण भग्नं कृत्वेत्यर्थः । मुने !—हे नारद ! । उपरिलोकानामुपरीति योज्यम्, अन्यथा लोकान् इति द्वितीयया भाव्यम् । स्वर्गोपरितलेषु लोकेषु सत्यपर्यन्तेषु त्रिविक्रमेण भुवनानि दिव्यानि कृतानीति ॥ ४२ ॥

भा०टी०—त्रिविक्रमका वासस्थान तपोलोक है, "ब्रह्मलोकस्थित दिव्य नारायणाश्रम और ब्रह्मलोकके ऊपर स्वनिर्मित लोक है।" ॥ हरिवंशमें देवराज नारदजीसे इस लोककी कथा कही है ॥ तथाहि—"हे भगवन् ! भगवान् विष्णुजीने, चरणप्रहारसे हमारे इस स्वर्गलोकको भग्न करके, स्वर्गके ऊपर समस्तलोकोंमें अपूर्व लोकपरम्परा निर्माण की है ।" ॥ ४२ ॥ इति ।

सर्वेषामवताराणां परव्योम्नि चकासति ।
निवासाः परमाश्चर्य्या इति शास्त्रे निरूप्यते ॥
तथाहि पाद्मे—
"वैकुण्ठभुवने नित्ये निवसन्ति महोज्ज्वलाः ।
अवताराः सदा तत्र मत्स्यकूर्म्मादयोऽखिलाः ॥ ४३ ॥" इति ।

इति अवतारतत्स्थाननिरूपणम् ।

टिप्प०—अथ परव्योम्नि सर्वेषाम् अवताराणां धामानि सन्तीति ज्ञापयितुमाह, सर्वेषामिति ॥ तत्र प्रमाणं, वैकुण्ठेति—स्फुटार्थः ॥ ४३ ॥

इति अवतारास्तेषां स्थानानि च निरूपिताः ।

भा०टी०—शास्त्रमें देखा जाता है कि परव्योमस्थ धाममें समस्त अवतारोंके ही परमाश्चर्य समस्त वासस्थान शोभायमान हो रहे हैं ॥ तथाहि—पद्मपुराणे—"सनातन वैकुंठभवनमें मत्स्य, कूर्मादि परमोज्ज्वल शुद्धसत्त्वमूर्त्ति निखिल अवतार सर्व्वदा विराजमान हो रहे हैं ।" ॥ ४३ ॥ इति ॥

अवतारगणोंका परव्योमस्थधाम ।

इति अवतार और अवतारगणोंका स्थाननिरूपण ।

अथ कृष्णो नरभ्रातुरवतार इति क्वचित् ।
उपेंद्रस्येति च क्वापि भात्यसौ नातिकोविदाम् ॥ १ ॥

टिप्प०--एतावता प्रघट्टकेन कृष्णस्य स्वयंरूपत्वं, श्रीशादीनां तद्विलासादित्वञ्च उक्तं; तदसहिष्णोः विष्वक्सेनानुयायिनः वाक्यम् अनुवदन् निरस्यति, अथेति । नरभ्रातुः—बदरीपतेः, उपेन्द्रस्य—वामनस्य, अवतारः, असौ—कृष्णः, नातिकोविदाम्—अविचारितशास्त्राणाम् आपातार्थग्राहिणां, भाति—तत्तदवतारतया प्रतीतो भवति; सुकोविदान्तु स्वयंरूपतया निश्चितोऽसावित्यर्थः ॥ १ ॥

भा०टी०—अनन्तर जो लोग शास्त्रार्थका भली भांतिसे विचार न करके आपात—प्रतीत अर्थको ग्रहण करते हैं, उनके निकट श्रीकृष्णजी, किसी स्थानमें नरभ्राता नारायणके और किसी स्थानमें उपेंद्रके अवतार कहकर प्रतीत हुआ करते हैं ॥ १ ॥

श्रीकृष्णजीका बदरीशावतारत्व और उपेन्द्रावतारत्वखंडन

---

१ उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति, इन छैः प्रकारके लिंग और अन्यान्य न्यायादिके द्वारा जो लोग भलीभांतिसे शास्त्रार्थका विचार नहीं करसक्ते उन अपंडितोंकी—

यथा स्कान्दे—

"धर्म्मपुत्रौ हरेरंशौ नरनारायणाभिधौ।
चन्द्रवंशमनुप्राप्य जातौ कृष्णार्ज्जुनावुभौ॥"

श्रीचतुर्थे च (भा० ४। १। ४९)—

"ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ॥"

एतदुपोद्बलकं श्रीदशमे (भा० १०। ६९। १६)—

"संपूज्य देवऋषिवर्य्यमृषिः पुराणो
नारायणो नरसखो विधिनोदितेन।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं
प्राह प्रभो! भगवते करवामहे किम्॥ २॥" इति।

टिप्प०—तदनुयायिनो भ्रामकाणि वाक्यान्याह, धर्म्मेति। पूर्व-
पक्षाथः स्फुटः।वस्त्वर्थस्तु कृष्णार्ज्जुनौ कर्त्तारौ, धर्म्मपुत्रौ नरनारायणौ
कर्म्मणी, प्राप्य—आत्मसात्कृत्य, चन्द्रवंशम् अनुजाताविति।
स्वयं भगवत्यवतीर्णे तत्स्वांशाः तस्मिन् प्रविशन्तीति निर्णयात्॥
ताविति। हरेः—क्षीराब्धिपतेः, अंशौ नरनारायणौ, इह—भूलोके
आगतौ, तस्या भारव्ययाय, कृष्णौ—वासुदेवार्ज्जुनौ, अभूतामिति
पूर्वपक्षेऽर्थः। वस्त्वर्थस्तु तौ हरेरंशौ नरनारायणौ कर्त्तारौ, इह—
द्वापरान्ते, कृष्णौ, आगतौ—प्रविष्टौ; वासुदेवे नारायणः अर्ज्जुने तु
नरः प्राविशदित्यर्थः॥ एतदिति। उपोद्बलकं—पोषकम्॥ संपूज्येति।
पूर्वपक्षार्थः स्फुटः। वस्त्वर्थस्तु, सर्वतत्त्वाश्रयत्वात् नारायणः, कल्पादौ

—सम्मतिमें श्रीकृष्णजी, तत्तदवतार प्रतीत हों, परन्तु जो लोग पूर्वोक्त प्रकारसे भलीभांतिसे शास्त्रार्थका
विचार करसकतेहैं, उन सुपंडितोंके निकट स्वयंरूप कहकरही निश्चित हुआकरतेहैं। क्यों कि
जन्मगुह्याध्यायमें सिद्धान्त कियाहै "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्।" अर्थात् मत्स्य-
कूर्मादि अवतारावली इनमें कोई अवतार गर्भोदशायीका अंश है, कोई कला है। परन्तु बीसवें अवतारमें
जिसका नाम कहागयाहै, वह श्रीकृष्णजी स्वयं भगवान अर्थात् पुरुषादि अवतारके अंशी हैं। इसके
साथ समस्त शास्त्रोंकी एकवाक्यता करके विरुद्धरूपसे प्रतीयमान और २ वचनावलीका अर्थान्तर
करके विरोधको छोडदेना होगा। अन्यथा शास्त्रविगीतवचन वृथा हुएजातेहैं॥ १॥

ब्रह्मणोऽपि उपदेष्टृत्वात् पुराणऋषिः, नरैः सार्द्धं विहारित्वात् नरसखः, श्रीकृष्णः, देवः–क्षत्रलीलत्वात्, ऋषिवर्य्यं–नारदम्, उदितेन विधिना संपूज्येति । अन्यत् प्रकटार्थम् ॥ २ ॥

भा०टी०–यथा स्कन्दपुराणमें–"हरिके जो दो अंश नारायण और नर नामसे पुकार जाकर धर्मके पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए थे, वही चंद्रवंशको प्राप्त होकर कृष्ण और अर्जुनरूपसे अवतरे हैं ।" श्रीचतुर्थमें भी कहाहै–" भगवान् क्षीरसागरपति हरिके नारायण और नरनामक दो अंश पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये यदु और कुरुवंशमें दो कृष्ण अर्थात् वासुदेव और अर्जुनरूपसे प्रादुर्भूत हुए हैं ।" इस मतका पोषक श्रीदशमका श्लोक–"पुराण ऋषि नरभ्राता नारायणजीने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार देवर्षि नारदजीकी पूजा करके और अमृतकी समान मधुरवाणीसे सम्भाषण करके कहा था, "हे प्रभो ! मैं आपको संतुष्ट करनेके लिये क्या करूं ?" ॥ २ ॥ इति ।

इस मतानुयायी नारदीके स्वमतपोषक वचन।

उपेन्द्रावतारत्वञ्च यथा हरिवंशे शक्रवचने (ह० वं०१२७।३४)–

"ऐन्द्रं वैष्णवमस्यैव मुने ! भागमहं ददौ ।
यवीयांसमहं प्रेम्णा कृष्णं पश्यामि नारद ! ॥ ३ ॥" इति ।

टिप्प०–एवं बदरीपत्यवतारत्वं कृष्णस्योक्त्वा उपेन्द्रावतारत्वमाह, ऐन्द्रमिति–पारिजातप्रसङ्गे शक्रवाक्यम् । मुने !–हे नारद ! वैष्णवं भागम् अहम् अस्यैव, ददौ इति–उत्तम-णलि रूपम् । भागं विशिनष्टि, ऐन्द्रम्–इन्द्रेण मया रचितम् । यो यज्ञभागो मया विष्णोः पूर्वं कल्पितः, सः, अस्य–कृष्णस्यैव, वामनस्य सतो मया दत्तः, इति महदानुकूल्यं मत्कृतमभूत् । अथ प्रतिकूलधियमपि नमहं न द्वेष्मि, यवीयांसम्–उपेन्द्रं, कृष्णं प्रेम्णा पश्यामि, ज्येष्ठस्य कनिष्ठे प्रेमदृष्टिरेव युक्तेति । पारिजातस्य देवतरुत्वाद्भूर्लोके तस्य प्रदानं न युक्तमिति भावः । अस्य अग्रहणाद्वास्तवार्थो नोक्तः ॥ ३ ॥

---

१ वास्तवार्थ । श्रीकृष्ण और अर्जुन, धर्मपुत्र नर नारायणको, पाकर आत्मायत्तकरके अपनेमें प्रवेश कराकर, चंद्रवंशमें अवतरेथे । और यह निर्णीत हैही कि, स्वयं भगवानके अवतार लेनेपर स्वांशवर्ग उनमें प्रवेश किया करते हैं । यद्यपि कारिकासे फिर वास्तवार्थ कहाजायगा, तथापि सुगमार्थ यहां कहागया ॥ २ ॥

२ वास्तवार्थ । हरिके अंश नारायण और नर द्वापरके शेषमें दो कृष्णमें, अर्थात् वासुदेव और अर्जुनमें आगत अर्थात् प्रविष्ट हुएथे ॥ २ ॥

भा०टी०—उपेन्द्र अवतारके विषयमें हरिवंशके मध्य इन्द्रका वचन यथा—"मैं पहिले जो यज्ञभाग विष्णुजीको अर्पण करता था, वही यज्ञभाग इन कृष्णजीको दान किया है। हे नारद ! मैं स्नेहके वशसे श्रीकृष्णजीको लघुभ्राता (वामन) जानताहूं"॥ ३ ॥ इति ।

तदेतदुभयत्वं न भवेत्कृष्णे विरोधतः ।
अंशत्वं हि तयोरुक्तं परावस्थत्वमस्य तु ॥ ४ ॥

टिप्प०—इदं स्थूलधियां मतं निराकरोति, तदेतदिति । उभयत्वं—बदरीशावतारत्वम्, उपेंद्रावतारत्वञ्च । कुतो न भवेत् ? तत्राह, अंशत्वं हीति । तयोः—बदरीशोपेन्द्रयोः । अस्य—कृष्णस्य ॥ ४ ॥

भा०टी०—श्रीकृष्णजी, नरभ्राता नारायण और उपेन्द्रके अवतार हैं, ऐसा सिद्धान्त शास्त्रविरुद्ध है । क्यों कि, नारायण और उपेन्द्र अंशरूपसे और श्रीकृष्णजी परावस्थरूपसे शास्त्रमें कहेगये हैं ॥ ४ ॥

इस मतका खंडन आरंभ

नरभ्रातुरिहांशत्वमेव चांशेति वक्ष्यते ।
उपेन्द्रस्य तथात्वञ्च हरिवंशेऽपि दृश्यते ॥
तथा हि देवर्षिवचनम् (ह० वं १२८ । २१—२३)—
"अदित्या तपसा विष्णुर्महात्माराधितः पुरा ।
वरेण च्छन्दिता तेन परितुष्टेन चादितिः ॥
तयोक्तस्त्वादृशं पुत्रमिच्छामीति सुरोत्तम ! ॥
तेनोक्तं भुवने नास्ति मत्समः पुरुषोऽपरः ।
अंशेन तु भविष्यामि पुत्रः खल्वहमेव ते ॥ ५ ॥" इति ।

टिप्प०—तयोरंशत्वमाह, नरेत्यादिना । तथात्वम्—अंशत्वम् ॥ अदित्येति । तत्प्रसङ्गे । सुरोत्तम !—हे शक्र ! । एतेनैव तन्निरस्तम्, एतस्य विज्ञवाक्यत्वेन ततो बलिष्ठत्वात् ॥ ५ ॥

---

१ वास्तवार्थ । पुराण-ऋषि-वेदके उपदेष्टा, और नरसख—नरके साथ विहरणशील, नारायण अर्थात् तीनपुरुषके आश्रय श्रीकृष्णजीने क्षत्रलीलामें आविष्ट होकर, ऋषिश्रेष्ठ नारदजीको विधिपूर्वक पूजा करके, उनसे परिमित वाक्यद्वारा संभाषण कियाथा ॥ ३ ॥

२ इन्द्रने अज्ञता, और मात्सर्यके वशसे यह वाक्य कहाथा, इस कारण इसका वास्तवार्थ नहीं कहागया ॥ ४—१ ॥

भा०टी०—"एते चांशकलाः" इत्यादि श्लोकसे बदरीपति नारायणजीको अंश कहकर सिद्धान्त किया, और हरिवंशमें उपेन्द्रजीको स्पष्टही अंशावतार बताया है ॥ तैसही इन्द्रजीके प्रति नारदजीकी उक्ति—"पूर्व कालमें अदितिजीनें तपस्या करके परमात्मा विष्णुजीकी आराधना की । श्रीभगवान्जी अदितिकी आराधनासे संतुष्ट हो उसको वर देनेके लिये उद्यत हुए थे, तब अदितिने कहा था, हे सुरश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारी समान पुत्रकी इच्छा करती हूं ॥ तब श्रीविष्णुजीने कहा कि, लोकमें मेरी समान और कोई पुरुष नहीं है. अत एव मैंही अंशरूपसे तुम्हारा पुत्र हूंगा" ॥ ५ ॥ इति ।

अथ कृष्णे परावस्थभावोऽग्रे वक्ष्यते स्फुटम् ।
परावस्थश्च सम्पूर्णावस्थः शास्त्रे प्रकीर्त्तितः ॥
तस्मादंशत्वमेवास्य विरुद्धं स्फुटमीक्ष्यते ॥ ६ ॥

टिप्प०—ननु अंशांशः कृष्णेऽस्त्विति चेत ? तत्राह, अथेति । तस्मात-परावस्थत्वात एव, अस्य—कृष्णस्य, तदुभयांशत्वं, विरुद्धम्—असङ्गतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

भा०टी०—इसके उपरान्त अब पहिले श्रीकृष्णजीका परावस्थभाव स्पष्ट रूपसे कहा जायगा । शास्त्रमें सम्पूर्णावस्थको 'परावस्थ' कहकर निर्णय किया है । क्योंकि श्रीकृष्णजी परावस्थापन्न हैं, इसी हेतुसे उनको बदरीपति नारायण और उपेन्द्रका अंश कहकर स्थापन करना अत्यन्त असंगत है ॥ ६ ॥

अर्थगत्यन्तरं तेषां वचनानाञ्च दृश्यते ॥
तत्र धर्म्मपुत्रावित्यादौ कारिका—
नरनारायणौ प्राप्येत्यात्मसात्कृत्य तौ स्वयम् ।
कृष्णार्ज्जुनौ चन्द्रवंशमनुप्रकटतां गतौ ॥
ताविमावित्यादौ कारिका—
कर्त्तारौ तौ हरेरंशौ नरनारायणाविह ।
द्वापरान्ते कर्म्मभूतौ आयातौ कृष्णफाल्गुनौ ॥
संपूज्येत्यादौ कारिकाः ।—
सर्वादावुपदेष्टृत्वाद्यः पुराणैरुच्यते ।
नाराणां पुरुषाणां यस्त्रयाणामाश्रयः स तु ॥

१ "तौ" इत्यत्र "नु" इति पाठान्तरम् ।

नरेषु मर्त्यलोकेषु सहचारी भवन्स्वयम् ।
तद्धर्म्ममनुकृत्यात्र पूजयामास तं मुनिम् ॥
नारायणाख्येनांशेन कृष्णो यद्यपि तद्गुरुः ।
नारदं पूजयामास तथापि क्षत्रलीलया ॥

ऐन्द्रमित्यादौ कारिका—

इन्द्रस्तु नातिकोविद्यान्मत्सराच्चोक्तवानिदम् ।
तस्मात्कृष्णस्य नो तत्तद्रूपत्वं घटते क्वचित् ॥ ७ ॥

टिप्प०—अथ कृष्णपरावस्थत्वे बहुवाक्यसत्त्वेन धर्म्मपुत्रावित्यादीनां प्रातीतिकार्थबाधात्, तेषां तत्परावस्थानुयायिनीर्गतीर्दर्शयति, धर्म्मपुत्रावित्यादौ कारिकेत्यादिभिः ॥ प्राप्येति—अस्य आत्मसात्कृत्य इति व्याख्यानं, तौ आत्मतां प्रापय्येत्यर्थः; अस्थानपदत्वदोषस्य पुराणे असत्त्वात्, एवं व्याख्यानं नासङ्गतम् ॥ कर्त्ताराविति—विवृतं प्राक् ॥ सर्वादाविति—गोपालोपनिषदि कल्पादौ विरिञ्चिं कृष्ण उपादिशत, इति पुराणर्षित्वम् । नरशब्दस्य पुरुषपर्य्यायत्वात्, नराणां त्रयाणां पुरुषाणां समूहो नारं, तदाश्रयत्वं कृष्णस्य ब्रह्मसंहितायामुक्तम, अतस्तस्य नारायणत्वं; नरैः मनुष्यैः सह विहारात् नरसखत्वं, नरधर्म्मानुकारात् नारदपूजकत्वम् । नारायणाख्येन—बदरीशस्वरूपेण, तद्गुरुः—नारदस्योपदेष्टा ॥ इन्द्रस्त्विति । ननु केनोपनिषदि (४ । २) इन्द्राग्निवायूनां ब्रह्मवित्त्वदर्शनात् कथमिन्द्रस्य नातिकोविदत्वम ? उच्यते । लीलार्थं तज्ज्ञानाच्छादनात् नत्त्वमिति । मत्सरात—कृष्णोत्कर्षासहनात् । तत्तद्रूपत्वं—बदरीशोपेंद्रांशत्वमित्यर्थः ॥ ७ ॥

भा०टी०—इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त वचनपरम्पराके अर्थकी विभिन्न गति अर्थात् परा-

इन्हीं वचनोंका तत्त्वार्थ

वस्थपरता देखीजाती है ॥ तिसमें "धर्मपुत्रौ" इत्यादि श्लोककी कारिका ।—वहीं स्वयं श्रीकृष्ण और अर्जुन नर और नारायणको, पाकर—आत्मसात करके, चन्द्रवंशमें प्रकटताको, गत(प्राप्त) हुए हैं । अर्थात् नारायण और नरने द्वापरके अन्तमें श्रीकृष्ण और अर्जुनमें प्रवेश किया है ॥ "संपूज्य" इत्यादि श्लोककी कारिका ।—कल्पकी आदिमें ब्रह्माजीको वेदका उपदेश करनेसे जो पुराण—ऋषि कहलाते हैं: नार अर्थात सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन तीन प्रकारके पुरुषोंका आश्रय होनेसे, जो नारायण कहलाते हैं, और नरके अर्थात् मर्त्यलोकके सहचर होनेसे जो नरसखा

कहलाकर वर्णन किये गये हैं, उन्हीं श्रीकृष्णजीने मृत्युलोकके धर्मका अनुकरण करके नारदजीकी पूजा की थी । यद्यपि श्रीकृष्णजी, स्वांश नारायणरूपसे नारदजीके गुरू हैं, तथापि क्षत्रलीलाका अनुसरण करके उनकी पूजा की थी ॥ "इन्द्रस्" इत्यादि श्लोककी कारिका ।—इन्द्रने अज्ञानता और मात्सर्यके अनुवर्ती होकर यह बात कही थी ।

इन्हीं समस्त कारणोंसे श्रीकृष्णजी, बदरीपति नारायण हैं, और उपेन्द्रके अवतार हैं, यह कथा किसी प्रकारसे संभावित नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

अथ परावस्थाः । यथा पाद्मे—

"नृसिंह—राम—कृष्णेषु षाड्गुण्यं परिपूरितम् ।
परावस्थास्तु ते तस्य दीपादुत्पन्नदीपवत् ॥ ८ ॥" इति ।

टिप्प०—कृष्णस्य परावस्थत्वात् बदरीशाद्यंशत्वोक्तिर्विरुद्धेत्युक्तम्, तदवस्थत्वं वक्तुम्, अथेति । तत्त्वश्च कृष्णे षडैश्वर्य्यपूर्णत्वम् ॥ नृसिंहेति—यथोत्तरं परिपूर्त्तिरिह व्यज्यते । तस्य—षाड्गुण्यस्य; इति प्रातीतिकमिदं बोध्यम् ॥ ८ ॥

भा०टी०—अथ परावस्थ । यथा पद्मपुराणमें—"नृसिंह, राम, और श्रीकृष्णजीमें षड्गुण परिपूर्णभावसे विद्यमान हैं जिस प्रकार दीपकसे दूसरे दीपककी उत्पत्ति होनेपर भी, समस्त दीपकही समानधर्मावलम्बी हैं, वैसेही भगवान् श्रीकृष्णजीसे, श्रीराम और नृसिंहजीकी अभिव्यक्ति होनेपरभी, यह तीनोंही षड्गुणके परावस्थापन्न हैं ।" ॥ ८ ॥ इति ।

तत्र श्रीनृसिंहः ।—

"प्रह्लादहृदयाह्लादं भक्ताविद्याविदारणम् ।
शरदिन्दुरुचिं वन्दे पारीन्द्रवदनं हरिम् ॥"

---

१ इस प्रकारके अज्ञता और मात्सर्यपरिपूरित वाक्य तत्त्वनिर्णायक नहीं होसकते ॥ ७ ॥

२ ऐश्वर्य (प्रभावातिशय) वीर्य (मणि, मंत्र, और महौषधिकी नाईं आचिन्त्यप्रभाव) यशः (सद्गुणशाली कहकर विख्यात) श्री (सर्वविधसम्पत्ति) ज्ञान (सर्वज्ञता) वैराग्य (प्रपंचमें अनासक्ति) इन छः गुणोंको षड्गुण कहतेहैं । तीनोंमेंही समभावसे षाड्गुण्यकी परिपूर्ति कहनेपरभी, उत्तरोत्तर षड्गुणकी पूर्तिकी अधिकाई है । एक दीपकसे अनेक दीपकोंकी उत्पत्ति होनेपरभी, जिस प्रकार मूलदीपककी प्रधानता है, वैसेही श्रीकृष्णजीसे और अवतारोंकी अभिव्यक्ति होनेपरभी, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजीमें भगवत्ताकी आधिक्यता रहेगी । वास्तवमें इस श्लोकको साधारण प्रतीतिके अनुसार कहाहै ॥ ८–१३ ॥

"वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे॥"
(भा० १ । १ । १, १० । ८७ । १ स्वा०टी०)
"गम्भीरगर्जितारम्भस्तम्भिताम्भोजसम्भवः।
संरम्भः स्तम्भपुत्रस्य मुनिनोज्जृम्भितो नृपे॥ ९॥"

टिप्प०—त्रयाणां पृथक् तथात्वं दर्शयति। तत्र श्रीनृसिंहस्याह, प्रह्लादेति। पारीन्द्रवदनं—सिंहास्यम्॥ वागीशा—सरस्वती। संविन्—सार्वज्ञशक्तिः॥ गम्भीरेति। स्तम्भपुत्रस्य—श्रीनृसिंहस्य, संरम्भः—क्रोधः, मुनिना—नारदेन, नृपे—युधिष्ठिरे, उज्जृम्भितः—तं प्रति वर्णित इत्यर्थः। एते त्रयः श्लोकाः श्रीधरस्वामिनां बोध्याः॥ ९॥

भा०टी०—तिनमें श्रीनृसिंहजी। "जो प्रह्लादके हृदयमें आनन्दघनरूपसे विराजमान हैं, और भक्तवृन्दोंकी अविद्याको दूर करनेवाले हैं, जिनके अंगकी कान्ति शरद् ऋतुके चन्द्रमाकी समान है, उन सिंह-मुख हरिकी वन्दना करताहूं।" "जिनकी तुण्डके आगे सरस्वतीजी नृत्य करती हैं, छातीमें स्वर्णरेखाके रूपसे लक्ष्मीजी स्थित हैं, और हृदयमें अत्यूर्ज्जित सर्वज्ञताशक्ति देदीप्यमान है, मैं उन्हीं नृसिंह देवका भजन करताहूं" "जिनके गंभीर गर्जनोद्यमने, ब्रह्माजीको स्तम्भित किया था, देवर्षि नारदजीने, महाराज युधिष्ठिरके निकट उन स्तम्भपुत्र श्रीनृसिंहजीके क्रोधका वर्णन किया था।"॥ ९॥

नृसिंह

यथा श्रीसप्तमे (भा० ७। ८। ३२—३३)—

"सटावधूता जलदाः परापतन्
ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः।
अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभु-
र्निर्ह्रादभीता दिगिभा जहुर्दिशः॥
द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसंकुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदाभिपीडिता।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे॥ १०॥" इति।

टि०प०—दैत्यवधव्यग्रस्य नृहरेराटोपमाह, सटेति । तदिति—अव्ययं दष्टचन्तं, तेन चतुर्णामन्वयः । तस्य, सटाभिः—स्कन्धरोमभिः, अवधूता जलदाः परापतन्—व्यशीर्य्यन्त । ग्रहास्तद्दृष्टिभिः, विमुष्टरोचिषः—प्रनष्टप्रभाः, जाताः । दिगिभाः—दिग्गजाः ॥ तस्य सटाभिरुत्क्षिप्तानि विमानानि तैः, सङ्कुला—व्याप्ता सती, द्यौः, प्रोत्सर्पत—स्वस्थानाद् अचलत् । स्फुटमन्यत् ॥ १० ॥

भा०टी०—यथा श्रीसप्तममें,—"उन श्रीनृसिंहजीकी सटासे आहत होकर जलदावली तित्तर वित्तर होगई, ग्रहगणोंकी प्रभा उनकी नेत्रज्योतिसे जातीरही और श्वासकी वायुसे समुद्र खलबलागये थे । आक्रोशके शब्दको सुनकर भयके मारे दिग्गजोंने अपनी २ दिशाको छोडदिया था ॥ उनके केशरके आघातसे विक्षिप्त होकर विमानोंकी श्रेणीने आकाशमार्गको संकुलित किया था, चरणोंसे पीड़ित हो पृथिवी अपने स्थानसे भ्रष्ट हुई, वेगके मारे पर्वत उछलने लगे, और अंगकी ज्योतिसे आकाश व समस्त दिशायें निस्तन हो गई थीं ।" ॥ १० ॥ इति ।

"उग्रोऽप्यनुग्र एवायं स्वभक्तानां नृकेसरी ।
केसरीव स्वपोतानामन्येषामुग्रविग्रहः ॥ ११ ॥"

टि०प०—नन्वेवं संरम्भवांश्चेत् श्रीनृसिंहस्तर्हि तत्सेवा दुष्करेति चेत् ? तत्राह, उग्रोऽपीति । स्वभक्तानान्तु चन्द्रशीतल इति भावः ॥ ११ ॥

भा०टी०—"सिंह जिसप्रकार औरोंके निकट उग्रमूर्ति होकर भी अपनी सन्तानके निकट सदा अनुग्र रहता है, वैसेही यह नृसिंहजी औरके निकट उग्र होकर भी अपने भक्तोंके निकट सर्वदाही अनुग्र हैं ।" ॥ ११ ॥

[भा० ७ । ९ । १ स्वा० टी०]

अस्य श्रीदिव्यसिंहस्य परमानन्दतुन्दिलः ।
श्रीमन्नृसिंहतापिन्यां महिमा प्रकटीकृतः ॥ १२ ॥

टि०प०—ननु परावस्थश्चेत् श्रीनृसिंहस्तर्हि तदनुगुणमहिमा वाच्यः? तत्राह, अस्य श्रीति ॥ १२ ॥

भा०टी०—इन श्रीनृसिंहजीकी परमानन्दमय महिमा श्रीनृसिंहतापिनी ग्रन्थमें भलीभांतिसे वर्णित है ॥ १२ ॥

नृसिंहस्य भवेद्दासो जनलोके म ात्मनः ।
सर्वोपरिष्टाच्च तथा विष्णुलोके प्रकीर्त्तितः ॥ १३ ॥

टिप्प०—तस्य निवासमाह, नृसिंहस्येति । सर्वोपरिष्टात् विष्णुलोके—परव्योम्नीत्यर्थः ॥ १३ ॥

भा०टी०—जनलोक और सबके ऊपर विराजमान विष्णुलोक अर्थात् परव्योम यह श्रीनृसिंहजीका वासस्थान है ॥ १३ ॥

श्रीराघवेन्द्रः ।—

पूर्वतोऽप्येष निःशेषमाधुर्यामृतचन्द्रमाः ।
भाति सद्गुणसंघेन तुङ्गः श्रीरघुपुंगवः[1] ॥ १४ ॥

टिप्प०—अथ श्रीरामचन्द्रस्य परावस्थत्वमाह, पूर्वतोऽपीति—श्रीनृसिंहादपीत्यर्थः । तत्र प्रभावभूमा, इह तु माधुर्य्यभूमापीति भावः ॥ १४ ॥

भा०टी०—श्रीरामचन्द्रजी । अशेष माधुर्य और सद्गुणराशिकी बहुतायतसे अभिव्यक्ति होनेके कारण, श्रीनृसिंहजीसे श्रीरामचन्द्रजीमें षाड्गुण्यपूर्तिकी अधिकता है ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी

पाद्मे—

"वन्दामहे महेशानं हरकोदण्डखण्डनम् ।
जानकीहृदयानन्दचन्दनं रघुनन्दनम् ॥ १५ ॥"

टिप्प०—महेशानं—सर्वेश्वरम् ॥ १५ ॥

भा०टी०—पद्मपुराणमें—"जिन्होंने महादेवजीके धनुषको तोड़ा था, एवं जो श्रीजानकी-हृदयके आनन्द-दायी चन्दनस्वरूप हैं, उन सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजीकी वन्दना करता हूँ ।" ॥ १५ ॥

अस्य जन्मोत्सवं ब्रूते श्रीरामार्च्चनचन्द्रिका ॥
यथा (रा० चं० ५१०)—

"उच्चस्थे ग्रहपञ्चके सुरगुरौ सेन्दौ नवम्यां तिथौ
लग्ने कर्कटके पुनर्वसुयुते मेषं गते पूषणि ।

---

१ "श्रीरघुपुङ्गवः" इत्यत्र "श्रीरघुनन्दनः" इति पाठान्तरम् ।

२ नृसिंहजीमें प्रभावातिशयका और रघुनाथजीमें माधुर्यातिशयका आविष्कार होनेसे नृसिंहजीसे श्रीरामचंद्रजीमें भगवत्ताकी अधिकाई है ॥ १४—१६ ॥

निर्दग्धुं निखिलाः पलाशसमिधो मेध्यादयोध्यारणे-
राविर्भूतमभूदपूर्वविभवं यत् किञ्चिदेकं महः ॥ १६ ॥"

टिप्प०—अस्य इति—श्रीरामस्य । जन्मोत्सवोऽपि तत्त्वमस्य व्यञ्ज-यतीत्यर्थः ॥ उच्चस्थे इति—जन्मपत्रीगम । मेध्यात—पवित्रात, अयो-ध्यारूपात् अरणेः सकाशात, एकं—मुख्यं, महः—तेजः, आविर्भूतं—प्रक-टम, अभूत् । कीदृशं तत् ? इत्याह, यत्किञ्चित्—निर्व्वक्तुमशक्यम, यतः, अपूर्वविभवम्—आश्चर्य्यगुणरूपविभूतिकम् । किमर्थमुदभूत ? इत्यत्राह, निखिलाः—सर्व्वाः, पलाशसमिधो निर्दग्धुं; पलाशाः—मां-साशिनो राक्षसाः, तद्रूपाः, समिधः—काष्ठानि इत्यर्थः । कदेदमभूत ? इत्यत्राह, चैत्रशुक्लनवम्यां तिथौ, ग्रहपंचके—सूर्य्य-मङ्गल-बृहस्पति-शुक्र-शनि-रूपे, उच्चस्थे-मेष-मकर-कर्कट-मीन-तुलासु क्रमेण स्थिते स-तीत्यर्थः; मेषस्य दशमेंऽशे सूर्य्ये, मकरस्य तृतीयेंऽशे भौमे, कर्कटस्य अष्टाविंशेंऽशे गुरौ, मीनस्य सप्तविंशेंऽशे शुक्रे, तुलायाः विंशेंऽशे शनौच स्थिते सतीत्यर्थः। किञ्च कर्कटे लग्ने, सेन्दौ गुराविति गुणविशेषः॥१६॥

भा०टी०—रामार्चनचन्द्रिका ग्रन्थमें इन श्रीरघुनाथजीके जन्मका वर्णन लिखा है। यथा—

श्रीरामचन्द्रजीकी जन्मपत्री

"जिस कालमें सूर्य, मंगल, बृहस्पति, शुक्र और शनि यह पांच ग्रह अपने २ उच्चस्थानमें अर्थात् मेष, मकर, कर्क, मीन और तुलाके दश-मादि अंशमें क्रमानुसार स्थित हैं, बृहस्पति चन्द्रमाके साथ कर्कराशिमें थे और सूर्य मेष राशिमें थे, उस कालमें जिनका वैभव लोकातीत हुआ, उस अनिर्वचनीय किसी मुख्य त-जने, राक्षसकुलकाष्ठराशिको दग्ध करनेके लिये अतिपवित्र अयोध्यारूप अरणिसे अवतार लिया था।" ॥ १६ ॥

एकादशे (भा० ११ । ५ । ३४)—

"त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्म्मिष्ठ आर्य्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधाव-
द्वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम् ॥ १७ ॥"

दशमादिअंशमें—अर्थात् राशिमानके तीस भाग करके मेषके दशमांशमें सूर्य, मकरके तीसरे अंशमें मंगल, कर्कके अट्ठाईसवें अंशमें बृहस्पति, मीनके सत्ताईसवें अंशमें शुक्र और तुलाके बीसवें अंशमें शनि होनेपर ॥ १६–१९ ॥

टिप्प०-करभाजनः श्रीरामपादाब्जं प्रणमति, त्यक्त्वेति । हे महापुरुष !-श्रीदाशरथे !, यत् ते चरणारविन्दं कर्तृ, अन्यैः सुदुस्त्यजां सुरैरीप्सितां राज्यलक्ष्मीम्, आर्यवचसा-पित्राज्ञया, त्यक्त्वा अरण्यम् अगात् । यच्च, दयितया-जानक्या, ईप्सितं मायामृगं कनकहरिणम् अन्वधावत्, तदहं वन्दे । धर्म्मिष्ठेति-निमिं प्रति सम्बोधनम्, असन्धिरार्षः ॥ १७ ॥

भा०टी०-एकादशमें-"हे धर्मिष्ठ ! जो चरण पिता दशरथजीकी आज्ञासे औरके न छोड़ने योग्य और देवताओंको भी अभीप्सित राज्यलक्ष्मीको छोड़कर वनमें गये थे. और प्रेयसी सीतादेवीके अभीष्ट सुवर्णमृगमें अनुगत हुए थे, हे पुरुषोत्तम ! तुम्हारे उनहीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ "॥ १७ ॥

श्रीनवमे (भा० ९ । ११ । २०-२१)-

"नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयात्त-
लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः ।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः
किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः ॥
यस्यामलं नृपसदःसु यशोधुनापि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम् ।
तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥ १८ ॥" इति ।

टिप्प०-नेदमिति शुकवाक्यम् । जलधिबन्धनं-सिन्धौ सेतुनिर्म्माणम्, अस्त्रपूगैश्च रक्षसां वध इति, इदं कविभिराश्चर्य्यमिव वर्णितमपि रघुपतेः,यशः-स्तुतिः;न भवति।तत्र हेतुः,अधिकेति-निरुपमप्रभावस्येत्यर्थः।ईदृशस्य किं शत्रुहनने कपयः सहाया भवन्ति? नेत्यर्थः; तथा च सुग्रीवाद्याश्रयणं विनोदमात्रमिति।युक्तञ्चैतदित्याह, सुरेति।सुराणांब्रह्मादीनां, याच्ञया कर्त्र्या, आत्ता-प्राप्ता, लीलातनुर्यस्येति, भूभारापहरणाय यो देवैरभ्यर्थ्यावतारित इत्यर्थः ॥ ईदृशविनोदमेव प्रयोजनं दर्शयन् प्रणमति, यस्येति । नृपाणां-युधिष्ठिरादीनां, सदःसु, यस्य यशः, ऋषयः-मार्कण्डेयादयः, अद्यापि गायन्ति । कीदृग्

तन ? इत्याह, दिगिभेन्द्राणां पट्टं, तद्वदाभरणभूतं, दिगन्तव्यापीत्यर्थः । तं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये इति सम्बन्धः । तं कीदृशम् ? इत्याह, नाकपालानाम्–इन्द्रादीनां, वसुपालानां–राज्ञाञ्च, किरीटैर्जुष्टे पादाम्बुजे यस्येति ॥ १८ ॥

भा०टी०–श्रीनवममें–"जिन्होंने ब्रह्मादि देवतालोगोंके प्रार्थना करनेपर लीलामय शरीरप्रपंचको प्रगट किया था, जिसके लिये अधिक और समान कुछ नहीं है, उन श्रीरामचन्द्रजीके अस्त्रसे राक्षसकुलका संहार होना, और समुद्रमें सेतु बाँधना, इत्यादि कार्य उनकी कीर्तिमें नहीं गिने जासकते । और शत्रुका नाश करनेके लिये वानरगण क्या उन रामचन्द्रजीके सहायक होसकते हैं ? अर्थात् यह तो केवल उनका कौतुक है ॥ मार्कण्डेय-आदि ऋषिगण पुण्यश्लोक राजाओंकी सभामें अबतक उनकी दिगन्तव्यापी और पापनाशक यशोराशिको गाया करते हैं, और इन्द्र व राजालोगोंके किरीटसमूह जिनके दोनों चरणोंकी सेवा करते हैं, मैंने उन्हीं श्रीरामचन्द्रजीकी शरण ग्रहण की ।" ॥ १८॥ इति॥

अत्र कारिका ।–

आत्ता प्रकटिता लीलातनुर्लीलामयी तनुः ।
येन तस्येति साम्येति स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययो मतः ॥
धाम स्वरूपं विज्ञेयमधिकेन समेन च ।
विमुक्तं धाम यस्येति माहात्म्यं सर्वतोऽधिकम् ॥
यस्याधिकः समश्चात्र क्वापि नास्तीति निश्चयः ।
नाकपाला महेन्द्राद्या वसुपा वसुधाधिपाः ॥ १९ ॥

टिप्प०–नेदमित्यादिपद्यद्वयं कारिकात्रयेण व्याचष्टे, आत्तेत्यादिना । स्वरूपस्य ग्रहणासम्भवात् प्रकटितेति ॥ वसुपाइति वसुशब्देन वसुधा लक्ष्यते ॥ १९ ॥

भा०टी०–इन दो श्लोकोंकी कारिका ।–तिनमें "आत्तलीलातनोः।" इसकी व्याख्या। आत्त–प्रकटित, लीलातनु; जिन्होंने लीलामय शरीरको प्रकट किया है । "अधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः ।"–साम्य–सम–(सम शब्दके उत्तर स्वार्थमें ष्यञ्प्रत्ययद्वारा साम्यपद निष्पन्न हुआ है,) धाम–स्वरूप । जिसका धाम अधिक और समरहित, अर्थात् कहींपर भी जिसका अधिक और समान नहीं है, जिसका माहात्म्य सर्वाधिक है, इससे यही निश्चय हुआ ॥ "नाकपाल ।" इत्यादिकी व्याख्या ।–नाकपाल–इन्द्रादि देवता । वसुप–भूाधिप ॥ १९ ॥

वासुदेवादिरूपाणामवताराः प्रकीर्त्तिताः ।
विष्णुधर्मोत्तरे रामलक्ष्मणाद्याः क्रमादमी ॥
पाद्मे तु रामो भगवान्नारायण इतीरितः ।
शेषश्चक्रश्च शंखश्च क्रमात्स्युर्लक्ष्मणादयः ॥ २० ॥

टिप्प०—रामादीनां चतुर्णां याथार्थ्यमाह, वासुदेवादीत्यादिना । आदिशब्देन भरतशत्रुघ्नौ । तथा च नारायणस्य चत्वारो व्यूहाः क्रमात् रामादयो विष्णुधर्म्मोत्तरेणोक्ताः ॥ मतान्तरमाह, पाद्मे इति । आदिना भरताद्यौ ग्राह्यौ । तदिदं कल्पभेदेनैव सम्भाव्यम् ॥ २० ॥

भा०टी०—विष्णुधर्मोत्तरमें राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नको क्रमानुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धका अवतार कहकर निर्देश किया है ॥ पद्मपुराणमें श्रीरामचन्द्रजीको नारायण और लक्ष्मणादिको क्रमानुसार शेष, चक्र, और शंख कहकर कीर्त्तन किया है ॥ २० ॥

मध्यदेशस्थितायोध्यापुरेऽस्य वसतिः स्मृता ।
महावैकुण्ठलोके च राघवेन्द्रस्य कीर्त्तिता ॥ २१ ॥

टिप्प०—अथास्य चतुर्विधरूपस्य भगवतो निवासमाह, मध्येति । अस्य—राघवेन्द्रस्य, सभ्रातृकस्य सभृत्यवर्गस्येति बोध्यम् । एतेन नृसिंह-रामयोः "एते चांशकलाः" (भा० १ । ३ । ३८) इति वाक्यात प्राप्तमंशत्वमपोहितम् ॥ २१ ॥

भा०टी०—इन श्रीरामचन्द्रजीके वास करनेका स्थान, मध्यदेशस्थित अयोध्यापुरी और महावैकुण्ठलोक है ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णः । बिल्वमङ्गले—
"सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतो भद्राः ।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ॥ २२ ॥"

टिप्प०—अथ श्रीकृष्णस्य परावस्थामाह, सन्त्विवति । यत्तु रामे वनवासाय निर्गते वृक्षादिभिरपि रुदितमिति श्रीरामायणेऽप्युक्तं, तत्खलु तदैव विच्छेददुःखेनैव । इह तु संयोगेऽपि प्रतिदिनमपि तद-

१ किसी कल्पमें वासुदेवादि, किसी कल्पमें नारायणादि, रामादिरूपसे अवतरे थे । इस प्रकारसे दोनों शास्त्रोंका विरोध दूरकरनाहोगा ॥ २०—२२ ॥

स्तीति "त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं यद्गो-द्विज-भ्रम-मृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥" (भा० १० । २९ । ४०) "प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवो ववृषुःस्म॥" (भा०१०।३५।९) इत्यादिवाक्यादवगतम् । दूरप्रवासे तु परिषदां सौन्दर्य्यमात्रशेषतया अवस्थितिमात्रमभूत्, इति ततो महानतिशयः । अत्र "गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्द्धमनन्यसिद्धम् ।" (भा० १० । ४४ । १४) इत्यादिवाक्ये सत्यपि, अस्योदाहरणत्वमभियुक्तवाक्यत्वेन निर्णायकत्वात् । पुष्करनाभस्येति-प्रतीतानुवादः, अप्रकटप्रकाशगतस्य स्वयं भगवत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

भा०टी०-श्रीकृष्णजी ।-बिल्वमंगलमें-"पद्मनाभके सर्वमंगलदायी विविध अवतार हों, परन्तु श्रीकृष्णजीके अतिरिक्त ऐसा कौन हुआ है कि, जो लतादिकोंको भी प्रेमदान किया करते हों ।" ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण ।

परमैश्वर्य्य-माधुर्य्य-पीयूषापूर्ववारिधिः ।
देवकीनन्दनस्त्वेष पुरः परिचरिष्यते ॥
यस्य वासः पुराणादौ ख्यातः स्थानचतुष्टये ।[१]
व्रजे मधुपुरे द्वारवत्यां गोलोक एव च ॥ २३ ॥

टिप्प०-परमेति । देवकीनन्दन इति श्लिष्टमुक्तम्, अत्र विशेषं व्यञ्जयिष्यामः, नन्दसुतो वसुदेवसुतश्च कृष्ण इत्यर्थः । पूर्वत्र नरलीलाकैवल्यात् माधुर्य्यमेव बहु, इह तूभयं तुल्यमिति ततोऽतिशयः । ऐश्वर्य्यसम्पृक्तं खलु माधुर्य्यमतिचारुदर्पणपिहितचित्रवत्, माधुर्य्यसंयुक्तमैश्वर्य्यञ्चातिसुखकरं रङ्गपारदलिप्ताधारकदर्पणवत्, इत्युभयामृतवैशिष्ट्यात् इहैवातिशयित्वम् । परिचरिष्यते-निर्णेष्यते इत्यर्थः । यस्येति-प्रकटार्थः । पणपूरणन्यायेन सर्वेषां चतुष्टयत्वादेकत्रैव एवकारान्वयोऽत्र न्याय्यः ॥ २३ ॥

भा०टी०-पारमैश्वर्य और माधुर्यामृतके अलौकिकसमुद्र इन देवकीनन्दनका परिचय प्रथम देंगे । व्रज, मधुपुर, द्वारका और गोलोक, इन चार स्थानोंमें उनका वास है यह पुराणादिमें प्रसिद्ध है ॥ २३ ॥

---

१ श्रीनृसिंहजीमें ऐश्वर्याधिक्य, श्रीरामचंद्रजीमें मधुरताकी अधिकाई, परन्तु श्रीकृष्णजीमें ऐश्वर्य और मधुरता तुल्यरूपसे विराजमान है । इस कारण श्रीकृष्णजीमें भगवत्ताका अत्यंत विकाश है ॥ २३ ॥

ननु सिंहास्यरामाभ्यां साम्यमस्यागतं स्फुटम् ।
इति विष्णुपुराणीयप्रक्रियात्र विलोक्यते[1] ॥ २४ ॥

टिप्प०—अत्र कश्चित् शङ्कते, नन्विति । कृष्णस्य स्वयंरूपत्वमुक्तापि नृसिंहादिना तस्य साम्यं ब्रुवन् उक्तविस्मर्त्तायं ग्रन्थकृदिति भावः । परिहर्त्तुमाह, इतीति । क्रमसोपानन्यायेन कृष्णयाथात्म्यारोहणात्रोक्तविस्मर्तृत्वमिति भावः ॥ २४ ॥

नृसिंह और श्रीरामचन्द्रजीके समतानिरासार्थ विष्णुपुराणकी प्रक्रिया ।

भा०टी०—यदि कहो कि, पूर्वोक्त वाक्यसे श्रीराम व श्रीनृसिंहजीके साथ श्रीकृष्णजीकी समता होगई, इस शंकाके दूर करनेको इस स्थानमें विष्णुपुराणकी प्रक्रिया दिखाते हैं ॥ २४ ॥

तत्र मैत्रेयप्रश्नः, चतुर्थेऽंशे (वि० पु० ४ । १५ । १—१०)—
"हिरण्यकशिपुत्वे च रावणत्वे च विष्णुना ।
अवाप निहतो भोगान् अप्राप्यान् अमरैरपि ॥
नालभत्तत्र चैवेह सायुज्यं स कथं पुनः ।
सम्प्राप्तः शिशुपालत्वे सायुज्यं शाश्वते हरौ ॥ २५ ॥"

हिरण्येति । सायुज्यं—सहयोगं, न तु स्वरूपैक्यं, सयुजो भावः सायुज्यमिति व्युत्पत्तेः, "यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव हि महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोति " (म० ना० उ० २५ । १) इत्यादिश्रुतौ तथैव निर्णयाच्च । तथा च हिरण्यकशिपो रावणस्य च भगवता निहतस्यापि मोक्षो माभूत्, शिशुपालस्य सतस्तेन निहतस्य सोऽभूत्, इति नृसिंहादिषु त्रिषु किं स्वरूपकृतं गुणकृतं वा किञ्चित तारतम्यमस्ति ? इति वाच्यमित्यर्थः ॥ २५ ॥

भा०टी०—इस विष्णुपुराणके चौथे अंशमें मैत्रेयजीका प्रश्न—"हिरण्यकशिपुकी और रावणकी देहने विष्णुजीके द्वारा निहत होकर, ऐसा भोग्य प्राप्त किया था कि, जो दैत्य और देवताओंको दुर्लभ है, परन्तु उनकी मुक्ति नहीं हुई । वही दैत्य फिर किस प्रकारसे शिशुपालकी देहकरके शाश्वत श्रीकृष्णजीसे सायुज्य प्राप्त करते हुए ? " ॥ २५ ॥

श्रीपराशरोत्तरं—
"दैत्येश्वरस्य वधायाखिललोकोत्पत्तिस्थितिविनाश-

---

[1] "विलोक्यते" इत्यत्र "विलिख्यते" इति पाठान्तरम् ।

कारिणा अपूर्वतनुग्रहणं कुर्व्वता नृसिंहरूपमाविष्कृतम् ।
तत्रहिरण्यकशिपोर्विष्णुरयमित्येतन्न मनस्यभूत् ।
निरतिशयपुण्यजातसमुद्भूतमेतत्सत्त्वमितिरजोद्रेक-
प्रेरितैकाग्रमतिस्तद्भावनायोगात् ततोऽवाप्तवधहैतुकीं
निरतिशयामेवाखिलत्रैलोक्याधिक्यधारिणीं दशाननत्वे
भोगसम्पदमवाप ॥ २६ ॥

टिप्प०—स्वरूपभेदाभावेऽपि गुणव्यक्तिकृतं तदस्तीति भावेनाह; दैत्येति । दैत्येश्वरस्य—हिरण्यकशिपोः वधाय कृते, भगवता नृसिंहरूपम्,आविष्कृतम्-वैदूर्य्ये रूपान्तरमिव स्वस्मिन् स्थितमेव प्रकटितमित्यर्थः । कीदृशेन ? इत्याह,अपूर्वा—पूर्वमदृष्टा, या तनुः-नृहरिरूपा, तस्याः,ग्रहणम्—आविष्कृतमित्युक्तेः प्राकट्यम्, कुर्व्वतेति ॥ननु कृष्णस्यैव नृसिंहत्वात् तत्करेण हतस्यापि कुतो न मोक्षः? तत्राह, तत्रेति । वेवेष्टि स्वरूपनामगुणलावण्येन ध्यातुर्हृदयमिति विष्णुः, तद्धीविरहात् मोक्षजनिकाया अनुरञ्जनशक्तेस्तस्मिन् रूपेऽनुदयात् तदभाव इत्यर्थः॥ तर्हि किंबुद्धिस्तस्याभूत ? तत्राह, निरतीति । सत्त्वं-प्राणिविशेषः । कुतः सा बुद्धिस्तस्याभूत् ? तत्राह, रज इति—रजोगुणविभ्रान्तत्वादित्यर्थः। किन्तु नृसिंहेतितेजस्विप्राणित्वभावनायोगात् तत्करेण वधाच्च हेतोरुत्तरजन्मनि सुरदुर्ल्लभभोगसम्पत एव अभूदित्याह, तद्भावनेत्यादिना ॥ २६ ॥

भा०टी०--श्रीपराशरजीका उत्तर—"अखिल लोककी सृष्टि, स्थिति, संहारके कर्त्ता भगवान् हैं. दैत्याधिपका वध करनेके लिये अलौकिक शरीरको ग्रहण करके नृसिंहमूर्त्तिका आविष्कार किया था।उस कालमें हिरण्यकशिपुकी, नृसिंहजीमें 'यह विष्णु हैं।' ऐसी बुद्धि न हुई । उसने इनको किसी पुण्यराशिसे उत्पन्न हुआ, प्राणिविशेष समझा था । रजोगुणका विकाश होनेके कारण मृत्युके समयमें उनके रूपका ध्यान नहीं करसका, केवल उनके हाथसे मारे जानेके फलसे, रावणदेहको पाय, इस प्रकारकी भोगसम्पत्तिको प्राप्त किया था जो त्रिलोकीमें अत्यन्त दुर्लभ है॥ २६ ॥

नातस्तस्मिन्ननादिनिधने परब्रह्मभूते भगवत्यनालम्बनीकृते मनसस्तल्लयम् ॥ २७ ॥

---

१ "समुद्भूत" इत्यत्र "सम्भूत" इति पाठान्तरम् । २ "रजोद्रेक" इत्यत्र सन्धिरार्षः ।

टिप्प०–सर्वोत्तमत्वनिश्चयेन अतिद्वेषेण वा वस्तुनि मनसो निवेशः स्यात्, तदुभयाभावादेव दैत्येश्वरस्य नृहरौ मनोलयो नाभूत्, येन मोक्षः स्यादित्याह, नातस्तस्मिन्नित्यादिना।तस्मिन् भगवति–नृहरौ। कीदृशि ? इत्याह, अनालम्बनीकृते–मनोनिवेशविषयतामप्राप्ते इत्यर्थः । मनसस्तल्लयं न अवापेति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ २७ ॥

भा०टी०–इसही हेतुकरके उन अनादिनिधन परब्रह्म भगवानको मनोवृत्तिका विषय न कर सकनेके कारण, उसका मन उनमें लीन नहीं हो सका ॥ २७ ॥

दशाननत्वेऽप्यनङ्गपराधीनतया जानकीसमासक्तचेतसो दाशरथिरूपधारिणस्तद्रूपदर्शनमेवासीत् । नायमच्युत इत्यासक्तिर्विपद्यतोऽन्तःकरणे मानुषबुद्धिरेवकेवलम् अस्याभूत्।पुनरप्यच्युतविनिपातनमात्रफलम् अखिल-भूमण्डलश्लाघ्यं चेदिराजकुले जन्म अव्याहतश्चैश्वर्य्यं शिशुपालत्वे चावाप ॥ २८ ॥

टिप्प०–ननु कृष्णस्यैव दाशरथित्वात् तत्करेण हतस्यापि मोक्षः कुतो नाभूदिति चेत्? तत्रापि मोक्षजनकतच्छक्तेरनुदयात् न सइत्याह, दशाननत्वेऽपीति । अनङ्गाधीनतया अतिमनोज्ञतरुणीत्वबुद्ध्या न तु लक्ष्मीत्वबुद्ध्या, जानक्यां समासक्तचेतसो दशाननस्य, दाशरथिरूपधारिणः कृष्णस्य, तद्रूपदर्शनमेवासीत्–पुण्यवशात् राजकुले लब्धजन्मायमित्यवैदित्यर्थः ॥ न तु,अच्युतः–नित्यस्वरूपगुणविभूतिकः सर्वोत्तमो विष्णुरयम्, इत्यासक्तिस्तस्यान्तःकरणेऽभूत्, येन मोक्षः स्यात्। कीदृशस्य ? इत्याह, विपद्यतः–विपद्ग्रस्तस्येत्यर्थः । किन्तु केवला मानुषबुद्धिरेवोदैत,तथा च दाशरथिरूपेऽपि तच्छक्तेरनुदयात् न स इति भावः । यत्तु मन्दोदर्य्याक्षिप्तस्य दशाननस्य तज्ज्ञानमुक्तम्, तच्च तदाभासमात्रमेव, तदावेशाऽनुदयात, इति बोध्यम् । किन्तु तद्धेतुकात् वधात् परजन्मनि भोगसम्पदेवाभूदित्याह, पुनरपीति । अच्युतः–दाशरथिः, तेन यत्, विनिपातनं–मरणं, तन्मात्रस्य फलम्, उत्कृष्टकुले जन्म ऐश्वर्य्यञ्च महदवापेति । आवृतभगवद्रूपदर्शनात् तेन मरणाच्च स्वर्गात् दिव्यसम्पदश्च प्राप्तिरित्याह सूत्रकृत्–"न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।" (ब्र० सू० ३ । ३ । ५३) इति । स्मृ-

तिश्च—"सामान्यदर्शनाल्लोका मुक्तिर्योग्यात्मदर्शनात् ।" (नारायणतन्त्रे) इति । विष्णुत्वेनाग्रहणमेव तद्रूपस्याव्रतत्वं बोध्यम् ॥ २८ ॥

भा०टी०—रावणकी देहमें कामवश होजानेके कारण जानकीजीमें आसक्तचित्त होकर, दशरथकुमारके रूपसे प्रगट हुए भगवानूका केवल रूपही देखा था । किन्तु मरणके समयमें उसनें श्रीरामचंद्रजीमें विष्णुबुद्धि न की, वरन् उसके अन्तःकरणमें केवल मनुष्यबुद्धिही उदित हुई थी । तदुपरान्त पुनर्व्वार श्रीरामचंद्रजीके हाथसे मारेजानेके फलसे—शिशुपालकी देहको पाय, समस्त पृथ्वीके श्लाघनीय चेदिराजवंशमें जन्म लिया । और अप्रतिहत ऐश्वर्यको प्राप्त किया था ॥ २८ ॥

तत्र त्वखिलानामेव भगवन्नाम्नांकारणान्यभवन् । ततश्च तत्कारणकृतानां[1] तेषामशेषाणामेवाच्युतनाम्नामनवरतानेकजन्मसम्बन्धितद्विद्वेषानुबन्धिचित्तो[2] विनिन्दनसन्तर्ज्जनादिषूच्चारणमकरोत् । तच्चरूपमुत्फुल्लपद्मदलामलाक्षमत्युज्ज्वलपीतवस्त्रधार्य्यमलकिरीटकेयूरकटकोपशोभितमुदारपीवरचतुर्बाहुशंखचक्रगदापद्मधरमतिप्ररूढवैरानुभावादटनभोजनस्नानासनशयनादिष्वशेषावस्थान्तरेषु नैवापययावस्यात्मचेतसः ॥ २९ ॥

टिप्प०—अथ मोक्षजनिकाया मनोरञ्जनशक्तेः स्वयंरूपे कृष्णे सर्वदाभिव्यक्तेस्तया मनसोऽभिनिवेशात् तत्करेण निहतस्य तस्य मोक्षोऽभूदित्याह, तत्रत्विति । मनोरञ्जना खलु नाममाधुर्य्येण स्वरूपमाधुर्य्येण च स्यात, तदुभयं कृष्णे प्रव्यक्तमित्याह,तत्र तु–कृष्णे, निखिलानां, भगवतः–लक्ष्मीपतेः, नाम्नां प्रवृत्तौ, कारणानि–दैत्यारित्व–पुण्डरीकाक्षत्व–शार्ङ्गित्व–गरुडवाहनत्वादीनि, अभवन् । वासुदेवादिनाम्नां तत्र प्रवृत्तौ वसुदेवजातत्वादीनि कारणानीति नाममाधुर्य्येण तन्मनोरञ्जना तावदभूत् ॥ ततश्च तैर्नामभिर्विष्णुरयमिति निश्चित्य अनवरतानेकजन्मसम्बन्धि-तद्विद्वेषानुबन्धिचित्तः स शिशुपालः, तत्कारणकृतानां[3] तदादीनां हृद्यानीतानां तेषां नाम्नाम् उच्चारणं निन्द-

१ "तत्कारणकृतानाम्" इत्यत्र "तत्कालकृतानाम्" इति पाठान्तरम् ।
२ "सम्बन्धि–तद्विद्वेषानुबन्धि" इत्यत्र "संवार्द्धितविद्वेषानुबन्धि" इति पाठान्तरम् ।
३ "तत्कारण" इत्यत्र "तत्काल" इति पाठान्तरम् ।

नादिष्वकरोत्, इति विद्वेषात् कृष्णे तस्मिन् मनसो लय उक्तः ॥ अथ स्वरूपमाधुर्य्येण च मनोरञ्जनाभूदित्याह, तच्च रूपमित्यादिना । तत् रूपम्, अस्य–शिशुपालस्य, आत्मचेतसः–कृष्णनिखातमनसः, नैव अपययौ–अपगतं नाभूदित्यर्थः । कुत्र कुत्र ? इत्याह, अटनेत्यादि । कुतो हेतोरेवम ? तत्राह, अतिप्ररूढेति । स्फुटार्थमन्यत् ॥ २९ ॥

भा०टी०–परन्तु उन श्रीकृष्णजीमें वासुदेवादि समस्त भगवन्नामके हेतु विद्यमान थे, अर्थात् शिशुपालने उन सब नामोंसे श्रीकृष्णजीका 'विष्णु' होना निश्चय किया था । बहुत जन्मतक भगवान्के साथ विद्वेष करनेसे, उसके चित्तमें वह विद्वेषही बढ़ा था । अत एव अनवरत वैर करनेके कारण निन्दा व तर्जनादिमें उन समस्त भगवन्नामोंको उच्चारण किया करता था । और बँधेहुए वैरके प्रभावसे अटन, भोजन, स्नान, उपवेशन और शयनादि भिन्न भिन्न अवस्थाकी किसी अवस्थामेंही, प्रफुल्ल–पद्म–पत्रकी समान, अमल लोचनयुगलसे रमणीय, अत्यन्त उजले पीतवस्त्रसे युक्त; प्रकाशमान किरीट, केयूर और वलयसे सुशोभित, सुवलित और आयत, चारभुजाओंसे भूषित; शंख, चक्र, गदा और पद्मसे अलंकृत, वह भगवद्रूप किसी प्रकारसेभी शिशुपालके कृष्णाविष्ट चित्तसे दूर नहीं हुआ ॥ २९ ॥

ततस्तमेवाक्रोशेषूच्चारयन् तमेवहृदयेनावधारयन्
आत्मविनाशाय भगवद्स्तचक्रांशुमालोज्ज्वलम्
अक्षयतेजःस्वरूपं परब्रह्मभूतम् अपगतद्वेषादिदोषो
भगवन्तमद्राक्षीत् ॥ ३० ॥

टिप्प०–विद्वेषहेतुकेनापि नामोच्चारणेन स्वरूपध्यानेनच स्पर्शाद्दहनवन्न्यायेन दग्धदोषः चक्रसत्प्रसङ्गेन च दर्शितस्वरूपयाथात्म्योपलब्धप्रमा कृष्णं यथावद्न्वभूदित्याह, ततस्तमेवेत्यादिना ॥ ३० ॥

भा०टी०–अनन्तर आक्रोशादिमें उसही नामका उच्चारण और उसही रूपका ध्यान करते करते अन्तसमयमें द्वेषादिसे उत्पन्नहुए अपराधोंको धोकर, अपने विनाशके लिये, भगवत्करके छोड़े हुए, सुदर्शनचक्रकी किरणमालासे उज्ज्वल हुए, अक्षयतेजोरूप, परब्रह्म भगवत्स्वरूपका दर्शन किया था ॥ ३० ॥

तावच्च भगवच्चक्रेणाशु व्यापादितस्तत्स्मरणदग्धाखिलाघ–
सञ्चयो भगवता तेनान्तमुपनीतस्तस्मिन्नेव लयमुपययौ ॥ ३१ ॥

टिप्प०—एवं साधनसम्पत्तिमान् कृष्णेनैवापाकृततद्देहः स्वसामीप्यं नीत इत्याह, तावच्चेत्यादिना । "अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः ।" इति हैमः। लयं—संश्लेषम् ॥ ३१ ॥

भा०टी०—भगवतका स्मरण करनेके प्रभावसे जिसके समस्त कर्मबन्धन भस्म हुए हैं, वह शिशुपाल, तत्काल भगवानके प्रेरण कियेहुए सुदर्शनसे व्यापादित होकर, उनके समीप प्राप्त हो उनमें समायगया था ॥ ३१ ॥

एतच्च तवाखिलं मयाभिहितम् । अयं हि भगवान्
कीर्त्तितः संस्मृतश्च द्वेषानुबन्धेनाप्यखिलसुरासुरादि-
दुर्लभं फलं प्रयच्छति किमुत सम्यग्भक्तिमताम् ॥३२॥" इति ।

टिप्प०—इत्थञ्च त्रयाणां नृसिंहादीनां स्वरूपभेदाभावेऽपि कृष्णे स्वयंरूपे सर्वदाभिव्यक्तसर्वगुणे मोक्षजनक—तच्छक्तेरभिव्यक्तेस्तया मनोरञ्जनया तस्य मोक्षोऽभूत, नृसिंहादितद्रूपद्वये तु तच्छक्तेरनभिव्यक्तेस्तेन निहतस्यापि तस्य न मोक्ष इति त्वत्पृष्टं सर्वमुत्तरितं मयेत्याह, एतच्च तवेति ॥ व्यञ्जितं स्फुटयति, अयं हीति । भगवानिति—नित्ययोगेऽप्यतिशायने मतुप्, "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भा० १ । ३ । २८) इत्युक्तेः, स्वयंरूप इत्यर्थः । फलं—मोक्षलक्षणम् । सम्यग्भक्तिमतान्तु मोक्षतद्वश्यतातिशय इति भावः । अत्र भगवति भक्तिरेव कर्त्तव्यतया मुनिना विवक्षिता, द्वेषस्तु हेयतयैव बोध्यः; "योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नाभक्त्या दृश्यते क्वचित । द्रष्टुं न शक्यो रोषाच्च मत्सराच्च जनार्दनः ॥" इति पाद्मोत्तरखण्डाच्च । तस्मात्तेन मनोनिवेश एव फलकृदिति "तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत ॥" (भा० ७ । १ । ३१) इति श्रीभागवते देवर्षिवाक्यादेव ॥ ३२ ॥

भा०टी०—हे मैत्रेय ! तुमने जो कुछ मुझसे पूंछा था, उन सब प्रश्नोंका प्रत्युत्तर दिया, वैरके अनुबन्धसे इन भगवान् श्रीकृष्णजीका कीर्तन और स्मरण करके ऐसा फल किया जा सकता है कि जो सुरासुरको दुर्लभ है, फिर भक्तिमानोंको सबसे श्रेष्ठ गतिके प्राप्त होनेमें क्या सन्देह है ?" ॥ ३२ ॥

नोक्तं पराशरेणात्र स्थितौ तौ पार्षदाविति ।
किन्तूभयोस्तयोरासीज्जन्मत्रयमितीरितम् ॥

अतः सर्वेषु कल्पेषु न तौ पार्षदजौ मतौ।
अन्यथा न तयोः पातः प्रतिकल्पं समञ्जसः॥ ३३॥

टिप्प०—ननु जयविजययोर्वैकुण्ठद्वारपालयोः सनकादिशापात् वैकुण्ठाद्विभ्रंशः, तृतीयजन्मनि श्रीकृष्णेन निहतयोस्तयोः शापनिवृत्तिपूर्वकस्वपदप्राप्तिर्निर्दिष्टा, इति तृतीयस्कन्धानुसारेणैव पराशरोक्तेर्व्याख्येयत्वात् कथमेतत् श्रीकृष्णस्य स्वयंरूपतायामुदाहरणं? तत्राह, नोक्तमित्यादि। अत्र—श्रीविष्णुपुराणे, तौ पार्षदौ स्थिताविन्यनुक्तेर्जन्मत्रयमात्रोक्तेश्च पराशरेणापि तौ सर्वेषु कल्पेषु पार्षदजौ न मतौ, अन्यथा—प्रतिकल्पं तयोः पार्षदजत्वे तेन मते, वारंवारं वैकुण्ठात् तत्पातः समञ्जसो न स्यात्। अयमर्थः—कल्पावताराः खलु नृसिंहादयः प्रतिकल्पं चेत् पार्षदौ वैकुण्ठाद्विभ्रंश्य ताभ्यां सह युद्धलीलां कुर्य्युरिति स्वीकार्यम्, तर्हि तदुक्तानि हरेर्वात्सल्यवाक्यानि वैकुण्ठानावृत्तिवाक्यानि च व्याकुप्येयुः, तस्मात् प्रतिकल्पमसुरैरेव सह युद्धलीला॥ तृतीयस्कन्धे तु भगवदिच्छयैव वैकुण्ठात् प्रपञ्चे तयोः समागमः कादाचित्कः। तदिच्छा तु, "भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम्। ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतन्तु मे॥" (भा० ३। १६। २९) इति तदुक्तेः। सापि बन्दिगीतस्वामिविक्रमादिदृक्षासमुद्भूतया तयोरिच्छयैवाभूदिति व्याख्यातारः। तदिच्छाधीना तदिच्छा तु "स्वेच्छामयस्य" (भा० १०। १४। २) "भक्तेच्छोपात्तदेहाय" (भा० १०। २७। ११) इत्यादिवाक्येभ्यः। नन्वेवमनावृत्तिवाक्यव्याकोपः? उच्यते। कर्म्मकृता ह्यावृत्तिर्दोषत्वाय, न तु स्वेच्छाकृतापि। अन्यथा हरेरपि प्रपञ्चेऽवतरतः सा शङ्क्येत। न च, अनावृत्तिवाक्यानि परव्योमविषयाणि, न तु सत्यलोकगतवैकुण्ठविषयाणि, इति वाच्यम्, "ततो वैकुण्ठमगमद्भास्वरं तमसः परम्। यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः। शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्त्तते गतः॥" (भा० १०। ८८। २५-२६) इति श्रीदशमे तद्गतादप्यनावृत्तिकथनात्॥ ३३॥

भा०टी०—वह दो दैत्य पहिले भगवत्पार्षद जय और विजय थे, पराशरजीने यह कथ न कहकर, उनका तीनवार जन्म हुआ था, केवल यही कहा है ॥ अतएव भगवत्के वह दोनों पार्षद समस्त कल्पोंमें असुर होकर जन्मे थे यह पराशरका अभिमत नहीं है, यदि ऐसा न हो तो यह बात बड़ीही असंगत है कि प्रत्येक कल्पमें नारायणजीके पार्षदोंका पतन होता है ॥२३॥

विष्णुपुराणोक्तहिरण्यकशिपु आदि असुर भगवत्पार्षद जय विजय नहीं हैं।

पराशरेण यद्गद्यं मैत्रेयायोत्तरीकृतम् ।
श्लोकीकृत्य तदेवेदं संक्षेपेण विलिख्यते ॥
नृसिंहरूपं हरिणा यदाविष्कृतमद्भुतम् ।
हिरण्यकशिपोरस्मिन्विष्णुबुद्धिर्न निश्चिता ॥
किन्त्वेष पुण्यसम्पन्नः कोऽपीति कृतनिश्चयः ।
रजउद्रिक्ततानुन्नमतिस्तद्भावयोगतः ॥
ततोऽवाप्तविनाशैकहेतुकामखिलोत्तमाम् ।
अवाप भोगसम्पत्तिं रावणत्वे सुदुर्लभाम् ॥
विष्णुत्वानिश्चयान्नातिद्वेषान्नावेशसन्ततिः ।
तां विना च भवेद्द्वेषो नरकायैव वेनवत् ॥
किन्त्वस्य सम्पत्संप्राप्तिस्तत्करेण मृतेः परम् ।
एवमाहैवशब्देन तत्साद्गुण्यमनुस्मरन्[2] ॥

---

१ भगवानजीमें जिसप्रकार सिसृक्षावृत्ति (सृष्टिकरनेकी वासना) है वैसेही युयुत्सावृत्ति (युद्धकरनेकी इच्छा) भी है । क्रीडाकौतुकी महाराज, प्रतिकूलभावयुक्त क्रीडकके साथ, सदा क्रीडा कियाकरते हैं । जिसकालमें क्रीडकगण उपस्थित नहीं रहते, उस कालमें अपने पार्षदवृन्दको प्रतिद्वन्द्वी करते उनके साथही क्रीडाकौतुक कियाकरतेहैं, और वेभी प्रतिकूलभावयुक्त हो क्रीडा करके महाराजको संतुष्ट करते हैं । वैसेही जिससमय भगवानकी युयुत्सावृत्ति जागतीहै, तब वह प्रतिकूलभावयुक्त, समान बलवान् जीवके साथ युद्ध करके कौतुकनिर्वाह किया करते हैं, परन्तु जिस कालमें वैसा समान बलवान् जीव उपस्थित नहीं रहता, तब अपने पार्षदोंको प्रतिकूलभावाविष्ट करके, उनके साथ युद्धकी लीला किया करतेहैं, और पार्षदगणभी प्रतिकूलभावाविष्ट हो अपने प्रभुको सन्तुष्ट कियाकरते हैं । अतएव कहा कि, प्रतिकल्पमें भगवत्पार्षदोंका पतन असंगत होताहै । विष्णुपुराणमें साधारण कल्पकी लीलाकथा, और श्रीमद्भागवतमें कल्पविशेषकी कथा वर्णित हुई है ॥ ३३–४१ ॥

२ "साद्गुण्य" इत्यत्र "षाड्गुण्य" इति पाठान्तरम् ।

आवेशाभावतो दोषानाशाच्छुद्धमपश्यतः ।
प्रकटेऽपि परब्रह्मरूपे तत्रास्य नो लयः ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—अथ प्रत्युत्तरगद्यं कारिकाभिर्व्याख्यातुमाह, पराशरेणेति । मैत्रेयायेत्यादि–प्रस्फुटार्थम् ॥ ततोऽवाप्तेति–नृसिंहादवाप्तो यो विनाशो वधस्तद्धेतुकामित्यर्थः, सुदुर्लभां भोगसम्पत्तिं रावणत्वे, अवाप–लेभे ॥ नामिति–आवेशसन्तातिं, विना केवलो विद्वेषो वेणराजस्येव नरकायैव; "कतमोऽपि न वेणः स्यात्पंचानां पुरुषं प्रति ।" (भा० ७ । १ । ३१) इति वचनात्; न तु कंसस्येव मोक्षायेत्यर्थः ॥ तत्करेण–नृसिंह–हस्तेन । एवशब्देनेति–"निरतिशयामेवाखिल" इत्यत्रोपात्तेनेत्यर्थः ॥ प्रकटेऽपीति । परब्रह्मरूपे–नृसिंहे, अस्य–हिरण्यकशिपोः, लयः–संश्लेषः ॥ ३४ ॥

भा०टी०—पराशरजीने जो गद्यमें मैत्रेय ऋषिजीके प्रश्नका प्रत्युत्तर दिया है, इस समयमें श्लोकद्वारा उसकाही संक्षिप्त विवरण लिखते हैं ॥ भगवानजीने जिस अलौकिक नृसिंहरूपका आविष्कार किया था, उसमें हिरण्यकशिपुकी विष्णुबुद्धि नहीं हुई परन्तु उसने इनको किसी पुण्यराशिसे उत्पन्न हुआ प्राणिविशेष समझा था । उदय हुए रजोगुणके प्रभावकरके बुद्धिके विक्षिप्त होजानेसे 'यह एक तेजस्वी प्राणी है' इस प्रकारकी भावनाके वशसे, अन्त समयमें उस रूपकी चिन्ता नहीं करसका । अतएव उस रजोभावके संसर्गसे, केवल नृसिंहजीके हाथसे मरनेके कारण, सर्वोत्तम और सुदुर्लभ भोगसम्पत्तिको रावण–देहमें प्राप्त किया था ॥ विष्णुजीका निश्चय होना और अत्यन्त विद्वेषके अभाववशसे, उसमें उस आवेशसन्तति नहीं होसकी । वेनराज इत्यादिके समान आवेशरहित द्वेष केवल नरककाही कारण हुआ करता है ॥ परन्तु रावण–देहमें जो इस प्रकारकी सम्पत्ति प्राप्त हुई यह केवल नृसिंहजीके हाथसे मरनेका फल हुआ, भगवान्‌जीके असाधारण गुणसमूह स्मरण करके, यहही गद्यके 'एव' शब्दसे प्रकाश किया है ॥ अत्यन्त आवेश न होनेपर निन्दाजनित दोषराशिकी शान्ति नहीं हो सकती । दोषक्षय न होनेपरभी, भगवान्‌का शुद्ध स्वरूप अनुभवका विषय नहीं होता । अतएव परब्रह्म भगवान् नृसिंहजीके सन्मुख प्रकट रहतेभी, हिरण्यकशिपु उनमें सायुज्य लाभ नहीं करसका ॥ ३४ ॥

विष्णुपुराणीय गद्यकी व्याख्या

रावणत्वे महाकामपराधीनीकृतात्मनः ।
तद्वन्मनुष्यधीरस्य श्रीरामेऽभून्मृतावपि ॥
अतोसौ चेदिराजत्वे पुनरापोत्तमां श्रियम् ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—रामावतारेऽप्येवमित्याह, रावणत्वे इति । तद्वदिति—हिरण्यकशिपोर्यथा नृसिंहे प्राणिविशेषबुद्धिस्तद्वत, अस्य—रावणस्य, श्रीरामे मनुष्यविशेषबुद्धिरभूत् ॥ अत इति—श्रीरामकरेण मृतेर्हेतोरित्यर्थः ॥ ३५ ॥

भा०टी०—रावण होकर भी उसका चित्त काममें अत्यन्त आसक्त होगया । मरणके समयमें भी श्रीरामचन्द्रजीमें, हिरण्यकशिपुकी नाई उसकी मनुष्यबुद्धि थी । इसही कारण वह दैत्य शिशुपाल होगया और उसने पुनर्वार पहिलेकी समान सर्वोत्तम भोग-सम्पत्तिको पाया ॥ ३५ ॥

तत्रकृष्णे समस्तानामेव नाम्नां रमापतेः ।
कारणानि प्रवृत्तेस्तु निमित्तान्यभवंस्तदा ॥
तेन निश्चित्य तं विष्णुं स्वस्य द्विर्मरणं यतः ।
अतिद्वेषान्महावेशात्तानि नामानि सर्वशः ।
जजल्प सततं श्वन्निन्दासन्तर्ज्जनादिषु ॥
रूपञ्च तादृशं दृष्ट्वा विष्णुरेवेति निश्चयात् ।
नामवत्तच्च सर्वत्र सर्वदा चैव संस्मरन् ॥
दग्ध-तद्द्वेषजाघौघः क्षिप्ते चक्रे च तद्रुचा ।
अपेतदैत्यभावोऽन्ते तथा संस्कृतदृष्टिकः ॥
तदातूज्ज्वलमद्राक्षीत्परंब्रह्म नराकृति ॥
तदेव चक्रघातेन दैत्यदेहे विनाशिते ।
तदेव ब्रह्म परममनुलीनत्वमाययौ ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—अथ चैद्यस्य कृष्णेन निहतस्य सतो मोक्षो यदभूत, तत खलु मोक्षजनकानुरञ्जनशक्तेस्तत्र सर्वदाभिव्यक्तेस्तद्धेतुकमित्याह, तत्र कृष्णे समस्तानामित्यादिना । नाममहिम्ना स्वरूपमहिम्ना च मनोरञ्जना स्यात, तत्र नाममहिम्ना तामाह । रमापतेः—विष्णोः समस्तानां नाम्नां तत्र कृष्णे प्रवृत्तेः कारणान्यभवन्, तानि च पुण्डरीकाक्षत्वादीन्युच्यन्ते ॥ तेन—नामयोगेन, विष्णुरयं मच्छत्रुरिति निश्चयात स्वशत्रुधीविजृम्भितानि द्वेषहेतुकाद्दैत्यावेशाच्च निन्दादिषु नामानि जजल्प ॥ अथ रूपमहिम्ना तामाह, रूपश्चेति । तादृशम्—उत्फुल्ल-पद्म-

दलामलाक्षमित्याद्युक्तमित्यर्थः । ताभ्याञ्च निर्दग्धविद्वेष-तज्जातपाप-राशिः ततश्च चक्रसत्प्रसङ्गेन दैत्यदेहविनाशसमकालजातसर्वोत्तमतत्त्व-ज्ञानः प्रेम्णा, कृष्णमनुलीनमभूत्-अवाप तत सायुज्यम्, इति स्वयं-रूपे कृष्णे तच्छक्तेराविर्भावादधिकत्वमिति ॥ ३६ ॥

भा०टी०—रमापति विष्णुजीमें वासुदेवादि–नाम–प्रवृत्तिके जो समस्त कारण हैं, वह श्रीकृष्णजीमें उन समस्त नामोंका कारण वा प्रवृत्तिका हेतु विद्यमान था । उसही नाम योग–हेतुसे वह तत्काल "मेरे पहिले दो जन्मोंमें मुझको मारनेवाले यही श्रीकृष्णजी हैं" यही निश्चय करके, स्वातिशय द्वेषजनित आवेशके वशसे निरन्तर निन्दा और तर्जनादिमें उन समस्त नामोंका कीर्तन करता था ॥ और वैसे चतुर्भुजादिरूपका दर्शन करके भी 'विष्णु' निश्चय होजानेपर, नामकी समान परमाविष्ट होकर, सर्वदा और सर्वत्रही वह उस रूपकी चिन्ता किया करता । उससे द्वेषजनित पापराशिके भस्म होजानेसे, श्रीकृष्णजीके छोड़े हुए सुदर्शनचक्रके प्रभावसे उसका दैत्यभाव अन्तर्हित होगया था । सुतरां उस काल दिव्य चक्षु प्राप्त करके उसने अत्यन्त प्रकाशमान नराकार परब्रह्मका दर्शन किया ॥ और तत्काल श्रीकृष्णजीके चलायेहुए सुदर्शनद्वारा दैत्य–देहके गिरनेपर. परब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजीमें सायुज्यको प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥

इत्युक्त्वाप्यत्र बक्यादेर्मोक्षमप्यर्भलीलया ।
अमोक्षं कालनेम्यादेरन्यत्रापीशचेष्टया ।
मुनिः स्मृत्वा पुनः प्राख्यत् 'अयं हि भगवान्' इति ॥
हि प्रसिद्धम् अयं कृष्णो भगवान् स्वयमेव यत् ।
प्रीणतां द्विषतां चातश्चेतांस्याकर्षति द्रुतम् ।
तस्मात्कीर्त्तित इत्यादि माहात्म्यं चित्रमत्र न ॥
इति विज्ञाय गद्यानां हार्द्दं सौहार्द्दतः स्फुटम् ।
तस्मात्स एव कैमुत्याद्भजनीयतयेष्यते ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—इत्युक्त्वापीति–स्वयंरूपे कृष्णे मोक्षजनक-मनोरञ्जन-शक्तेः सर्वदाभिव्यक्तत्वाद्विद्वेषेणाप्यत्यावेशात तस्य मोक्षस्तत्करेण निहतस्याभूदिति सूचयित्वापीत्यर्थः। अथान्वय-व्यतिरेकाभ्यां कृष्ण-स्यैवासुरेभ्यो मोक्षदातृत्वमनुभूय तस्यैव स्वयंरूपत्वमभ्यधादित्याह, अत्र बक्यादेरिति । अत्र–कृष्णे, अर्भलीलयापि बक्यादेर्मोक्षम्, अन्यत्र–एतस्यैव रूपान्तरे अजितादौ, ईशचेष्टयापि निहतस्य कालने-

म्यादिरमोक्षञ्च स्मृत्वा, पुनः,मुनिः–पराशरः,प्राख्यत, अयं हीत्यादि॥ हीति–"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भा० १ ।३। २८) इत्यादौ ख्यातमस्य स्वयं भगवत्त्वम् । तस्येयं शक्तिर्यया प्रीणतामिव द्विषतामपि चेतांस्यसौ द्रुतमाकर्षति ॥ गद्यानां, हार्दम्–अभिप्रायं, सौहार्दात् विज्ञाय, तस्मात्–गद्यानां हार्दादेव हेतोः, सः–कृष्ण एव, कैमुत्याद्भजनीय इष्यते, इति "किमुत सम्यग् भक्तिमताम्"इति व्याख्यातम् । यः कृष्णो विद्वेषेणापि स्वाविष्टेभ्यो मोक्षमपि ददाति,स भक्त्यनुरक्तेभ्यस्तं ददातीति किमुत वक्तव्यं किन्तु स्वपर्य्यन्तं सर्वं तदधीनं करोतीति भावः ॥ ३७ ॥

भा०टी०–स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजीमें विद्वेषजनित अत्यन्त आवेशके वश होनेके कारण शिशुपालने उनमें सायुज्य प्राप्त किया था, यह कथा कहकर भी, इन श्रीकृष्णमें बाललीलाके छलसे पूतनादिकी मोक्ष और दूसरे अवतारकी ऐशिकचेष्टामें भी कालनेमिप्रभृतिके मोक्षाभावका विचार करके पराशरजीने फिर "अहं हि भगवान्" इत्यादि गद्य कीर्तन किये । गद्यके 'हि' शब्दका अर्थ प्रसिद्धि है । क्योंकि यह स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजी जिस प्रकार भक्तके चित्तको आकर्षण किया करते हैं; वैसेही विद्वेष करनेवाले के चित्तको भी शीघ्र आकर्षण करते हैं. इसही हतुसे 'द्वेषादिमें भी कीर्त्तन और स्मरण करनेसे जो उत्तम गति देते हैं' इत्यादि माहात्म्यसे उनमें फिर आश्चर्यका विषय नहीं है ॥ इस प्रकार निरपेक्षभावसे गद्यके अभिप्रायको स्पष्ट पद्यसे जानकर, उस अभिप्रायके अनुसार श्रीकृष्णजीही कैमुत्यकी समान (अर्थात् इस विषयको प्रतिपन्न करनेके लिये दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है) भजनीय रूपसे ईप्सित होते हैं ॥ ३७ ॥

अथाखिलानां नाम्नाञ्च प्रवृत्तौ कारणं शृणु ॥
लक्ष्मीशनामान्येवात्र प्रवृत्तेर्हेतुसाम्यतः ॥
तथैव हेतुभेदाच्च वर्त्तन्ते यदुपुङ्गवे ॥ ३८ ॥

टिप्पणी–"तत्र त्वखिलानामेव भगवन्नाम्नां कारणान्यभवन्" इत्यनेन लक्ष्मीशे नाम्नां प्रवृत्तेर्यानि निमित्तानि, तानि च कृष्णेऽप्यभवन्निति व्याचष्टे, अथाखिलानामित्यादिना ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्णजीमें निखिल नामनामकी प्रवृत्तिका कारण नारायणजीके भिन्न २ नामोंकी श्रीकृष्णजी में प्रवृत्ति

भा०टी०–अनन्तर श्रीकृष्णजीमें दैत्यारिप्रभृति नामावलीकी प्रवृत्तिका हेतु श्रवण करो जो समस्त नाम जिन कारणोंसे नारायणजीमें प्रवृत्त हैं, उनमें कितने एक नाम उन कारणोंसे और कितने एक नाम और कारणोंसे श्रीकृष्णजीमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥ ३८ ॥

दैत्यारिः पुण्डरीकाक्षः शार्ङ्गी गरुडवाहनः ।
पीताम्बरश्चक्रपाणिः श्रीवत्साङ्कश्चतुर्भुजः ॥
इत्यादीन्यत्र नामानि प्रवृत्तेर्हेतुसाम्यतः ॥ ३९ ॥

टिप्पणी--निमित्तसाम्यात् निमित्तभेदाच्च प्रवृत्तिर्द्विधा, तत्र निमित्तसाम्यात प्रवृत्तानि नामान्याह, दैत्यारिरित्यादीनि ॥ ३९ ॥

भा०टी०--दैत्यारि, पुण्डरीकाक्ष, शार्ङ्गी, गरुड़वाहन, पीताम्बर, चक्रपाणि, श्रीवत्साङ्क और चतुर्भुज प्रभृति समस्त नाम तुल्यकारणसे नारायणजी और श्रीकृष्णजीमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥ ३९ ॥

वसुदेवस्य पुत्रत्वाद्वासुदेवो निगद्यते ।
मधुवंशे यतो जातः कथ्यते माधवस्ततः ॥
श्रीहरिवंशेऽपि (ह० वं० ६३ । ३६)—
"स च तेनैव नाम्नात्र कृष्णो वै दामबन्धनात् ।
गोष्ठे दामोदर इति गोपीभिः परिगीयते ॥"
तत्रैव (ह० वं० १५८ । ३०—३२)—
"अधोऽनेन शयानेन शकटान्तरचारिणा ॥
राक्षसी निहता रौद्री शकुनी वेशधारिणी ॥
पूतना नाम सा घोरा महाकाया महाबला ।
विषदिग्धं स्तनं क्षुद्रा प्रयच्छन्ती जनार्दने ॥
ददृशुर्निहतां तत्र राक्षसीं वनगोचराः ।
पुनर्जातोऽयमित्याहुरुक्तस्तस्मादधोक्षजः ॥" इति ।

---

१ निमित्तभेदसे वासुदेवादिनामकी श्रीकृष्णजीमें प्रवृत्ति दिखाई। नारायणजीमें इन समस्तनामोंकी प्रवृत्तिका कारण पृथक् है । यथा—वासु-सर्वविध प्राणी, तिनमें जो अन्तर्यामीरूपसे स्थित, सो 'वासुदेव' । मा—लक्ष्मी, धव-पति, जो लक्ष्मीके पति हैं, सो 'माधव' । दाम कांची, तिससे जिनका, उदर अर्थात् मध्यदेश शोभित है, सो 'दामोदर' । अधः—निम्न, अक्षज—इन्द्रियसुख; जिन्होंने इन्द्रियसुखको नीचे करदियाहै, सो 'अधोक्षज'। गो—वेदलक्षण वाणी, विद-धातुका अर्थ लाभ; वेद-करके जिसका लाभ होताहै, वह गोविन्द है । उप-हीन, इन्द्र—देवराज, जो देवराजका कनिष्ठ भ्राता है सो 'उपेन्द्र'। क-ब्रह्मा; ईश-रुद्र, वत्र् धातुका अर्थ तन्तुविस्तार, अर्थात् जो ब्रह्मा और रुद्रको परिचालित करतेहैं, वह 'केशव' ॥ ४०—४१ ॥

एषोऽधः शकटस्याक्षे पुनर्जात इवेत्यतः ।
अधोक्षज इति प्राहुरिति टीकाकृतोदितम् ॥ ४० ॥

टिप्पणी—निमित्तभेदात् कृष्णे यानि प्रवृत्तानि, तान्याह, वसुदेवस्येत्यादिना । दामोदरनाम्नः कृष्णे प्रवृत्तौ निमित्तमाह, स च तेनेति । तथा च यशोदया दाम्ना निबद्धोदरत्वं दामोदरत्वमिति । अधोक्षजनाम्नः कृष्णे प्रवृत्तौ निमित्तमाह, अधोऽनेनेति । शकटस्याधः शयानेन, अनेन—कृष्णेन, शकुनी—बकी, निहता । कीदृशी ? इत्याह, वेशधारिणी—धृतधात्रीवेशा । अनेन कीदृशेन ? इत्याह, शकटेति—शकटस्याधोवर्तिना, तत्र लघुपर्य्यङ्के शायितेनेत्यर्थः ॥ तथा च अक्षाधः पुनर्जातत्वम् । अधोक्षजत्वमिति ॥ ४० ॥

भा०टी०—श्रीकृष्णजी, वसुदेवके पुत्र हुए इसलिये 'वासुदेव' और मधुवंशमें उत्पन्न हुए इसलिये 'माधव' नामसे पुकारे जाते हैं । श्रीहरिवंशमें भी "यशोदाजीने श्रीकृष्णजीके उदरमें दाम बन्धन किया, इस नामसेही व्रजगोपीगण श्रीकृष्णजीको दामोदर कहकर कीर्तन किया करते हैं" ॥ उस हरिवंशमेंही "शकटके नीचे लघु पर्यङ्कपर शायित श्रीकृष्णजीने शकटके नीचे लेटेही लेटे, उस महाकाया और महाबला, नीचाशया व भयंकरी, शकुनीरूपा राक्षसीका नाश किया था कि जो धायका वेश धारण करके उनको विषैलास्तन पिलाती थी । उसकालमें व्रजवासी लोगोंने मृतक राक्षसीको देख कर कहा था, 'इन श्रीकृष्णने नया जन्म लिया ।' इसी कारणसे वह 'अधोक्षज' नामसे पुकारे गये हैं ।"इति । "इन श्रीकृष्णजीने मानों फिर शकटके नीचे स्थित हुए अक्षसे जन्म ग्रहण किया, इसही हेतुसे उनको 'अधोक्षज' कहते हैं" टीकाकारने इसप्रकार अर्थ किया है ॥ ४० ॥

हेतुभेदसे प्रवृत्त नाम

तत्रैव (ह० वं० ७५ । ४५)—
"अहं किलेन्द्रो देवानां त्वं गवामिन्द्रतां गतः ।
गोविन्द इति लोकास्त्वां गास्यन्ति भुवि शाश्वतम् ॥"

तत्रैव (ह० वं० ७५ । ४६)—
"ममोपरि यथेन्द्रस्त्वं स्थापितो गोभिरीश्वरः ।
उपेन्द्र इति कृष्ण ! त्वां गास्यन्ति दिवि देवताः ॥"

श्रीविष्णुपुराणे (वि० पु० ५ । १६ । २३)—
"यस्मात्त्वयैव दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन ! ।

तस्मात्केशवनाम्ना त्वं लोके ज्ञेयो भविष्यसि ॥" इति ।
इत्यादीन्यत्र नामानि प्रवृत्तेर्हेतुभेदतः ।
एषां प्रवृत्तेर्हेतुत्वमन्यदेव रमापतौ ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—गोविन्दनाम्नस्तदाह, अहं किलेति । तथा च, गवां—कामधेनूनाम्, अधिपतित्वं गोविन्दत्वमिति ॥ उपेन्द्रनाम्नस्तदाह, ममोपरीति । तथा च इन्द्रादधिकत्वम् उपेन्द्रत्वमिति ॥ केशवनाम्नस्तदाह, यस्मादिति—नारदोक्तिः । निहतकेशिदानवत्वं केशवत्वम् ॥ इति निमित्तभेदैः कृष्णे प्रवृत्तिर्वासुदेवादिनाम्नां दर्शिता । एषां लक्ष्मीशे प्रवृत्तौ निमित्तं भिन्नमेवेत्याह, एषामिति । सर्व्वहृन्निवासित्वं वासुदेवत्वं, लक्ष्मीपतित्वं माधवत्वं, काञ्चीशोभितमध्यत्वं दामोदरत्वम्, अधःकृतेन्द्रियकसुखत्वम् अधोक्षजत्वं, वेदवेद्यत्वं गोविन्दत्वम्, इन्द्रकनिष्ठत्वम् उपेन्द्रत्वं, केशौ ब्रह्मरुद्रौ वयते बध्नातीति केशवत्वञ्चेति ॥ ४१ ॥

भा०टी०—उस हरिवंशमेंही इन्द्रकी उक्ति—"मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और तुम समस्त गोगणोंके इन्द्र हो ; इसकारण भूमण्डलके समस्तलोग तुमको 'गोविन्द' कहकर चिरकालतक कीर्त्तन करेंगे" ॥ उस हरिवंशमेंही (इन्द्रकी उक्ति) "हे कृष्ण ! इन्द्रियोंने जिस प्रकार तुमको मेरे ऊपरीभागमें इन्द्ररूपसे स्थापित किया, वैसेही स्वर्गमें देवतालोग तुमको 'उपेन्द्र' कहकर कीर्त्तन करेंगे ।" श्रीविष्णुपुराणमें—"हे जनार्दन ! दुरात्मा केशीदानवका वध करनेसे तुम्हारा लोकमें 'केशव' नाम होगा ॥" इति । इत्यादि समस्त नाम हेतुभेदसे श्रीकृष्णजीमेंही प्रवृत्त हुए हैं । परन्तु नारायणजीमें इन समस्त नामोंकी प्रवृत्तिका पृथक् २ निमित्त है ॥ ४१ ॥

किञ्चासुराणां द्विषतां कृष्णमप्राप्य नान्यतः ! *
कुतोऽपि मुक्तिरित्याख्यदेवकारद्वयेन सः ॥
तथाहि श्रीगीतासु (गी० १६ । १९—२०)—
"तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥" इति ।

*मां कृष्णरूपिणं यावन्नाप्नुवन्ति मम द्विषः ।
तावदेवाधमां योनिं प्राप्नुवन्तीति हि स्फुटम् ॥ ४२ ॥

टिप्पणी--हतारिगतिदायकत्वं श्रीकृष्णस्य स्वयंरूपत्वगमकं वैष्णवादापादितं, पुष्णन्नाह, किञ्चेति । अन्यतः-स्वस्यैव रूपान्तरात् नृसिंहादेः । सः-श्रीकृष्णः ॥ तद्वाक्यमुदाहरति, तानिति । मामप्राप्य-मत्करेण मरणमलब्ध्वेत्यर्थः ॥ तत्तद्वाक्यं व्याख्याति, मामिति-अगूढार्थम् ॥ ४२ ॥

भा०टी०--विद्वेष्टा असुरगण, श्रीकृष्णजीको न पाकर, अर्थात् श्रीकृष्णजीके सिवाय और किसी अवतारसे मुक्ति प्राप्त नहीं करसकते, श्रीकृष्णनें (पहिले गीताप-योक्त) 'एव' कारद्वयमें यह कथाही कही है ॥ तथाहि श्रीगीताशास्त्रमें—उन विद्वेष्टा क्रूर और अमंगलस्वरूप नराधमोंको मैं निरन्तर आसुरी योनिमेंही डालाकरताहूं ॥ हे कौन्तेय ! वह समस्त मूढ जन्म जन्ममें आसुरीयोनिको पाय, मुझको बिनापायेही, अधमगतिको प्राप्त हुआ करते हैं ॥" इति । हमारे शत्रुगुण कृष्णरूपी मुझको जबतक प्राप्त नहीं होते हैं, उस कालतकही अधम योनिको प्राप्त किया करते हैं, यही अर्थ (गीताके श्लोकमें) स्पष्ट प्रतीत होताहै ॥ ४२॥

(गीतावाक्यद्वारा श्रीकृष्णजीकी विष्णुपुराणोक्त हतारिगतिदायकत्वका समर्थन।)

तस्मात्त्रयाणामेवायं श्रेष्ठ इत्यत्र विस्मयः ।
को वा स्यात् न तथा यस्मात्स्वभावोऽन्यत्र दृश्यते ॥
अतो मन्वक्षरमनोः कल्पे स्वायम्भुवागमे ।
पूज्यन्तेऽस्यावृतित्वेन राम-सिंहाननादयः ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—निगमयति, तस्मादिति । त्रयाणां-नृसिंहादीनां मध्ये, अयं-कृष्णः एव, श्रेष्ठः-अभिव्यक्तनिखिलशक्तित्वेन वरीयान्, इत्यत्र विस्मयः को वा स्यात् ? न कोपीत्यर्थः । यस्मात्, तथा स्वभावः-हतारिगतिदातृत्वादिलक्षणः, ततोऽन्यत्र-नृसिंहादौ, न दृश्यते ॥ अत इति-कृष्णस्य स्वयंरूपत्वादेव हेतोः, मन्वक्षरमनोः-चतुर्दशाक्षरस्य तन्मंत्रस्य, कल्पे इत्यादि-प्रकटार्थम् ।"चत्वारो वासुदेवाद्याः पूज्यन्ते सहशक्तिकाः।पूर्वादिदिक्षु क्रमशो विदिक्षु परमेश्वराः।श्रीराम-सिंहवदन-कूर्म्मोपेन्द्रा महाद्भुताः ॥" इति तत्रत्यं वाक्यम् ॥ ४३ ॥

---

१ 'आसुरीष्वेव', 'मामप्राप्यैव' इन दो 'एव' कारसे अपने अतिरिक्त अन्यावतारमें हतारिगतिदायकत्वस्वभाव प्रगट नहीं होता, यही व्यक्त किया ॥ ४२ ॥

भा॰टी॰--अतएव नृसिंह, रामचंद्रजी और कृष्णजी इन तीनोंमें श्रीकृष्णजीही श्रेष्ठ हैं. इसमें विस्मयका विषय कोनसा है ॥ कारण कि तादृश अर्थात् हतारिगतिदायकत्व स्वभाव और अवतारमें दिखाई नहीं देता ॥ अतएव स्वायम्भुवागममें अर्थात शिवागममें चतुर्दशाक्षर मंत्रके विधानस्थलमें श्रीराम और नृसिंहादि श्रीकृष्णजीके आवरणरूपसे पूज्य हुए हैं ॥ ४३ ॥

नन्विदं श्रूयते शास्त्रे महावाराहवाक्यतः।
"सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः ॥" इति।
किञ्च श्रीनारदपंचरात्रे-
"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः। *
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात् तथाच्युतः ॥" इति।
तस्मात्कथं तारतम्यं तेषां व्याख्यायते त्वया ॥ ४४ ॥

टिप्पणी-ननु "एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति" (गो॰ ता॰ पृ॰ २०) इत्येकस्य कृष्णस्य बहुत्वात् तस्य सम्पूर्णत्वं सर्वत्र साम्प्रतं, क्वचिदपूर्णत्वन्तु न शक्यं वक्तुं, क्षोदाक्षमत्वादिति कश्चित् प्रत्यवतिष्ठते, नन्वित्यादिना॥ पूर्वेषु रूपेषु पूर्णत्वे प्रमाणं,सर्वे नित्या इति। शाश्वताः जगति पुनः पुनराविर्भाविणः। देहास्तस्येति-अभेदेऽपि षष्ठी 'चैतन्यमात्मनः स्वरूपम्' इतिवत् उपपद्यते। स्वरूपाभेदादेव हानादिरहिताः। स्फुटार्थमन्यत् ॥ मणिर्यथेति।मणिरत्र वैदूर्य्यं. तस्यैव, बहुरूपत्वात्, स यथा रूपान्तरं दधानोऽपि मणिमूनं न विधत्ते, तद्वदिति बोध्यम् ॥ तस्मादिति। तेषां-नृसिंहादीनां, तारतम्यम्-अंशित्वांशत्वरूपम् ॥ ४४ ॥

---

१ ईश्वरमें देहदेहीका भेद न रहनेसे इस स्थानमें देहरूपसेही निर्देश किया। यदि समस्त अवतार ही सर्वगुणसे पूर्ण हुए, तब सबकी अपेक्षा श्रीकृष्णजीको कैसे श्रेष्ठ कहा? यही इस स्थानमें पूर्वपक्ष है ॥ ४३-५४ ॥

भा०टी०—इस स्थानमें ऐसी आपत्ति उठ सकती है कि महावराहपुराणमें यही सुना जाताहै—"उन परमात्मा हरिका सर्वविध देहही नित्य है और सर्व-विध देहभी संसारमें वारंवार प्रगट हुआ करते हैं; यह समस्त देह हानोपादानशून्य हैं, सुतरां कभी भी प्रकृतिके कार्य नहीं हैं । समस्त देहही घनीभूत परमानंद, चिदेकरसस्वरूप, सर्व प्रकारके गुणोंसे युक्त और सर्व दोषसे रहित हैं ।" इति ॥ फिर नारदपंचरात्रमें भी कहाहै—"वैदूर्यमणि जिसप्रकार स्थानभेदसे नील पीत इत्यादि छविको धारण करतीहै, तैसेही भगवान् अच्युत उपासनाभेदसे अपने स्वरूपको विविधाकारमें प्रकाश किया करते हैं ।" इति । अतएव उन सब अवतारोंका तारतम्य किसलिये है? सो व्याख्या करते हैं ॥ ४४ ॥

भगवत्स्वरूपमात्रकी पूर्णता ।

अत्रोच्यते परेशत्वात्पूर्णा यद्यपि तेऽखिलाः ।
तथाप्यखिलशक्तीनां प्राकट्यं तत्र नो भवेत् ॥ ४५ ॥

टिप्पणी--समादधाति, अत्रोच्यते इत्यादिना । तेऽखिला इति-विलासाः स्वांशाश्च, स्वयंरूपवत् पूर्णा इत्यर्थः । तत्रेति-विलासस्वांशलक्षणे तस्मिन् भगवति । एतदुक्तं भवति-यथा "सर्वे नित्याः" इत्यादिपूर्णत्ववाक्यं, तथैव "एते चांशकलाः पुंसः" (भा० १ । ३ । २८) इत्याद्यंशांशित्ववाक्यश्चास्ति । पूर्वं स्वरूपसत् सर्वगुणकत्वात् संगतिमत्, परन्त्वभिव्यक्तानभिव्यक्तं सर्वगुणकत्वात् तथा, इति न काचित् क्षतिः । अन्यथा परं व्याकुप्येत् ॥ ४५ ॥

भा०टी०—उक्त आशंकाके उत्तरमें यही कहा जा सकताहै कि सर्वेश्वरताके हेतु समस्त अवतारोंके परिपूर्ण होनेपरभी, उन समस्त अवतारोंमें समस्त शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं ॥ ४५ ॥

तब अंशत्व और अंशित्व क्यों है?

*** अंशत्वं नाम शक्तीनां सदाल्पांशप्रकाशिता ।**
पूर्णत्वञ्च स्वेच्छयैव नानाशक्तिप्रकाशिता ॥ ४६ ॥

टिप्पणी--अथ विलासेषु स्वांशेषु च सर्वेषां गुणानां स्वरूपेण सत्त्वात् ते कदाचिदाविः स्युरित्युक्ता व्यवस्था भज्येतेत्याक्षेपः स्यात्, तं निराकर्त्तुमंशलक्षणमाह, अंशत्वं नामेति । अंशशब्देन तदेकात्मरूपो ग्राह्यः, श्रीकृष्णो नारायणादिभावधरस्तत्तत्प्रकरणपठितानेव गुणानाविष्कुर्यात, न तु स्वनिष्ठान् सर्वान्, इति नोक्तव्यवस्थाभङ्गः । तथा च उभयहेतुक-मनोरञ्जनारूप--हतारिमोक्षदातृत्वं नृसिंहादित्वे नाभिव्यञ्जितम, इति न तस्य तन्निहतस्यापि मोक्षः । सर्वेषु सर्व्वेश-

न्याविर्भावे स्वीकृते तु शास्त्रावधारितः सिद्धान्तो व्याकुप्येत । नारायणे निखिलकृष्णगुणाविर्भावे स्वीकृते तत्पत्न्याःकृष्णांघ्रिरजोवाञ्छा भागवतोक्ता, रघुपतौ तस्मिन् स्वीकृते दृष्टरघुपतीनां मुनीनां कृष्णस्पृहा पाद्मोक्ता, त्रिषु पुरुषेषु तस्मिन् स्वीकृते तेषां कृष्णांशता च ब्रह्मसंहितोक्ता, न घटेत । एवं वासुदेवे संकर्षणस्य स्वधिष्ण्यत्वधीर्बहुसत्क्रमिश्च, रघुपतौ सौमित्र्यादीनां स्वामित्वबुद्धिरतिभक्तिश्च तत्र तत्रोक्ता व्याकुप्येत् । सदेति । अतो ज्येष्ठोऽपि बलदेवः "प्रायो मायास्तु मे भर्तुः" (भा० १०। १३। ३७) इत्येवावोचत । पूर्णत्वमिति–अंशित्वमित्यर्थः । तत्त्वश्चात्मेच्छयैव नानाशक्तिप्रकाशित्वमित्यर्थः । तथा च अंशिना अंशो व्यङ्ग्यः, नतु अंशेन अंशी इति यथायोगं भाव्यम् । कृष्णस्य सर्वांशित्वात् तद्व्यङ्ग्याः सर्वे, स तु नान्यव्यङ्ग्यः ॥ ४६ ॥

भा०टी०–जिसमें सर्वदा शक्तिका अल्पपरिमाणसे विकाश होता है, उसको 'अंश' और जिसमें स्वेच्छानुसार अनेक प्रकारकी शक्तियोंका प्रकाश हो उसको 'पूर्ण' अर्थात् 'अंशी' कहते हैं ॥ ४६ ॥

शक्तिरैश्वर्य-माधुर्य्य-कृपा-तेजोमुखा गुणाः ॥ ४७ ॥

टिप्पणी–अथ शक्तिशब्दाभिमतं स्फुटयति, शक्तिरिति । स्वेतरनिखिलस्वामित्वम् ऐश्वर्य्यं, सर्वावस्थासु चारुत्वं माधुर्य्यं, निर्निमित्तपरदुःखप्रहाणेच्छा कृपा, कालमायाद्यभिभावी प्रभावस्तेजः, आदिना सार्वज्ञ-भक्तवात्सल्य-तद्वश्यतादयः ॥ ४७ ॥

भा०टी०–ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा, और तेजप्रभृति गुणोंको 'शक्ति' कहते हैं ॥ ४७ ॥

शक्तेर्व्यक्तिस्तथाऽव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम् ॥ ४८ ॥

टिप्पणी–अंशांशिवाक्यानां निष्कर्षमाह, शक्तेरिति । तारतम्यस्य–अंशांशिभावस्य ॥ ४८ ॥

भा०टी०–शक्तिकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिही तारतम्यका कारण है ॥ ४८ ॥

शक्तिः समापि पुर्य्यादिदाहे दीपाग्निपुञ्जयोः ।
शीताद्यार्त्तिक्षयेणाग्निपुञ्जादेव सुखं भवेत् ॥
एवमेव गुणादीनामाविष्कारानुसारतः ।
भवध्वंसेन सौख्यं स्याद्भक्तादीनां यथायथम् ॥ ४९ ॥

टिप्पणी–पूर्णात् सुखातिशयो लभ्यते, न त्वंशात् तद्रूपादपीति

दृष्टान्तेनाह, शक्तिरिति । यद्यपि पुर्य्यादिदाहे दीपाग्निपुञ्जयोः शक्तिः समा, तथापि शीतादिहेतुकार्तिक्षयेण अग्निपुंजादेव अतिशयितं सुखं न दीपात् ॥ एवं नृसिंहादिस्वांशस्य, तदंशिनः कृष्णस्य च, भक्ताविद्याविध्वंसने दैत्यसंहारे च शक्तिः समैव; किन्तु नित्याविर्भूत-हतदैत्यादिमोक्षदातृत्वादिसर्वगुणात् अग्निपुञ्जोपमात् कृष्णादेव दैत्यादिभव-विध्वंसेन, सौख्यं—परानन्दाप्तिरूपं, स्यात; नृसिंहादितस्तु सुरदुर्लभभोगप्राप्तिरेव दैत्यादीनां, न तु भवध्वंस इति । भक्तादीनामिति—आदिना योगिनाञ्च श्रोतॄणामिति ॥ ४९ ॥

भा०टी०—ग्राम नगरादिके दाहमें दीप और अग्निपुंजकी शक्ति समान होनेपरभी अग्निपुंजमे शीतादिकी आर्त्तिनाशजनित अत्यन्त सुखाप्तिही हुआ करती है ॥ इसही प्रकारसे गुणादिके आधिक्यानुसार भक्तादिका संसारनाशजनित यथायोग्य सुख सम्पन्न हुआ करता है ॥ ४९ ॥

किञ्च—

एकत्वञ्च पृथक्त्वञ्च तथांशत्वमुतांशिता ।
तस्मिन्नेकत्रनायुक्तमचिन्त्यानन्तशक्तितः ॥ ५० ॥

टिप्पणी—ननु कृष्णे रुचिनिर्भरात् स्वयंरूपतां प्रतिपादयसि, नृसिंहादौ तु तदभावात् स्वांशतामिति कथमिति चेत्? तत्राह, एकत्वमिति। यदि स्वरूपभेदमभ्युपेत्य तथा तथा ब्रूयां, तर्हि तवायमाक्षेपः स्यात, न च तथास्तीत्यचिन्त्यशक्तितस्तथा तथा भावस्तस्यैकस्यैव वाचनिक इति नाक्षेपावकाशः ॥ ५० ॥

एकही स्वरूपमें एकत्व, पृथक्त्व अंशत्व और अंशिता।

भा०टी०—औरभी—अचिन्त्य अनन्तशक्तिके प्रभावसे उस एकही पुरुषोत्तममें एकत्व और पृथक्त्व अंशत्व और अंशित्व इसमेंसे कुछभी असम्भावित नहीं होता ॥ ५० ॥

तत्रैकत्वेऽपि पृथक् प्रकाशिता, यथा श्रीदशमे (भा०१०।६९।२)—
"चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥ ५१ ॥" इति ।

टिप्पणी--"चित्रम" इति शुकोक्तिः । एकः कृष्ण एकेन वपुषा युगपदेव पृथक् पृथक् उदावहदित्युक्तेरेकत्वे सत्येव पृथक् प्रकाशिता सिध्यति ॥ ५१ ॥

भा०टी०—उनमें एकत्वके होनेपरभी पृथक् प्रकाशिता है, यथा श्रीदशममें (नारदजी कहते हैं)—"बड़ेही आश्चर्यकी बात है एकही श्रीकृष्णजीने, एकही शरीरमें एकही समयमें पृथक् पृथक् गृहमें सोलह सहस्र स्त्रियोंका पाणिग्रहण कियाहै ?" ॥ ५१ ॥ इति ।

पृथक्त्वेऽप्येकरूपतापत्तिः, यथा पाद्मे—

"स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः ।
एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृत ॥ ५२ ॥" इति ।

टिप्पणी--स देव इति । बहुधाभूत्वा एकीभूयेत्युक्तेः पृथक्त्वेऽप्येकरूपता अचिन्त्यशक्तितः सिध्यति ॥ ५२ ॥

भा०टी०—पृथक्त्वमें भी एकरूपतापत्ति, यथा पद्मपुराणमें—"वह निर्गुण, निर्दोष, आदिकर्ता, पुरुषोत्तम देव हरि, बहुरूप होकर पुनर्वार एकरूपसे शयन करते हैं" ॥५२॥ इति ।

एकस्यैव अंशांशित्वं विरुद्धशक्तित्वञ्च । यथा—

श्रीदशमे (भा० १० । ४० । ७)—

"यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्यैकमूर्त्तिकम् ॥ ५३ ॥" इति ।

टिप्पणी--"यजन्ति" इत्यक्रूरोक्तिः एकस्यैव अंशांशित्वे उदाहरणम् । एकमूर्तिकामिति-अंशित्वं, बहुमूर्तीति-अंशत्वं, तदेकस्यैव सिध्यति ॥ ५३ ॥

भा०टी०—एकका ही अंशांशित्व और विरुद्धशक्तित्व, यथा श्रीदशममें—"तुम बहुमूर्त्ति होकर भी एकमूर्त्ति हो, अतएव साधकगण तुममें आविष्टचित्त होकर, तुम्हारी पूजा किया करते हैं" ॥ ५३ ॥ इति ।

कौर्म्मे च--

"अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः ।
अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः ॥
ऐश्वर्य्ययोगाद् भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते ।
तथापि दोषाः परमे नैवाहार्य्याः कथञ्चन ।
गुणा विरुद्धा अप्येते समाहार्य्याः समन्ततः ॥ ५४ ॥" इति ।

---

१ एकही शरीरमें—अर्थात् श्रीकृष्णजीका यह शरीर सौभरि इत्यादिकी समान कायव्यूह नहीं । "बहुरूप होकरभी एकरूप" ऐसा कहनेसे अचिन्त्यशक्तिप्रभावमें जो उनकी पृथक् प्रकाशितासे एकरूपता संघटित होतीहै, सोही प्रतिपन्न हुआ ॥ ५२–५७ ॥

टिप्पणी--विरुद्धशक्तित्वमुदाहरति, अस्थूलश्चेति सार्द्धद्वाभ्याम् । भगवतः परब्रह्मणो विज्ञानानन्दवस्तुत्वश्रवणात् स्थूलत्वाणुत्वाभ्यां जडधर्माभ्यां सभगवान् विरहितः, तथापि ताभ्यां स्वरूपनिष्ठाभ्यां विशिष्टः सोऽभिधीयते; सहस्रशीर्षत्व-त्रिविक्रमत्वावस्थायां स्थूलत्वस्य, जीवान्तर्यामितादशायाम् अणीयस्त्वस्यच श्रवणात् । तद्वस्तुत्वश्रवणादेव वर्णेन श्यामत्वादिना विरहित इत्यवर्णः प्रोक्तः, "मेघाभं वैद्युताम्बरम्" (गो०ता०, पृ०१०) "स मा वृषभो लोहिताक्षः" इति श्रवणात् श्यामो रक्तान्तलोचनश्च सोऽभिधीयते । कुत एवं ? तत्राह, ऐश्वर्येति-अचिन्त्यशक्तिसम्बन्धादित्यर्थः । मिथो विरुद्धाः, अर्थाः-गुणाः, यस्मिन् सः ॥ एवं तद्योगादेव अनित्यत्वमिति तत्र स्वीकार्य्य? तत्राह, तथापीति । दोषाः-जन्मपरिणामादयः । गुणाढ्यनि-नित्योक्ता एव ॥ ५४ ॥

भा०टी०-और कूर्मपुराणमें कहा है-"जो सर्वप्रकारसे अस्थूल होकरभी स्थूल हैं, अनणु होकर भी अणु हैं, अवर्ण होकर भी श्यामवर्ण और रक्तान्तलोचन हैं । यह समस्त गुण परस्पर विरुद्ध होकरभी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे भगवान में नित्यही अवस्थित हैं ॥ तथापि परमेश्वरमें अनित्यत्व आदि किसी प्रकार, दोषका आहरण नहीं हो सकता । अथच यह समस्त गुण किन्तु परस्परविरुद्ध होनेपर भी उसमें सब प्रकारसे संग्रहीत होंगे" ॥ ५४ ॥ इति ।

श्रीभागवतजी परस्पर-विरुद्ध अचिन्त्य शक्तिके आश्रय हैं । भगवान् विरुद्ध शक्तिके आश्रय हैं, इस कारण वह अनित्यत्व दि दोषों-केभी आश्रय हैं सो नहीं ।

श्रीषष्ठस्कन्धे च मिथोविरुद्धाचिन्त्यशक्तित्वं यथा—

गद्येषु (भा० ६ । ९ । ३४--३७)—

"दुरवबोध इवायं तव विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि हरसि पासि ॥ ५५ ॥"

टिप्पणी—वृत्रासुरादतिभीताः सुराः स्वत्राणाय हरिं स्तुवन्ति, दुरवबोध इवेति । अयं तव, विहारयोगः-क्रीडासम्बन्धः, दुरवबोध इव-त्वदचिन्त्यशक्तिवेदिभिरचिन्त्यतया सुबोधोऽपि तदन्यैस्तार्किकैर्युक्त्येककवलैर्दुर्बोध इत्यर्थः । यतत्वमगुणोऽतोऽशरीरोऽशरणोऽनवेक्षितास्मत्समवायश्चाविक्रियमाणेनात्मना इदं सगुणं विश्वं सृजसीत्यादि । समवायः-साहाय्यम् । सगुणः खलु कुलालादिर्धरादिशरणःशरीरचेष्टावान्

दण्डचक्रादिसहायः सगुणं घटादि सृजति, श्रमादिविकारं लभमानश्च दृश्यते; तद्विलक्षणस्य विश्वं सृजतस्तव तद्विहारो दुर्बोधः ।अत्र त्रिशक्तिको हरिर्विश्वहेतुः, तत्र क्षेत्रज्ञप्रकृतिमतो विश्वात्मना परिणामेपि तच्छक्तिकरूपात् अच्यावात् पराख्यशक्तिकस्य संकल्पेनैव तादृशपरिणामे निमित्तत्वात् तव दुर्बोधत्वं सुस्थम् ॥ ५५ ॥

भा०टी०–श्रीषष्ठस्कन्धीय गद्यमें भी परस्परविरुद्ध अचिन्त्य शक्तिकी कथा कही गई है । यथा–"हे भगवन् ! तुम्हारा विहारयोग वा क्रीडासम्बन्ध दुर्बोधकी समान प्रकाश पाता है, अर्थात् साधारण कार्यकारणभाव तुममें नहीं देखा जाता; क्योंकि तुम आश्रयशून्य हो, शरीरचेष्टारहित और स्वयं अगुण होकर व हमारी सहायताकी अपेक्षा न करके, अपने स्वरूपके द्वाराही इस सगुण विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते हो, और इससे तुमको किसी प्रकारका विकार नहीं ॥ ५५ ॥

षष्ठस्कन्धीय गद्यमें भगवानकी परस्परविरुद्ध अचिन्त्य शक्तिका समर्थन।

अथ तत्रभवान् किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतंत्र्येण स्वकृत–कुशलाकुशलं फलमुपाददाति ? आहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्ते ? इति ह वाव न विदामः ॥ ५६ ॥

टिप्पणी–विश्वं पासीत्युक्तं, तत्पालकत्वमपि दुर्बोधमित्याह, अथेति । तत्र भवानिति–पूजार्थम् । देवदत्तः–प्राकृतो जनः, यथा गृहक्षत्रादि निर्म्माय मित्रोदासीनशत्रुगहने तस्मिन् निविश्य स्वकृतधर्म्माधर्म्मफलं सुखदुःखमनुभवति, तथैव भवानपि, गुणविसर्गे–देवासुरयुद्धादिलक्षणे, पतितः, पारतन्त्र्येण–देवादिविषयक-कृपाधीनतया, स्वकृतं–स्वकीयदेवादिकृतं, कुशलाकुशलफलं–सुखदुःखम्, उपाददाति–आत्मीयत्वेन स्वीकरोति ? आहोस्वित्–किं वा, समञ्जसदर्शनः अप्रच्युतशक्तिकः, आत्मारामः, उदास्ते–तत्र तत्र साक्षी सन् स्वान्-दुःखञ्च तत्रोपाददाति ? इति न विद्मः । बहूनां दुष्टानां, उच्चावचबु-विश्वपालकत्वम् अर्द्धकुक्कुटीग्रस्तं, सति च तादृशे तत्पारगसि, तेषु त्वञ्च दुर्घटमिति ॥ ५६ ॥ ।मालादि-

भा०टी०–हे प्रभो ! क्या तुम साधारण पुरुष देवदत्तकी समान इस था: ।" (गी० संग्रामरूप गुणविसर्गमध्यमें पतित होकर पराधीनताके वशसे आ

फलको अपना कहकर स्वीकार -कियाकरतेहो ? अथवा आत्माराम और उपशमशील रूपसें रहकरही अप्रच्युत-चिच्छक्तिके प्रभावसे उदासीन अर्थात् साक्षीरूपसे अवस्थान करतेहो ? यह हम नहीं जानतें ॥ ५६ ॥

नहि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीन-विकल्पवित- र्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलितान्तःक- रणाशयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसरे ॥ ५७ ॥

टिप्पणी--एवं लोकदृष्ट्या विरोधमापाद्य अचिन्त्यशक्तिदृष्ट्या तद्भावमापादयन्ति, नेति । त्वयि विरोधो न, यस्मात्, उभयं-विश्वात्मकत्व-दुष्टविमर्दकत्वपूर्वकसत्पालकत्वरूपं विश्वसृष्टिकार्य्यं, तत्र तत्रौदासीन्यरूपमात्मारामकार्य्यञ्च, इत्युभयं, युज्यते इत्यर्थः । नचलोकदृष्टान्तेन त्वयि तत्तच्छङ्का युक्ता कर्त्तुम्, अचिन्त्यमहिमत्वात्, इत्यविरोधोपपादाय विशेषणानि; तेषु, भगवति-नित्यप्रशस्तैश्वर्य्यादिषट्के, अपरिगणितगुणगणे-असंख्यातसत्यसंकल्पत्वभक्तवत्सलत्वादिधर्म्मके, ईश्वरे-सर्व्वप्रशास्तरि, अनवगाह्यमाहात्म्य-भक्तिहीनदुर्ज्ञेयमहिमनि; इति सत्यसंकल्पत्वात् तादृशविश्वसृष्ट्यापि श्रमलेशाभावः, भक्तवत्सलत्वात् तद्विद्रोहिविमर्दकत्वम्, ईश्वरत्वात् दुर्दान्तदण्डधर्तृत्वं, भगवच्छब्दप्रापात् नित्यलक्ष्मीकत्वात् कृत्स्नविरक्तिकत्वाच्च नात्मनि तत्तन्मननमिति । ननु ममेदृशतां केचित् पण्डिता न सहन्ते ? तत्राह । अर्वाचीनाः-वस्तुस्वरूपासंस्पर्शिनः, विकल्पादयो येषु, तादृशैः स्वोत्प्रेक्षितैः शास्त्रैः, कलितं ग्रस्तं, यत् अन्तःकरणं, तत्र, आशेरते-शयानास्तिष्ठन्ति, ये दुरवग्रहाः-हठाः, तैरेव, वादिनां-विवदमानानाम्, विवादस्य, अनवसरे-अगोचरे इत्यर्थः । तेषु, विकल्पः-'एवं वा एवं वा' इत्याकारः, वितर्कः-'किमत्र युक्तम्' इत्यनिश्चयः, विचा-'[illegible]मेव' इति निश्चयः, तत्र प्रमाणाभासाः, कुतिसतास्तर्का इति ५७

कलया ।

चन्द्राः

स एवेत्

-जो षड़ैश्वर्यसे परिपूर्ण है, जिसकी गुणपरम्परा गणनाकरके शेष [illegible]सकर्ता, जो सबकाही शासन करताहै, जिसका माहात्म्य किसीकी [illegible] नहीं होसकता, और वस्तुस्वरूपासंस्पर्शी विकल्प, वितर्क, विचार, [illegible] कुतर्कजालमें आच्छादित शास्त्रद्वारा जिनकी बुद्धि विक्षिप्त है,

१ "भैवंभो:" इत्यस्यप[illegible]

२ "[illegible]विशेषात्कर्षे" २

इन वादियोंका विवाद जिसके स्पर्श करनेंको असमर्थ है, वह अचिन्त्यशक्तिशाली तुममें उक्त उभयही अविरुद्ध हैं ॥ ५७ ॥

उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्द्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात् समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम् ॥५८॥" इति।

टिप्पणी—ननु काचिदिन्द्रजालविद्येव मयि प्रतारिणी मायास्ति, तया तत्तद्भावप्रतीतिःअवास्तवी इति चेत्?तत्राह,उपरतेति—"याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात" (ई० उ० ८) इति श्रुतेः सत्यकार्य्यहेतुत्वात सत्यैव तत्र शक्तिः, न त्विन्द्रजालतुल्येत्यर्थः। एवञ्चेत् तर्ह्यात्माराम इत्याद्युक्तिर्भवतां बाधितार्था ? तत्राह, केवल एवेति—विशुद्धविज्ञानमये गुणगुणिभावेनागृहीते इत्यर्थः। एवं तर्हि "दुरवबोध इवायं तव विहारयोगः" इत्याद्युक्तिर्भवतां बाधितार्था ? तत्राह, आत्ममायामित्यादि। आत्मभूता या माया—अचिन्त्या इच्छाशक्तिः, ताम्, अन्तर्धाय—मध्येकृत्वा, को न्वर्थो दुर्घट इव ? अपि तु सर्वःसुघट इत्यर्थः; "आत्ममाया तदिच्छा स्यात्" इति शब्दमहोदधेः।ननु भो देवाः! मम किं स्वरूपद्वयं भवद्भिरभिमतं, सगुणं शान्तोदितमेकं, निर्गुणं नित्योदितं द्वितीयमिति? तत्राह,स्वरूपद्वयाभावादिति। एक एव त्वमव्यक्तविशेषः केवल उच्यसे, व्यक्तविशेषस्तु भगवान्, इति एकस्यैव भावनाभेदेन द्विधा भातिः। एवमाह सूत्रकारः—"गतिसामान्यात" (ब्र० सू० १।१।१०।) इति। अस्यार्थः—परं तत्त्वमेकमेव;कुतः ? सर्वेषु वेदान्तेषु, गतेः—ज्ञानस्य, सामान्यात—ऐकरूप्यादिति। अयं भावः—"चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्। विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥" (शि० व०१।३) इत्यत्र एकस्य देवर्षेस्तथा तथा प्रतीतिर्दूरत्वान्तिकत्वनिबन्धनाऽन्यथा वर्णिता,तथैव एकस्य तत्त्वस्य ज्ञानभक्तिनिबन्धना केवलत्वभगवत्त्वरूपा सति, नास्ति वस्तुनि भेदलेश इति।ननु चेदेवं, तर्हि नानामतानि कस्मादिति चेत ? त्वत्त एव तानीत्याह, समेति। उच्चावचबुद्धीनां मतानि त्वमेवाज्ञातयाथात्म्यः, अनुसरसि—भासयसि, तेषु तत्तन्मतानीत्यर्थः। रज्जुर्यथा अज्ञातयाथात्म्यसर्पदण्डधारामालादिबुद्धीनां हेतुः, "भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।" (गी० १०।५) इति त्वदुक्तेरिति ॥ ५८ ॥

भा०टी०—समस्त मायिक संसारातीत केवल (विशुद्धविज्ञानमय) तुममें तुम्हारी इच्छाशक्तिके मध्यमें रखकर कौनसा विषय दुर्घट होसकताहै ? निर्विशेष और सविशेष अथवा सगुण और निर्गुण, यह दो तुम्हारे भिन्न स्वरूप हैं, सो नहीं. भावनाके भेदसे तुम्हारे एकही स्वरूपकी दो प्रकार प्रतीतिमात्र है, तोभी जिनकी बुद्धिके विषय सर्पादि हैं, उनके निकट जिसप्रकार एक रस्सीका टुकड़ाही सर्पादि भिन्न २ रूपसे प्रकाश होताहै, ऐसी जिनकी बुद्धि है, सम और विषम अर्थात अनिश्चित, तुम उनके अभिप्रायका अनुसरण वा उनके मध्यमें भिन्न भिन्न मतवाद आभासित किया करतेहो" ॥ ५८ ॥ इति।

अत्र कारिकाः ।—

विना शरीरचेष्टत्वं विना भूम्यादिसंश्रयम् ।
विना सहायांस्ते कर्म्माविक्रियस्य सुदुर्गमम् ॥
उक्तो गुणविसर्गेण देवासुररणादिकः ।
तस्मिन् पतित आसक्तः पारतन्त्र्यन्तु तद्भवेत् ॥
यदाश्रितेषु देवेषु पारवश्यं कृपाकृतम् ॥
तेन स्वकृतमात्मीयकृतं शुभशुभेतरत् ।
सुखदुःखादिरूपं किं फलं स्वीकुरुते भवान् ॥
आत्मारामतया किंवा तत्रोदास्तेतरामिति ।
न विद्मः किन्तु नैवेदं विरुद्धमुभयं त्वयि ॥
तत्र हेतुर्भगवतीत्यादि प्रोक्तं पदद्वयम् ।
तथैवेश्वर इत्यादि पदानां पंचकं मतम् ॥
भगवत्त्वेन सार्वज्ञं सद्गुणत्वं तथान्यतः ।
ब्रह्मत्वं केवलत्वेन लभ्यते तत्र च स्फुटम् ॥
यद्यपि ब्रह्मताहेतोः सर्वत्र स्यात् तटस्थता ।
तथाप्यार्द्रादिगुणद्वय्या भवेद्भक्तानुकूलता ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—गद्यार्थान् कारिकाभिर्व्याख्याति, विना शरीरेत्यादिभिः । अशरण इत्यस्य भूम्यादीति, शरणशब्दस्याश्रयवाच्यत्वं, "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः । अनवेक्षितेत्यस्य विनासहाया-

निति । विहारयोगेत्यस्य कर्म्मेति । सुदुर्गमम्–दुरवबोधमित्यर्थः ॥ गुणविसर्गपदं व्याचष्टे, उक्त इति । स्वकृतपदं व्याख्याति, आत्मीयकृतमिति–आत्मीयैर्देवैः कृतमर्जितं, यत् शुभाशुभफलं सुखदुःखं, तत् स्वकीयं मनुते इत्यर्थः ॥ एतच्च न सम्भवेदित्याह, आत्मारामतयेति । एवं संशय्य अथ विरुद्धगुणशालिन्याविचिन्त्यवस्तुनि त्वयि तदुभयं सम्भवेदिति सिद्धान्तयन्ति, किन्त्वित्यादि ॥ ननु सप्तभिः पदैः किं किमागतं ? तत्राह, भगवत्त्वेनेत्यादि । अन्यत इति–अपरिगणितेत्यादिकात् द्वितीयात् पदात्, तत्प्रभृतिपदपंचकात् वा, सद्गुणत्वं–भक्तवात्सल्य-तदार्त्तिपरिहर्तृत्व-दुष्टविनाशित्वादिसद्गुणत्वमित्यर्थः । केवलत्वेन–सप्तमपदार्थेन तु ब्रह्मत्वम्–अनभिव्यक्तसर्वज्ञत्वादिलक्षणं, लभ्यते इत्यर्थः ॥ ननु केवलत्वं चेत् स्वरूपधर्म्मस्तर्हि देवेषु भक्तेष्वपि तस्य, तटस्थता–उदासीनत्वं, स्यात ? तत्राह, तथापीति । आदिगुणद्वय्या–भगवतीत्यादिविशेषणद्वयाधिगतया । तस्यापि तद्वयस्य केवलत्ववत् स्वरूपधर्म्मत्वादिति भावः ॥ ५९ ॥

भा०टी०–इस स्थानमें कारिका।–शरीरकी चेष्टा, भूम्यादि आश्रय और दंड चक्रादिकी सहायके विना, विकारशून्य तुम्हारे कर्म अत्यन्त दुर्गम हैं ॥ गुणविसर्ग–शब्द-द्वारा देवासुरके युद्धादि उक्त हुए हैं । उसमें, पतित,–आसक्त, इसकोही पारतंत्र्य अर्थात् पराधीनता कहते हैं । क्योंकि आश्रित देवगणोंके निकट तुम्हारी परवशता कृपासे उत्पन्न है । (अर्थात् इससे तुम्हारी स्वतंत्रताकी हानि नहीं होती) तुम इसही कारणसे, स्वकृत–आत्मीयकृत अर्थात अपने देवताओंकरके अर्जित हो, सुखदुःखादिरूप शुभाशुभ फलको क्या आप अपना करके समझते हैं ? अथवा आत्मारामताके होनेसे उसमें एकवारही उदासीनता अवलम्बन करते हो ?–यह हम नहीं जानते । किन्तु (विरुद्धगुणशाली) तुममें यह दोनोंही असम्भव नहीं हैं ॥ 'भगवति' इत्यादि दो विशेषण, और 'ईश्वरमें' इत्यादि पांच विशेषण उसमें हेतु हैं ॥ तिनमें 'भगवत' शब्दद्वारा सर्वज्ञता, 'अपरिगणित' इत्यादि विशेषणोंसे सद्गुणशालिता और 'केवल' पद द्वारा ब्रह्मत्वकी स्पष्ट उपलब्धि होती है । ब्रह्मत्वके हेतुकरके सर्वत्र उदासीनताकी संभावना होनेपर भी 'भगवति' इत्यादि दो गुणोंसे भक्तपक्षपातिताकी सम्भावना है ॥ ५९ ॥

नन्वेकस्यास्वरूपस्य द्वैरूप्यं कथमेकदा ? ।
तत्राहअर्वाचीनेति तादृशानां हि वादिनाम् ॥
विवादस्यानवसरे तस्य तावदगोचरे ॥

अतोचिन्त्यात्मशक्तिं तां मध्येकृत्यात्र दुर्घटः ।
को न्वर्थः स्याद्विरुद्धोपि तथैवास्या ह्यचिन्त्यता ।
सा च नानाविरुद्धानां कार्य्याणामाश्रयान्मता ॥
'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इति च ब्रह्मसूत्रकृत् ।
"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ॥"
इति स्कान्दवचस्तच्च मण्यादिष्वपि दृश्यते ॥
तादृशीञ्च विना शक्तिं न सिध्येत् परमेशता ।
यतश्चानवगाह्यत्वेनास्य माहात्म्यमुच्यते ॥ ६० ॥

टिप्पणी—ननु असाधारणस्य केवलत्वस्य व्यावर्त्तकत्वात भगवत्त्वात ब्रह्मतत्त्वमन्यत् स्यात् ? इत्याशङ्क्यते, नन्विति।समाधत्त, तत्राहत्यादिना ॥ वस्तुसिद्धान्तं दर्शयति, अतोऽचिन्त्येति । को न्वर्थ इति—सर्वकर्तृत्व-तदुदासीनत्वरूपोऽर्थः, मिथो विरुद्धोऽपि दुर्घटो नेत्यर्थः । तथैव—स्वरूपवत, अस्याः—शक्तेः, अचिन्त्यता स्यात । साचेति । सा—शक्तेरचिन्त्यता, मता—अनुमितेत्यर्थः ॥ न केवलमनुमानमेव तत्र प्रमाणम्, अपि तु श्रुत्यादि चास्तीत्याह, श्रुतेस्त्विति । अस्यार्थः—लौकिके कर्त्तरि कुलालवर्द्धक्यादौ ये दोषा विकारखेदादयस्ते परमात्मनि कर्त्तरि न स्युः। कुतः ? श्रुतेः—सर्वं कुर्वन्नपि परमात्मा विकारादिदोषैरस्पृष्ट इति "स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः" (श्वे० उ० ६ । १६) "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।" (श्वे० उ० ६ । १९) इति श्रवणात । ननु बाधितमर्थं श्रुतिः कथमाह इति चेत ? तत्राह, शब्देति—अचिन्त्यार्थस्य शब्दप्रमाणैकवेद्यत्वादित्यर्थः । अत्रार्थे स्मृतिमुदाहरति, अचिन्त्या इति । प्राकृतेषु मण्यादिषु चेत सा शक्तिः,-किमुत परेशे ? इति कैमुत्यं सिध्यतीति ॥ यतश्चेति—अचिन्त्यशक्तित इत्यर्थः । स्फुटमन्यत ॥ ६० ॥

भा०टी०—यदि यह कहो कि, एकही स्वरूपकी युगपत द्विरूपता किस प्रकारसे सम्भावित है ? इस आशंकाके उत्तरमें कहते हैं, "अर्वाचीन" इत्यादि अर्थात जो वस्तुके स्वरूपको नहीं जानते, तुम उन वादियोंके विवादके अनवसर—अगोचर हो ॥ अतएव अचिन्त्य आत्मशक्तिको मध्यमें रखकर, विरुद्ध होनेपर भी, तुममें कोई विषय दुर्घट हो सकता है ? तुम्हारा स्वरूप जिस प्रकार भक्तिहीन वाद करनेवालोंके ध्यानमें नहीं आसकता वैसेही

तुम्हारी शक्तिभी चिन्तातीत है ॥ अनेक प्रकारके विरुद्ध कार्यसमूहके आश्रयसे देखकरही अनुमान किया जाताहै कि तुम्हारी वह शक्ति अचिन्त्य है॥ ब्रह्मसूत्रकारने कहा है–"अचिन्त्य विषय एकमात्र शब्दप्रमाणके गोचर हुआ करता है ।" और स्कन्दपुराणमें भी कहा है–"अचिन्त्य विषयमें तर्कको नहीं उठाना चाहिये ।" प्राकृत मणिमन्त्रौषधादिमें भी यह अचिन्त्य प्रभाव दिखाई दिया करताहै ॥ वैसी अचिन्त्य शक्तिके सिवाय परमेश्वरका परमेश्वरत्व सिद्ध नहीं हो सकता । उस अचिन्त्य शक्तिकेही प्रभावसे ईश्वरका माहात्म्य अनवग्राह्य कहकर कीर्तित हुआहै ॥ ६० ॥

अज्ञानमिन्द्रजालं वा वीक्ष्यते यत्र कुत्रचित् ।
अतो न पारमैश्वर्य्यं तेन तस्य प्रसिध्यति ॥
तच्च तस्य[1] नहीत्याह स्फुटश्चोपरतेप्यदः ॥
तथाभगवतीत्यादिपदानां षट्तयस्य च ।
भवेत् प्रयोगतात्पर्य्यमत्र निष्फलमेव हि ॥
तस्मान्न शास्त्रयुक्तिभ्यामुभयं तद्विरुध्यते ॥ ६१ ॥

टिप्पणी–न चेश्वरस्य अज्ञानं कुहकं वा शक्यं वक्तुमित्याह,अज्ञानमिति । रज्जोरज्ञानं यस्यास्ति, तत्राज्ञाता रज्जुः सर्पादिकमुद्भासयति, ऐन्द्रजालिकपुंसि स्थिता ऐन्द्रजालविद्या लोकान्प्रति नानार्थान् प्रत्याययति नहि तेन तया च रज्जुखण्डस्य ऐन्द्रजालिकस्य च ईश्वरता सिध्यति, इति तद्द्वयमीश्वरस्य न वक्तव्यम् । कुतः ? उपरतेत्यादिविशेषणादित्यर्थः ॥ तथेत्यादि–तत्र तद्द्वये स्वीकृते, भगवतीत्यादीनां षट्तयस्य प्रयोगतात्पर्य्यं, निष्फलं–व्यर्थं, भवेत; किं व्यावर्तयितुं तानि विशेषणानि कृतानि ? इत्यर्थः ॥ निगमयति, तस्मादिति । शास्त्रयुक्तिभ्याम्–अचिन्त्य–शक्तिनिरूपकाभ्यामित्यर्थः, तत उभयं–विश्वपालकत्वं तत्रौदासीन्यञ्च, न विरुध्यते ॥ ६१ ॥

भा०टी०–अज्ञान और इन्द्रजालविद्या जहां तहां दिखाई देतीहै, अत एव अज्ञान और इन्द्रजालादिद्वारा परमेश्वरका पारमैश्वर्य प्रतिपन्न नहीं होता॥क्योंकि 'उपरत' इत्यादि विशेषणोंसे ईश्वरमें इन दोनोंका अभावही प्रतिपादित हुआहै । ईश्वरमें अज्ञान और इन्द्रजालके स्वीकार करनेसे, 'भगवति' इत्यादि छैः प्रकारके विशेषण–प्रयोगका तात्पर्य निष्फल हुआ जाताहै ॥ अत एव अचिन्त्यशक्तिनिरूपक शास्त्र और युक्तिद्वारा विश्वपालकत्व, और उसमें औदासीन्य यह दो विरुद्ध नहीं हो सकते ॥ ६१ ॥

---

१ "तच्च तस्य" इत्यत्र "तच्च तत्र" इति पाठान्तरम् ।

*तथाप्युच्चावचधियामनेवंतत्त्ववेदिनाम् ।
मतानुसारतो भासि रज्जुवत् त्वं तथा तथा ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—चेदेवं मद्याथात्म्यं, तर्हि नानामतानि कुतः ? तत्राह, तथाप्युच्चावचेति—व्याख्यातं प्राक् ॥ ६२ ॥

भा०टी०—जिनका चित्त अज्ञानके वशसे सर्पादिभावमें भावित है, उन लोगोंकी बुद्धिमें जैसे रस्सीका टुकड़ा सर्पादि रूपसे प्रतिभात होताहै, वैसेही जिनकी मति अनेक भावोंसे भावित है, अत एव जो लोग यथार्थज्ञानसे शून्य हैं, तुमभी उन लोगोंके मतानुसार उन्हीं भावोंमें प्रकाशित हुआ करते हो ॥ ६२ ॥

ननु भोः केवलं ज्ञानं ब्रह्म स्याद्भगवान्पुनः ।
नानाधर्म्मेति तत्रापि स्वरूपद्वयमीक्ष्यते ॥
इति प्राहुः स्वरूपेति तत्स्वरूपस्य नैवहि ।
कदापि द्वैतमेकस्य धर्म्मद्वयमिदं ध्रुवम् ॥
ततो विरोधस्तच्छक्तिविलासानां यदीक्ष्यते ।
तदेवाचिन्त्यमैश्वर्य्यं भूषणं न तु दूषणम् ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—पुनराशंक्य समादधाति, ननुभो इत्यादिना ॥ इति प्राहेति—इति पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्तमाहेत्यर्थः । धर्मद्वयमिति—यस्य भगवत्त्वं, तस्यैव केवलत्वञ्च, इत्येकस्यैव धर्म्मद्वयमिदं, ध्रुवं—निश्चितम् । इत्थञ्च केवलाद्वैतिनामिव ब्रह्मस्वरूपं शास्त्रकृतां नाभिमतं, किन्तु "चयस्त्विषाम्" इति न्यायेन एकस्यैव धर्म्मद्वयमित्यर्थः ॥ तत इति—जगत्कर्तृत्व-तत्पालकत्व-तदौदासीन्यरूपो यो विरोधस्तच्छक्तीनां दृश्यते, तदेव पारमैश्वर्य्यमचिन्त्यशक्तिकृतं, भूषणमेवेति—निर्विशेषवादगन्धोऽपि नास्तीति न प्राचा सार्द्धं विरोधलेशश्च ॥ ६३ ॥

भा०टी०—यदि कहो कि, केवल ज्ञानको ब्रह्म और अनेक धर्माश्रय वस्तुको भगवान् कहनेसे क्या उनमें दो भिन्न भिन्न स्वरूप दिखाई दिया करते हैं ? इस शंकाको दूर करनेके लिये कहाहै "स्वरूपद्वयाभावात् ।" इससे कभी भी उसके स्वरूपको द्वैत नहीं कहा गया, केवल एकही स्वरूपके दो धर्म निर्णय किये गये हैं अतएव उनके शक्तिविलासकी जो विरोध प्रतीति हो, उसकोही अचिन्त्य ऐश्वर्य कहते हैं, यह उसका भूषण ही है, दूषण नहीं ॥ ६३ ॥

ब्रह्मत्व व भगवत्त्व दो पृथक् स्वरूप नहीं हैं, एकही स्वरूपके दो पृथक् धर्म हैं ।

---

१. "द्वैतमकस्य धर्म्मद्वयमिदं ध्रुवम्" इत्यत्र "द्वैतमेकस्याव्यक्तयाऽव्यक्तया भिदाद्वयम्" इति पुस्तकान्तरम् ।

इयमेव विरोधोक्तिस्तृतीयेपि च दृश्यते ॥
"कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।
कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रमः
स्वात्मन् रतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥" (भा० ३ । ४ । १६)इति।
तत्तन्न वास्तवं चेत्स्याद्विदां बुद्धिभ्रमस्तदा ।
न स्यादेवेत्यचिन्त्यैव शक्तिर्लीलासु कारणम् ॥
यथा यथा च तस्येच्छा सा व्यनक्ति तथा तथा ॥ ६४ ॥

टिप्पणी—मिथोविरुद्धाचिन्त्यशक्तिकत्वं विधान्तरेणाह, इयमेवेति ॥ कर्म्माणीति—उद्धववाक्यं, स्फुटार्थम् । इह—एषु कर्म्मादिष्वित्यर्थः ॥ तत्तदिति—यद्येतत् मिथो विरुद्धं वस्तु वास्तवं न स्यात्, तदा तत्त्वविदामेषां बुद्धिभ्रमो न स्यात्, अतस्तादृशतत्सम्पादिका अचिन्त्यशक्तिरेव सिद्धेति ॥ स्फुटमन्यत् ॥ ६४ ॥

भा०टी०—तीसरे स्कन्धमेंभी ऐसा विरोध कहा गया है ।—"निरीहका कर्म, अजका जन्म, कालस्वरूपके शत्रुभयसे दुर्गाश्रय व मथुरासे भागना और आत्मारामका सोलह सहस्र स्त्रियोंके साथ विलास, इन सब बातोंमें ब्रह्मज्ञानीकी बुद्धिभी भ्रान्त होती है" इति । वह समस्त कर्मादि वास्तविक न होते तो कभीभी ब्रह्मज्ञानीकी बुद्धि भ्रान्त नहीं होती । अतएव भगवान्की अचिन्त्यशक्तिही लीलाकी हेतु है ॥ उनको जैसी जैसी इच्छा उत्पन्न होतीहै, अचिन्त्यशक्तिभी वैसी २ लीलाओंको प्रगट कियाकरतीहै ॥ ६४ ॥

भगवानमें विरुद्ध शक्तिमत्ताका और एकप्रकारसे समर्थन ।

एवं प्रासङ्गिकं प्रोच्य प्रकृतार्थो निरूप्यते ।
ननु यः प्रकृतिस्वामी योऽन्तर्यामी च पूरुषः ।
ताभ्यामधिकता नास्य कंसारेरुपपद्यते ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—एवमिति—नित्याविर्भूतनिखिलशक्तिकत्वहेतुके कृष्णस्य स्वयंरूपत्वे निर्णये, प्रसंगागतम् एकत्वेऽपि पृथक्त्वादिकं निरूप्य, इदानीं प्रकृतं स्वयंरूपत्वं निरूप्यते इत्यर्थः ॥ तथाहि, नन्विति । प्रकृतिस्वामी—कारणार्णवशायी, पूरुषः, अन्तर्यामी च—गर्भोदकशायी, ताभ्यामधिकः कृष्णो नेत्यर्थः ॥ ६५ ॥

भा॰टी॰—इसप्रकार प्रासंगिक विषय समाधानकरके इससमय प्रकृतविषय श्रीकृष्ण-जीकी स्वयंरूपता निरूपण कीजातीहै। यदि कहो कि, जो प्रकृतीके नियन्ता कारणार्णवशायी हैं, और जो अन्तर्यामी पुरुष गर्भोदशायी हैं, इनकी अपेक्षा श्रीकृष्णजीकी अधिकता प्रतिपन्न नहीं होती ॥ ६५ ॥

श्रीकृष्ण कारणार्णवशायी और गर्भोदशायी पुरुषकी अपेक्षा श्रेष्ट नहीं है क्योंकि यह क्षीराब्धिशा-यी विष्णुके अवतार हैं, इस प्र-कार पूर्वपक्षका उत्थापन।

तथाहि श्रीप्रथमे (भा॰ ३ । १ । १--५)--

"जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः ।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—तत्र कारणार्णवशायिनमाह, जगृहे इति । आदौ--पूर्वं, भगवान्—परमव्योमाधीशः, पौरुषं—पुरुषाकारं पुरुषाख्यं वा, रूपं--विग्रहं, जगृहे--प्रकटितवान् । केन हेतुना ? इत्याह, महदादिभिर्लोक-सिसृक्षया । कीदृशं रूपं ? सम्भूतं—सम्यक् सत्यं; यद्वा, महदादिभि-र्लोकसिसृक्षया, सम्भूतं—युक्तम् । पुनः कीदृक् ? षोडश, कलाः—शक्तयः, यत्र तत् ॥ ६६ ॥

भा॰टी॰—तथाहि श्रीप्रथमे—"भगवान् परव्योमनाथने सब अवतारोंके पहिले महदा-दितत्त्वद्वारा विश्वरचना करनेकी इच्छा करकें, पुरुषावताररूपका आविष्कार कियाथा । इस भांति सम्यक् सत्य और षोड़शशक्तियुक्त ॥ ६६ ॥

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिन्द्रां वितन्वतः ।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥
यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्ज्जितम् ॥
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥
एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥ ६७ ॥" इति ।

टिप्पणी—गर्भोदशायिनमाह, यस्येति । यस्य--परमव्योमाधी-शस्य, अम्भसि--गर्भोदसमुद्रे, प्रद्युम्नवपुषा शयानस्य, नाभिह्रदाम्बु-जात् ब्रह्मासीदित्यन्वयः ॥ रूपं विशिनष्टि, यस्य--रूपस्य विग्रहस्य,

अवयवसंस्थानैः-पादाद्यङ्गसन्निवेशैः, तत्सदृशतया, लोकविस्तरः "पातालमेतस्य हि पादमूलम्" (भा० २ । १ । २६) इत्यादिवाक्यैः, कल्पितः-स्थूलधियां मनःस्थैर्याय उपदिष्ट इत्यर्थः । तत् भगवतोरूपं, विशुद्धं-जाड्यांशेनापि रहितं, सत्त्वं-स्वप्रकाशताशक्तिरूपम्, अत ऊर्जितं-बलवत्, मायानिवासकमित्यर्थः। तमोरजोभ्यामसंपृक्तं मायिकं सत्त्वं तदिति तु वदन्तो भ्रान्ता एव, तदसंपृक्तस्य तत्सत्त्वस्याभावात, "अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः ।" (आगमे) इति स्मरणात ॥ सूक्ष्मधियस्तु तदेव रूपं ध्यायन्तीत्याह, पश्यन्तीति । अदभ्रचक्षुषा-ज्ञाननेत्रेण । सहस्रशब्दोऽत्रासंख्यातवाची, "विश्वतश्चक्षुः" (श्वे० उ० ३ । ३; म० ना० उ० २ । २) इति लिङ्गात् ॥ तस्यावतारित्वमाह, एतन्नानेति । निधानम्-अधिकरणं, रूपान्तराणां वैदूर्य्य इव । यस्यांशो विरिञ्चिः;तस्यांशो मरीच्यादिः, तेन, देवादयस्तदुपाधयः, सृज्यन्ते-जन्यन्ते ॥ ६७ ॥

भा०टी०-उन परव्योमनाथके, द्वितीयपुरुष प्रद्युम्नरूपसे गर्भोदकमें शयान होकर योगनिद्राका अवलम्बन करनेसे, उनके नाभिहृदस्थ पद्ममें मरीचिआदि प्रजापतिके गुरु ब्रह्माजीने जन्म लियाथा ॥ यह चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्ड जिसके पादादि-अवयवोंकी सन्निवेशसमानतासे परिकल्पित हुआहै, उन भगवानका रूप विशुद्धसत्त्व और ऊर्जित अर्थात् मायानिवासक है ॥ मनीषिगण, ज्ञानके नेत्रोंसे उस रूपका दर्शन कियाकरतेहैं । वह असंख्य चरण, ऊरु, बाहु, वदन, मूर्द्धा, श्रवण, अक्षि, नासा, मौलि, वसन और कुण्डलद्वारा अद्भुतरूपसे शोभायमान है । इस पुरुषरूप,नानाविधि अवतारका प्रवेश और निर्गमस्थान, क्षय-विनाशशून्य है । जिसके अंशके अंश मरीचिआदि प्रजापतिगण, देव, तिर्यक और नरादिकी सृष्टि किया करतेहैं" ॥ ६७ ॥ इति ।

अत्र कारिकाः ।-

आदौ सर्वावताराग्रे भगवान्पुरुषोत्तमः ।
महत्तत्त्वादिभिः कृत्वा भुवनानां सिसृक्षया ॥
पौरुषं पुरुषाकारमथवा पुरुषाभिधम् ।
रूपमानन्दचिन्मूर्त्ति जगृहे प्रादुराचरत् ॥
अर्थः सम्भूतशब्दस्य सम्यक्सत्यामितीरितः ।

१ "अधिकरणम्" इत्यत्र "आदिकारणम्" इति पाठान्तरम् ।

सम्भूतं युक्तमिति वा भुवनानां सिसृक्षया ।
षोडशैव कला यस्मिंस्तत्षोडशकलं मतम् ॥
ताः षोडशकलाः प्रोक्ता वैष्णवैः शास्त्रदर्शनात् ।
शक्तित्वेन च ता भक्तिविवेकादिषु सम्मताः ॥
"श्रीर्भूः कीर्त्तिरिला लीला कान्तिर्विद्येति सप्तकम् ।
विमलाद्या नवेत्येता मुख्याः षोडश शक्तयः ॥" इति ।
तदिदं पौरुषं रूपं त्रिविधं पूर्वमीरितम् ।
तत्र प्रोच्य महत्स्रष्टृरूपमण्डस्थमुच्यते ॥
यस्याजाण्डप्रवेशेन शयानस्य तदम्भसि ।
नाभिह्रदाम्बुजादासीदिति सुव्यक्तमेव हि ॥
यस्य नाभिह्रदाब्जस्यावयवाः कर्णिकादयः ।
संस्थानान्यत्रविन्यासविशेषास्तैस्तु कल्पिताः ।
लोकानां सर्वजगतां विस्तारो विततिः किल ॥
स शेते येन रूपेण तच्छुद्धं सत्त्वमूर्ज्जितम् ॥
पश्यन्तीत्यादिपद्येन तदेवेदं विशिष्यते ।
एतद्रूपन्तु नानावताराणामुदयास्पदम् ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—पद्यपञ्चकं कारिकाभिर्व्याचष्टे, आदावित्यादिभिः। भगवान्—परव्योमाधीशः ॥ अर्थः सम्भूतेति—"भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ जन्तौ क्लीबं त्रिषूचिते। प्राप्ते वृत्ते समे सत्ये देवयोन्यन्तरे तु ना।" इति मेदिनी। सम्भूतं युक्तमिति वेति—"सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा।" (शि० व० २। १००) इति माघकाव्ये प्रयोगात् ॥ ताः कला नामभिर्निर्दिशति, श्रीरित्यादिभिः । विमलाद्यास्तु महावैकुण्ठवर्णने व्यक्तीभविष्यन्ति, ताश्च—"विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगा तथैव च । प्रह्वी सत्या तथेशानानुग्रहेति नव स्मृताः ॥" पूर्वमीरितमिति—"विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि" इत्यादिना । तत्रेति । "जगृहे पौरुषं रूपम्" इति पद्येन, महत्स्रष्टृरूपं—कारणोदशयं, प्रोच्य, "यस्याम्भसि" इत्यादिभिः, अण्डस्थं—गर्भोदशयरूपम्, उच्यते इत्यर्थः ॥ यस्येति—

विग्रहस्येति व्याख्यातं प्राक्; ग्रन्थकृद्भिस्तु, यस्य-नाभिहृदाम्बुजस्य, इति व्याख्यायते, फलन्तु तुल्यं भाव्यम् । अन्यत् विस्फुटार्थम् ॥ ६८ ॥

भा० टी०-इन समस्त श्लोकोंकी कारिका ।-आदिमें-सब अवतारोंसे पहिले, भगवान पुरुषोत्तमजीने, महत्तत्त्वादिके द्वारा चौदह भुवनोंके रचनेकी इच्छा करके, पौरुष-पुरुषाकार, अथवा पुरुषाभिध, रूप-आनन्दचिन्मूर्त्ति, ग्रहण-प्रादुर्भाव कियाथा ॥ सम्भूतशब्दका अर्थ सम्यक् सत्य, अथवा जगत्की सिसृक्षायुक्त है । सोलहकला जिसमें विद्यमान हैं, उसका नाम 'षोड़शकल' है ॥ वैष्णवगण शास्त्रदर्शनानुसार उन सोलह कलाको 'शक्ति' कहकर कीर्त्तन करतेहैं, और यह भक्तिविवेकादि ग्रंथोंकीभी सम्मत है । "श्री, भू, कीर्त्ति, इला, लीला, कान्ति और विद्या यह सात और विमलादि अर्थात् विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना, और अनुग्रहा; यह नौ, यही मुख्य सोलह शक्ति हैं ।" इति । पूर्वमें यह पौरुषरूप त्रिविधरूपसे कीर्तित हुआहै। तिसमें महत्स्रष्टृरूप होनेसे अंडस्थ अर्थात् गर्भोदशय-रूप कहते हैं ॥ जो ब्रह्माण्डके मध्यमें प्रवेशकरके शयन करतेहैं, तब जिनके नाभिहृदस्थ कमलमें ब्रह्माजी उत्पन्न हुएहैं, इसमें स्पष्टही ब्रह्माण्डमध्यस्थ पुरुषरूपकी कथा कही गई है । जिसके नाभिहृदस्थ पद्मका अवयव-कर्णिकादि, संस्थान-विन्यासविशेष, तिसकरके, लोककी समस्त जगत्की विस्तार-वितति कल्पित हुई है । वह जिस प्रकारसे प्रकटन करके शयन करते हैं, वह शुद्धसत्त्व और ऊर्जित है॥ "पश्यन्ति" इत्यादि श्लोकसे उस रूपकोही विशेष करके कहते हैं । इस भांति, नानाविध अवतारक उद्गम स्थान ॥ ६८ ॥

षोड़शशक्तिः ।

यथैकादशे (भा० ११ । ४ । ३)-

"भूतैर्यदा पंचभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः ॥"

अत्र सार्द्धकारिका ।-

नारायणोऽत्र परमव्योमेशानः स आत्मना ।
पुंस्वरूपेण सृष्टैस्तैर्भूतैः सृष्ट्वा विराट्तनुम् ॥
विष्टः स्वांशेन तेनैव सम्प्राप्तः पुरुषाभिधाम् ॥ ६९ ॥

टिप्पणी-तस्य पुरुषस्य अवतारित्वमुदाहरति, भूतैरिति आदिदेवः नारायणः-परमव्योमपतिः, आत्मना-प्रथमपुरुषवपुषा, सृष्टैः, भूतै-

१ "व्योमेशानः" इत्यत्र "व्योमाधीशः" इति पाठान्तरम् । २ "सृष्टैस्तैर्भूतैः" इत्यत्र "सृष्टैस्तु भूतैः" इति पाठान्तरम् ।

विराजं पुरं निर्माय, तस्मिन्, स्वांशेन–द्वितीयपुरुषवपुषा, प्रविष्टः सन्, पुरुषाभिधानं–पुरुषावतारसंज्ञाम्, अवाप; स चोक्तानामवताराणामवतारीति ख्यातमित्याशयः ॥ नारायणोऽत्रेत्यादिकारिकार्थस्तु स्फुटार्थः ॥ ६९ ॥

भा॰टी॰—यथा एकादशमें–"आदिदेव परव्योमनाथ, जिस कालमें प्रथम पुरुषरूपसे उत्पादित पंचभूतद्वारा, ब्रह्माण्डरूप पुरी निर्माण करके, तिनमें द्वितीय पुरुषरूपसे प्रवेश करते हुए, तिस कालमें 'पुरुष' आख्याको प्राप्त हुए थे ।" इस श्लोककी सार्द्ध कारिका।–इस श्लोकमें, नारायण–परव्योमनाथ, आत्माद्वारा–पुरुषरूपद्वारा,–प्रथमपुरुषके द्वारा, सृष्ट पंच भूतकी सहायतासे, विराट् शरीरको उत्पन्न करके, स्वांश अर्थात् द्वितीय पुरुष रूपसे, तिसमें प्रविष्ट हो 'पुरुष' इस नामको प्राप्त हुए हैं ॥ ६९ ॥

प्रस्तुते तु किमायातमित्याशङ्क्य निगद्यते[1] ।
सोऽस्य गर्भोदशय्यस्य विलासो यश्चतुर्भुजः ।
शेते प्रविश्य लोकाब्जं विष्णवाख्यः क्षीरवारिधौ ॥
अयश्च स्थावरान्तानां सुरादीनां शरीरिणाम् ।
हृद्यन्तर्यामितां प्राप्तो नानारूप इव स्थितः ॥
'तृतीयं सर्वभूतस्थम्' इति विष्णोर्यदुच्यते ।
रूपं सात्त्वततन्त्रे तद्विलासोऽस्यैव सम्मतः ॥
अतः क्षीराम्बुधेस्तीरे कृतोपस्थानकः सुरैः ।
एष एवावतीर्णोऽभूत्कृष्णाख्य इति युज्यते ॥ ७० ॥

टिप्पणी–प्रस्तुते त्विति । एवं कारणोदशय-गर्भोदशययोर्वर्णनेन अवतारित्वकीर्त्तनेन च, प्रस्तुते–'ताभ्यां पुरुषाभ्यां कंसारेरधिकता नोपपद्यते' इत्याक्षेपे, किमायातम् ? इत्याशङ्क्य, प्रतिवादिना ताभ्यां तस्य न्यूनता निगद्यते इत्यर्थः । तथाहि, सोऽस्येति–गर्भोदशय्यस्यांशः क्षीराब्धिशयोऽनिरुद्धः, स एव देवाभ्यर्थनया कृष्णोऽभूदिति चतसृणां कारिकाणां निष्कर्षः ॥ तद्विलासोऽस्यैवेति–तत् रूपम्, अस्यैव–गर्भोदशयस्य, विलास इत्यन्वयः । तथा च कृष्णस्य स्वयंरूपत्वं सुदूरापास्तमिति ॥ ७० ॥

१ "निगद्यते" इत्यत्र "निरूप्यते" इति पाठान्तरम् ।

भा०टी०—यदि कहो कि, इससे प्रस्तुत अर्थात् 'उन दो पुरुषोंकी अपेक्षा कृष्णजीकी अधिकता नहीं है इस प्रस्तावित विषयकी क्या उपयोगिता हुई ?' इस आशंकाके होनेपर कहते हैं ।—गर्भोदशायीका विलास जो चतुर्भुजमूर्ति है, वह लोकपद्ममें प्रवेश करके विष्णुनामसे पुकारे जाकर क्षीराब्धिमें शयन करते हैं । यह विष्णुजीही, देवादिसे लेकर स्थावरपर्यन्त, प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी होकर अनेक रूपोंकी समान स्थित हैं ॥ सात्त्वततंत्रमें 'तृतीय पुरुष—सर्वभूतस्थ' कहकर, विष्णुजीके जिस रूपका वर्णन है, वह इन गर्भोदशायी विष्णुजीकी विलासमूर्ति है ॥ अत एव देवताओंने क्षीरसमुद्रके किनारेपर पहुंचकर जिन विष्णुजीकी उपासना की थी, वही अवतीर्ण होकर 'कृष्ण' इस नामसे पुकारे गये हैं, यही युक्तियुक्त है ॥ ७० ॥

उक्त गर्भोदशायीका विलास क्षीराब्धिपतिका अवतार श्रीकृष्ण, इस प्रकार पूर्वपक्ष।

अथात्र पूर्वपक्षे वः सिद्धान्तः प्रतिपाद्यते ।
यथा श्रीदशमे तेषु सुरेष्वेवाशरीरगीः ॥
(भा० १० । १ । २३)—
"वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान्पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥ " इति ॥

अत्र कारिकाः ।—

पुरुषस्य परत्वेन साक्षाच्च भगवानिति ।
एतस्यैव महत्स्रष्टा सोऽ श इत्यभिविश्रुतः ॥
अत्र श्रीस्वामिपादानामपि सम्मतिरीक्ष्यते ।
यदंशभागेनेत्यस्य व्याख्यां कुर्वद्भिरेव तैः ॥
अंशेन भागो मायाया येनेत्यंशोऽस्य पूरुषः ।
भागो भजनमित्येवं पूर्णतास्य स्फुटीकृता ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—एतं पूर्वपक्षं निराकर्त्तुमाह, अथेति । क्षीराब्धिपतिः देवैरभ्यर्थितः कृष्णोऽभूदिति यदुक्तं, तत् रभसादेव वाक्यार्थानवलोकनादिति भावेनाह, यथा श्रीति ॥ तां गिरमाह वसुदेवेति—क्षीराब्धिपतेर्वाक्यं सुरान् प्रति ब्रह्मानुवदति; "गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह । गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुनर्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥" (भा० १० । १ । २१) इत्यस्य वा-

क्षयस्य पूर्वत्रूत्तत्वात् । वसुदेवगृहे पुरुषो जनिष्यते, न त्वहम् । तर्हि किं गर्भोदशायी ? नेत्याह, पर इति । तर्हि किं कारणोदशायी ? नेत्याह, भगवानिति । तर्हि किं परमव्योमाधीशः ? नेत्याह, साक्षादिति ।'स्वयं दासास्तपस्विनः' इतिवत् अन्यानपेक्षभगवत्त्वविशिष्टो यः, स साक्षाद्भगवानुक्तस्तद्गृहे भविष्यतीत्यर्थः । सुरस्त्रियः-उपेन्द्रपरिकररूपाः, तत्प्रियार्थ-तत्प्रेयसीनां परिचर्यार्थमित्यर्थः ॥ पुरुषस्येति-परशब्देन पुरुषशब्दस्य, साक्षाच्छब्देन भगवच्छब्दस्य विशेषितत्वात्, वसुदेवगृहाविर्भूतस्य स्वयंरूपत्वसिद्ध्या, कारणोदशायस्य कृष्णांशत्वे सिद्धे, तदंशांशस्य क्षीराब्धिपतेः कृष्णत्वं ब्रुवन्तो भ्रान्ता इति ॥ विद्वत्तमसम्मतिमत्राह, अत्र श्रीति । अस्येति-कृष्णस्य ॥ ७१ ॥

भा०टी०-अनन्तर श्रीदशममें उन देवताओंके प्रति जिस प्रकारसे आकाशवाणी हुई थी, तदनुसार तुम्हारे इस पूर्वपक्षका यथार्थ सिद्धान्त प्रतिपादन करतेहै॥यथा;- "परम पुरुष साक्षात भगवान् वसुदेवके गृहमें प्रादुर्भाव करेंगे, उनका प्रियकार्य साधन करनेको समस्त देवताओंकी स्त्रियें जन्म लें॥"इति।इस श्लोककी कारिका।-परशब्द पुरुषका और साक्षात शब्द भगवान्का विशेषण होनेसे यह स्थित हुआ कि, महत्स्रष्टा पुरुष श्रीकृष्णजीका अंश है। इस सिद्धान्तमें श्रीश्रीधरस्वामीकी सम्मति भी पाईजाती है । क्योंकि "अंशभागेन" इस पदकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि, जिस करके अंशद्वारा मायाका भाग है । भाग-भजन । इस व्याख्यासे पुरुषको श्रीकृष्णजीका अंश निश्चयकरके, स्वयंरूपसे श्रीकृष्णजीकी पूर्णता स्थापन की है ॥ ७१ ॥

(उक्त पूर्वपक्ष-का सिद्धान्त उत्तरपक्ष ।)

किञ्च तत्रैव देवक्या कृते स्तोत्रे निरूपितम् ॥

यथा (भा० १० । ८५ । ३१)-

"यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥" इति ।

अत्र कारिका ।-

यस्यांशः पुरुषस्तस्य स्यादंशः प्रकृतिस्तु सा ।
तस्या अंशा गुणास्तेषां भागेनास्योद्भवादयः ॥ ७२ ॥

---

१ "भागेनास्योद्भवादयः" इत्यत्र "भागेनास्योदयादयः" इति पाठान्तरम् ।

टिप्पणी--किञ्चेति। तत्रैव-श्रीदशमे॥ यस्येति—श्रीकृष्णस्य मत्पुत्रस्य तव ॥ अत्र कारिकेति । पुरुषस्य कृष्णांशत्वम् अनभिव्यक्तनिखिलगुणककृष्णत्वं, प्रकृतेः पुरुषांशत्वं प्रकृतिशक्तिमत्पुरुषैकदेशत्वं, पुरुषोपसर्जनीभूतत्वं वेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

भा०टी०--और कहते हैं, उस दशममेंही देवकीकृतस्तोत्रमें निरूपित हुआहै । यथा— "जो तुम्हारे अंशका अंश है और तदंशभागद्वारा इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय हुआ करती है, हे विश्वात्मन्! आज मैं वही तुम्हारी शरण लेताहूं।" इति। इस श्लोककी कारिका ।--जिसका अंश पुरुष है, उसकी अंश प्रकृति है, उसकेही अंश गुणसमूह हैं, उसके भाग अर्थात् परमाण्वादिद्वारा, इस संसारकी उद्भवादि हुआकरतीहै ॥ ७२ ॥

किञ्च तत्रैव (भा० १० । १४ । १४)–

"नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनाम्
आत्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात्
तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥ ७३ ॥" इति ।

टिप्पणी—कारणोदशयस्य गर्भोदकशयस्य च कृष्णांशत्वं ब्रह्मवाक्येनाह, नारायण इति । "जगत्त्रयान्तोदधिसंप्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात् । विनिर्गतोऽजस्त्विवति वाङ् वै मृषा किन्त्वीश्वर ! त्वन्नविनिर्गतोऽस्मि ॥" (भा० १० । १४ । १३) इति पूर्वपद्येन, 'हे ईश्वर ! त्वं मत्पिता नारायणोऽसि, अतः पुत्रस्य मेऽपराधं क्षमस्व' इत्युक्त्या कृष्णस्य पुरुषनारायणत्वमुक्त्वा, अथ विधिरखण्डैश्वर्यं वीक्ष्य भीतस्तत् प्रतिषेधति, त्वं, नारायणः—मत्पिता गर्भोदशयः, न हीति । तत्र हेतुगर्भं सम्बोधनम्, अधीशेति—ईशा ब्रह्माण्डान्तर्यामिणो मत्पितृरूपास्तेभ्योऽधिक हे । यतस्त्वं सर्वदेहिनामात्मासि—समष्टिजीवानां विरिञ्चीनां वैकुण्ठस्थितानां गरुड़विष्वक्सेनादीनाञ्च नित्यमुक्तजीवानां तत्तद्रूपैः प्रकाशकः प्रवर्त्तकश्चासि; तेषामखिललोकानां, साक्षी—साक्षाद् द्रष्टा, चासि; इति महानारायणः सर्वतोधिकस्त्वमसीत्यर्थः । यस्मादेवम्, अतो नरभूजलायनाद्यः, नारायणः—प्रथमो द्वितीयश्च पुरुषः, स तव, अङ्गं—स्वांश इत्यर्थः । तच्च पुरुषनारायणत्वं तव, सत्यमेव—पारमार्थिकं, न तु माया—नानित्यमित्यर्थः । तथा च परम्परयापि त्वत्पुत्रत्वात् मेऽपराधः क्षन्तव्य इति भावः ॥ ७३ ॥

भा०टी०—और उस दशममेंही—"हे प्रभो! तुम नारायण होवो। हे अधीश! जिससे कि तुम सर्वप्राणियोंके आत्मा हो और अखिललोकके साक्षी हो, अतएव नर-भू अर्थात् परमात्मोत्पन्न जल अर्थात् कारणार्णव और गर्भोदकका आश्रय करके जो नारायण—नामा है, वह तुम्हारे अंश हैं। वह पुरुष नारायणत्व परमार्थसत्य, मायिक अर्थात् अनित्य नहीं हैं।" ॥ ७३ ॥ इति ।

अत्र कारिकाः ।—

जगत्त्रयेति पद्येन श्रीनारायणतां वदन् ।
कृष्णस्याथ स्वयं दृष्ट्वा परमैश्वर्य्यमद्भुतम् ॥
पर्य्याप्ताजाण्डनियुतं स्वयं भीतिभराकुलः ।
नारायणस्त्वं नेत्याह सापराध इवात्मभूः ॥
हे अधीशेत्यजाण्डौघस्थितान्तर्यामिपूरुषाः ।
ईशास्तेभ्योऽधिकोऽधीशो हि यतः सर्व्वदेहिनाम् ॥
समष्टीनां सवैकुण्ठजीवानां त्वं प्रकाशकः ।
तेषामखिललोकानां साक्षी द्रष्टाप्यसि स्वयम् ॥
अतो यो नरभू-नीरायनान्नारायणः स्मृतः ।
स तेऽङ्गमंशः पूर्णस्य चिन्मायाशक्तिवैभवैः ॥
चातुष्पादिकमैश्वर्य्यं तव तस्य तु पादिकम् ।
'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेने' ति ते वचः ।
तद्धांशत्वं भवेत्सत्यं विराड्वन्न तु मायिकम् ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—पद्यं व्याचष्टे, जगदिति।स्वयं भीतिभरेति—पूर्णस्य स्वांशतोक्तिर्भयोदयः ॥ स्मृत इति—"आपो नारा इति प्रोक्ताः" (वि० पु० १।४।६) इत्यादिस्मृतिवाक्येनोक्त इत्यर्थः । चिन्मायेति—चिच्छक्तेर्मायाशक्तेश्च वैभवैः, पूर्णस्य तव ऐश्वर्य्यं, चातुष्पादिकं—पूर्णं, पुरुषनारायणस्य तु मायाशक्तिवैभवम् ऐश्वर्य्यम् एकपादिकमिति । तथा च चतुष्पाद्विभूतेरेकपादविभूतित्वं वदन्तो भ्रान्ता इति ॥ ७४ ॥

भा०टी०—इस श्लोककी कारिका,—"जगत्त्रयान्तोदधिसंप्लवोदे" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकद्वारा ब्रह्माजीने श्रीकृष्णजीको नारायण कहा, अनन्तर जिसमें असंख्य ब्रह्माण्डपर्याप्त हैं, ऐसा अद्भुत पारमैश्वर्यको देखकर भयसे व्याकुल हो, अपराधीकी समान कहा, तुम

नारायण नहीं हो ॥ हे अधीश !–ईशगण- अर्थात् ब्रह्माण्डराशिस्थित समस्त अन्तर्यामिपुरुष,उनकी अपेक्षाभी तुम अधिक हो अतएव तुम अधीश हो । हि–जिस हेतुकरके सर्वशरीरधारियोंके–वैकुण्ठस्थ जीवके साथ समष्टिके, तुम प्रकाशक हो; उस अखिललोकके स्वयंसाक्षी अर्थात् द्रष्टाभी तुम हो ॥ अतएव नर–भू जलका आश्रय करके जो नारायण नामसे अभिहित हैं, वे तुम्हारे अंग–अंश हैं । चिच्छक्ति और मायाशक्ति वैभवमें परिपूर्ण तुम्हारा ऐश्वर्य चतुष्पाद है, पुरुषनारायणकी मायाशक्ति–वैभवरूप ऐश्वर्य एकपाद है ॥ तुमने गीतामें कहा है 'मैं एकांशद्वारा इन सबको धारण किये हुएहूं' तुम्हारा यह अंशत्व सत्य है, विराटरूपकी समान मायिक नहीं है ॥ ७४ ॥

श्रीब्रह्मसंहितायां (५ । ४८)–

"यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति लोमबिलजा जगदण्डनाथाः ।
विष्णुर्म्महान्स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥" इति ।
अतः पुरुष एवास्य कृष्णस्यांशो भवेद्यदि ।
तद्विलासस्तु नितरां भवेत्क्षीराब्धिनायकः ॥ ७५ ॥

टिप्पणी–गर्भोदशयस्य कृष्णांशत्वे ब्रह्मवाक्यमाह, यस्येति । यस्य–गर्भोदशयस्य पुरुषस्य, एकनिश्वसितकालमवलम्ब्य, जगदण्डनाथाः–ब्रह्मविष्ण्वीशाः, जीवन्ति–तत्तत्कार्य्याधिकारितया वर्त्तंते; समाकृष्टे श्वासे प्रलये सति तत्तत्कार्य्याधिकारा न भवन्तीति ईदृशो विष्णुः, सः, यस्य–गोविन्दस्य, कलाविशेषः–स्वांशः, भवतीति ॥ सिद्धान्तार्थं नियोजयति, अत इति । यदि गर्भोदशयः पुरुषोऽस्य कृष्णस्य अंशो वाक्यादगवतो भवेत, तर्हि तद्विलासः क्षीराब्धिपतिर्नितरां कृष्णस्यांश इति नात्र सन्देहगन्ध इति ॥ ७५ ॥

भा०टी०-श्रीब्रह्मसंहितामें;-"जिसका एक-निश्वासकाल, अवलम्बन करके लोमकूपसम्भूत जगन्नाथ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अपने २ अधिकारमें प्रवृत्त रहते हैं, वह महाविष्णुजीभी जिसकी एककला हैं, मैं उन गोविन्दका भजन करताहूं ।" इति । अतएव पुरुष यदि श्रीकृष्णजीका अंश हुआ, तो उस पुरुषका विलास क्षीराब्धिनायक है, सुतरां श्रीकृष्णजीका अंश है ॥ ७५ ॥

ननु द्वितीयस्कन्धे तु योऽवतीर्णो यदोः कुले ।
किं विधात्रा स हि सितकृष्णकेशतयोदितः ॥

तथा हि (भा० २ । ७ । २६)–

"भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः
कर्म्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥ ७६ ॥" इति ।

टिप्पणी–निरस्तोऽपि प्रतिवादी निष्त्रपत्वात् वाक्यार्थाभासम आश्रित्य पुनः प्रत्यवतिष्ठते, नन्विति–यदि क्षीराब्धिपतेरंशः कृष्णो न स्यात, तर्हि भूमेःसुरेतरेत्येतद्वाक्यं नारदं प्रति ब्रह्मणः कथं सङ्गच्छेतेत्यर्थः ॥ सुरेतरेषाम्–असुराणां, वरूथैः–सैन्यैः, विमर्दितायाः, भूमेरित्यर्थः । एतद वाक्यं खलु भारतानुयायि । भारतवाक्यञ्च–"स चापि केशौ हरिरुद्बवर्ह शुक्लमेकमपरञ्चापि कृष्णम् । तौ चापि केशावाविशतां यदूनां कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीञ्च ॥ तयोरेको बलभद्रो बभूव योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः । कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूव केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः ॥" इत्येनत । तस्मात क्षीराब्धिनाथांशत्वं कृष्णस्य असन्देहम् ॥ ७६ ॥

भा०टी०–यदि कहो कि जिन्होंने यदुकुलमें अवतार लिया है, दूसरे स्कन्धमें विधाताने उनको किस कारण 'सितकृष्णकेश' कहकर निर्देश किया ? तथाहि–"जिसकी पदवी लोक–गोचर नहीं होती, असुरसेनाके द्वारा निर्पीडित हुई, पृथ्वीका क्लेश नाश करनेके लिये, उन्होंने 'सितकृष्णकेश' अंशरूपसे अवतार ले, असाधारण महत्तत्त्वसंभूत कार्य किया ।"॥ ७६ ॥ इति ।

श्रीकृष्णजी क्षीराब्धिपतिके केशके अवतार हैं, इस प्रकारके मतका उत्थापन और खण्डन ।

मैवं[1] भोः श्रूयतामस्य पद्यस्यार्थो विधीयते ।
कलया शिल्पनैपुण्यविशेषविधिना सिताः ।
बद्धाः कृष्णा अतिश्यामाः केशा येनेति विग्रहः ।
स एवेत्यस्य वैदग्धीविशेषोत्कर्ष[2] ईरितः ॥

---

१ "मैवंभोः" इत्यस्यपूर्वम् "अत्रकारिकाः" इत्यधिकः पाठः क्वचित् दृश्यते ।
२ "वैदग्धीविशेषोत्कर्ष" इत्यत्र "वैदग्धीविशेषात् कृष्ण" इति पाठान्तरम् ।

कं९.

किं वा यः कलयांशेन स्यात्सितश्यामकेशकः ।
स एवात्रावतीर्णोऽभूच्छ्रीलीलापुरुषोत्तमः ॥ ७७ ॥

टिप्पणी–"वसुदेवगृहे साक्षात्" (भा० १०।१।२३।) इत्यादिपद्यप्रघट्टकेन "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यनेन च त्वच्छङ्काया दूरापास्तत्वात्, तस्य पद्यस्य तदर्थगन्धोऽपि न सम्भाव्य इत्याह, मैवमिति । कस्तर्हि तदर्थः? तत्राह, कलयेति । कलया–चातुर्य्येण, सिताः–निबद्धाः, कृष्णाः–अतिश्यामाः, केशा येन, इति रसिकशिरोवतंसत्वव्यञ्जनात् कृष्णत्वं प्राप्यते इत्यर्थः॥ ननु भारतोत्था शङ्का नापैतीति चेत्? तत्राह, किंवेति । यः सितकृष्णकेशो भारतोक्तः क्षीराब्धिशयः, सोऽपि यत्कलयैव भवति, स कृष्णो जातःसन् कर्म्माणि करिष्यतीत्यर्थात् तच्छङ्काव्युदासः ॥ नन्वेवमपि केशोद्धर्हणा-तत्प्रवेशहेतुकायाः शङ्काया दुर्वारत्वमिति चेत्? अत्राहुः–केशशब्दोऽयमंशुवाची, "अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः । सर्वज्ञाः केशवं तस्मात् मामाहुर्मुनिसत्तमाः ॥" (म० भा० शा० प० ३४१ । ४०) इति नारायणीये अर्ज्जुनं प्रति कृष्णोक्तेः, क्षीरोदशयस्य शुक्लकृष्णावंशू तयोर्गर्भस्थौ बल-कृष्णौ प्रविष्टावित्यर्थात् तच्छङ्कापि निरस्ता । अतस्तत्र सर्वत्र केशशब्दप्रयोगः।नानावर्णांशूनांनारदेनतत्रदृष्टत्वाच्च, अवतरति स्वयं भगवति तदंशानां तत्प्रवेशस्य "महदंशयुक्तः" (भा० ३ । २ । १५) इत्यनेनोक्तत्वाच्च, मुख्यार्थोऽपि नानुपपन्नः । तथा चेयमपि शङ्का भ्रान्तिविजृम्भितैवेत्यवसितम् ॥ ७७ ॥

भा०टी०–इस आशंकाके दूर करनेको कहते हैं, और तुम ऐसा नहीं कह सकते; इस श्लोकका अर्थ करते हैं, श्रवण करो । कलाद्वारा–शिल्पनैपुण्यविशेषविधानद्वारा, सित–बद्ध, हुए हैं, कृष्ण–अतिश्याम, केश, जिसकरके वे, ऐसा समास है । इससे उसके वैदग्धीविशेषका उत्कर्ष कहा गया ॥ अथवा जो कलाद्वारा-अंशद्वारा सितकृष्णकेश, अर्थात् श्वेतकृष्ण कलापसे सुशोभित, क्षीराब्धिपति जिसके अंशसे आविर्भूत हैं, वह लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णजीही यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ७७ ॥

किञ्च–

मार्कण्डेयेन वज्राय विष्णुधर्म्मोत्तरे स्फुटम् ।
लयाब्धिस्थोऽनिरुद्धोऽयं पिता ते इति कीर्त्तितम् ॥

तत्र वज्रप्रश्नः—

"कस्त्वसौ बालरूपेण कल्पान्तेषु[1] पुनः पुनः ।
दृष्टो यो न त्वया ज्ञातस्तत्र कौतूहलं मम ॥"

मार्कण्डेयोत्तरं—

"भूयोभूयस्त्वसौ दृष्टो मया देवो जगत्पतिः ।
कल्पक्षये न विज्ञातः स[2] मया मोहितेन वै ॥
कल्पक्षये व्यतीते तु तन्तु देवं पितामहात् ।
अनिरुद्धं विजानामि पितरं ते जगत्पतिम् ॥" इति ।

अत्र कारिका ।—

अन्यथा मुनिवर्योऽयमवदिष्यादिदं तदा ।
तं श्रीकृष्णं विजानामि प्रपितामहमेव ते ॥
अतः केशावतारत्वभ्रमोऽप्यारात्पराहतः ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—प्रतिवादिनां भ्रान्तत्वं बोधयितुं विष्णुधर्म्मप्रक्रियामाह, किञ्चेत्यादि-प्रकटार्थम् ॥ कस्त्वसाविति ॥ पितामहात्—विरिञ्चेः ॥ कारिकया अनुपपत्तिं प्रकटयति, अन्यथेति । मुनिवर्य्यः—मार्कण्डेयः । प्रपितामहमिति—वज्रस्य पिता अनिरुद्धः, पितामहः प्रद्युम्नः, प्रपितामहस्तु कृष्ण इत्यर्थः ॥ अत इति—विष्णुधर्म्मोत्तरोक्तयुक्त्यनुपपत्तितः कृष्णोऽयमनद दूरं निरस्तमित्यर्थः; "आराद्दूरसमीपयोः" इत्यमरः ७८

भा०टी०—औरभी कहते हैं—विष्णुधर्मोत्तरमें मार्कण्डेय ऋषिने वज्रसे स्पष्ट कहा है, प्रलयाब्धिस्थित यह पुरुष तुम्हारे पिता अनिरुद्ध हैं ॥ उसही विष्णुधर्मोत्तरमें वज्रका प्रश्न—"आपने कल्पके अन्तमें वारंवार बालकरूपसे जिसका दर्शन किया, और पहिचान नहीं सके, वह कौन है? इस बातके जाननेको मुझे अतीव कौतूहल होता है।" मार्कण्डेयका उत्तर-"मैंने वारंवार उन्हीं जगत्पति देवको देखा है, परन्तु वारंवार दर्शन करनेपरभी, प्रलयके समय उनकी मायासे मोहित हो, उनको जान नहीं सका ॥ प्रलयके अन्तमें पितामह ब्रह्माजीसे जाना कि वह जगत्पति तुम्हारे पिता अनिरुद्ध हैं" इति । इसकी कारिका—अन्यथा

---

१ "कल्पान्तेषु" इत्यत्र "लयान्तेषु" इति पाठान्तरम् ।

२ "स मया" इत्यत्र "स यया" इति, "स माया" इति च पाठान्तरम् ।

अर्थात श्रीकृष्ण,श्रीगदशायीका अवतार होनेपर मुनिवर कहतेथे कि, वह तुम्हारे प्रपितामह श्रीकृष्णजी हैं । (कारण कि वज्रके पिता अनिरुद्ध, अनिरुद्धके पिता प्रद्युम्न, और प्रद्युम्नके पिता श्रीकृष्णजी हैं । इससेही श्रीकृष्णजी वज्रके प्रपितामह हुए) अतएव केशावनागका जो भ्रम था, सो दूर होगया ॥ ७८ ॥

नन्वस्तु पुरुषादिभ्यः श्रैष्ठ्यं तस्याघविद्विषः ।
किन्तु श्रीवासुदेवोत्र सर्वैश्वर्यनिषेवितः ॥
त्रिपात्पादविभूत्योश्च नानारूप इव स्थितः ।
उन्मीलद्बालमार्तण्डपरार्द्धमधुरद्युतिः ।
क्वचिन्नवघनश्यामः क्वचिज्जाम्बूनदप्रभः ॥
महावैकुण्ठनाथस्य विलासत्वेन विश्रुतः ।
परमात्मा बलज्ञानवीर्य्यतेजोभिरन्वितः ॥ ७९ ॥

टिप्पणी–एवं पुरुषादिभ्यः कृष्णस्य श्रैष्ठ्ये स्थिते, नारायणैकान्ती तस्य स्वयंरूपत्वम् असहमानः प्रत्यवतिष्ठते, नन्विति । आदिना नृसिंह-रामाभ्याञ्च । किन्त्विति–नारायणस्य परमव्योमाधिपतेः प्रथमव्यूहो वासुदेव एव कृष्णोऽस्तु, स्वयंरूपस्तु नारायणोऽसाविति भावः । वासुदेवं विशिनष्टि, सर्वैश्वर्य्येत्यादिभिः ॥ ७९ ॥

भा०टी०–यदि कहो कि, पुरुषादि अपेक्षा उन अघनाशी श्रीकृष्णजीकी श्रेष्ठता हो । किन्तु जो वासुदेव हैं, वह सर्वप्रकारके ऐश्वर्य–निषेवित, त्रिपाद विभूति परव्योम और पाद–विभूति जगत्में नानारूपकी नांई अवस्थित हैं, और उदीयमान परार्द्ध बालमार्तण्डकी अपेक्षाभी उनकी द्युति मधुर है । वह किसी स्थानमें नवघनश्याम और किसी स्थानमें विशुद्धस्वर्णवर्ण हैं । वह महावैकुण्ठनाथके विलास कहलाते हैं, वह सबके अन्तर्यामी परमात्मा हैं, और वह बल, ज्ञान, ऐश्वर्य व प्रभावान्वित हैं ॥ ७९ ॥

श्रीकृष्ण परव्योमपति नारायणके प्रथम व्यूहवासुदेवके अवतार हैं । इस प्रकार पूर्वपक्ष उत्थापन ।

महावस्थाख्यया ख्यातं यद्व्यूहानां चतुष्टयम् ।
तस्याद्योऽयं तथोपास्यश्चित्ते तदधिदैवतम् ॥
तथाविशुद्धसत्त्वस्य यश्चाधिष्ठानमुच्यते ॥
निजांशो यस्य भगवान् श्रीसंकर्षण इष्यते ।
यस्तु सङ्कर्षणो व्यूहो द्वितीय इति सम्मतः ।

जीवश्च स्यात्सर्वजीवप्रादुर्भावास्पदत्वतः ॥
पूर्णशारदशुभ्रांशुपरार्द्धमधुरद्युतिः ।
उपास्योऽयमहङ्कारे शेषन्यस्तनिजांशकः ॥
स्मराराातेरधर्म्मस्य सर्पान्तकसुरद्विषाम् ।
अन्तर्यामित्वमास्थाय जगत्संहारकारकः ॥
व्यूहस्तृतीयः प्रद्युम्नो विलासो यस्य विश्रुतः ।
यः प्रद्युम्नो बुद्धितत्त्वे बुद्धिमद्भिरुपास्यते ॥
स्तुवत्या च श्रिया देव्या निषेव्यत इलावृते ।
शुद्धजाम्बूनदप्रख्यः क्वचिन्नीलघनच्छविः ॥
निदानं विश्वसर्गस्य कामन्यस्तनिजांशकः ।
विधेः प्रजापतीनाञ्च रागिणाञ्च स्मरस्य च ।
अन्तर्यामित्वमापन्नः सर्गं सम्यक्करोत्यसौ ॥
व्यूहस्तुर्योऽनिरुद्धाख्यो विलासो यस्य शस्यते ।
योऽनिरुद्धो मनस्तत्त्वे मनीषिभिरुपास्यते ॥
नीलजीमूतसंकाशो विश्वरक्षणतत्परः ।
धर्म्मस्यायं मनूनाञ्च देवानां भूभुजां तथा ।
अन्तर्यामित्वमास्थाय कुरुते जगतः स्थितिम् ॥ ८० ॥

टिप्पणी—महावस्थेति । महावैकुण्ठनाथस्य व्यूहानां यत् चतुष्टयं महावस्थाख्यया ख्यातं, तस्य—चतुष्टयस्य, अयं—वासुदेवः, आद्यः—प्रधानभूत इत्यर्थः ॥ निजेति । यस्य—वासुदेवस्य, निजांशः—विलासः, भगवान् श्रीसंकर्षण इत्यन्वयः । यः संकर्षणः सर्वजीवप्रादुर्भावकत्वात् जीव उच्यते इत्यर्थः ॥ शेषेति—अतः शेषस्यापि संहर्तृत्वमुक्तं, "पाताలतलमारभ्य संकर्षणमुखानलः । दहन्नूर्द्धशिखो विष्वग्वर्द्धते वायुनेरितः ॥" (भा० ११ । ३ । १०) इत्यादिना एकादशे ॥ सर्पेति । अन्तकः—यमः॥ व्यूह इति । यस्य—सङ्कर्षणस्य ॥ कामे—कन्दर्पे, न्यस्तः, निजांशः—स्रष्टृत्वलक्षणः, येन सः, । रागिणां—विषयिणां देवमानवादीनाम् ॥ व्यूहस्तुर्य इति । यस्य—प्रद्युम्नस्य । शस्यते—कथ्यते ॥ स्थितिं—पालनम् ॥ ८० ॥

भा०टी०—परव्योमनाथ नारायणके 'महावस्थ' नामसे विख्यात—चार व्यूहमें यह वासुदेव आदि व्यूह हैं और चित्तमें उपास्य हैं, क्योंकि वह चित्तके अधिष्ठातृदेवता और विशुद्ध सत्त्वके अधिष्ठान हैं श्रीसंकर्षण इनकेही स्वांश अर्थात् विलास हैं । संकर्षणजीको द्वितीयव्यूह और सकलजीवके प्रादुर्भावके आस्पद कहकर 'जीव'भी कहते हैं ॥ असंख्य शरदऋतुके पूर्ण शशधरकी शुभ्रकिरणोंकी अपेक्षाभी उनकी अंगकान्ति सुमधुर है, वह अहङ्कारतत्त्वमें उपास्य हैं । उन्होंने अनन्तदेवमें अपनी आधारशक्तिको निधान किया है । और वह कामदेवके शत्रु रुद्र और अधर्म, अहि-कुल, अन्तक और असुरोंके अन्तर्यामी रहकर, जगत्के संहार कार्यको किया करते हैं ॥ उन संकर्षणकी विलासमूर्ति तृतीय—व्यूह प्रद्युम्न हैं । बुद्धिमान् लोग बुद्धितत्त्वमें इन प्रद्युम्नजीकी उपासना किया करते हैं । श्रीलक्ष्मीजी इलावृत वर्षमें गुणगान करके उनकी परिचर्या करती हैं । किसी स्थानमें तपायेहुए सुवर्णकी समान, किसी स्थानमें नवीन—नील—जलधरकी समान उनकी अंगकान्ति है । वह विश्वसृष्टिके निदान हैं, उन्होंने अपनी स्रष्टृत्व—शक्ति कामदेवमें रक्खीहै । वह विधाता, निखिलप्रजापति, विषयानुरक्त देव मानवादि प्राणिगण और कन्दर्पके अन्तर्यामी होकर सृष्टिकार्य किया करते हैं॥ चतुर्थ—व्यूह अनिरुद्धजी जिनकी विलासमूर्ति हैं । मनीषिगण मनस्तत्त्वमें इन अनिरुद्धजीकी उपासना किया करते हैं । उनके अंगकी कान्ति नील बादरकी समान हैं । विश्वकी रक्षा करनेमें वह तत्पर हैं । वह धर्म, मनु, देवता, और राजाओंके अन्तर्यामी होकर जगत्का पालन करते हैं ॥ ८० ॥

द्वितीय व्यूह संकर्षण । तृतीय व्यूह—प्रद्युम्न। चतुर्थ—व्यूह अनिरुद्ध ।

मोक्षधर्मे तु मनसः स्यात्प्रद्युम्नोऽधिदैवतम् ।
अनिरुद्धस्त्वहङ्कारस्येति तत्रैव कीर्त्तितम् ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—मतान्तरमाह, मोक्षधर्म्मे त्विति ॥ ८१ ॥

भा०टी०—मोक्षधर्ममें, प्रद्युम्नको मनका अधिदेवता और अनिरुद्धको अहंकारका अधिदेवता कहकर निर्देश किया है ॥ ८१ ॥

चतुर्व्यूहके अधिष्ठातृत्वसम्बन्धमें मतभेद ।

सर्वेषां पञ्चरात्राणामप्येषा प्रक्रिया मता ॥ ८२ ॥
पाद्मे तु परमव्योम्नः पूर्वाद्ये दिक्चतुष्टये ।
वासुदेवादयो व्यूहाश्चत्वारः कथिताः क्रमात् ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—सर्वेषामिति । एषा—पूर्वोदिता ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

भा०टी०--पूर्वोक्तप्रक्रिया अर्थात् प्रद्युम्न बुद्धिके और अनिरुद्ध मनके अधिद्वता है; यह बात सर्वविधसे पंचरात्रकी सम्मत है ॥ ८२ ॥ पूर्वादि चारों दिशाओंमें परव्योमके वासुदेवादि चतुर्व्यूह क्रमानुसार अवस्थान करते हैं. पद्मपुराणमें यही कहा गया है ॥ ८३ ॥

चतुर्व्यूहका स्थान

तथा पादविभूतौ च निवसन्ति क्रमादिमे ।
जलावृतिस्थवैकुण्ठास्थितवेदवतीपुरे ॥
सत्योर्द्ध्वे वैष्णवे लोके नित्याख्ये द्वारकापुरे ।
शुद्धोदादुत्तरे श्वेतद्वीपे चैरावतीपुरे ॥
क्षीराम्बुधिस्थितानन्तक्रोडपर्यङ्कधामनि ॥ ८४ ॥

टिप्पणी -तथा पादेति । पादविभूतौ वेदवतीपुरे वासुदेवः, रूपान्तरेण प्रपञ्चेऽवस्थितेर्नारायणीयेन सहाविरोधः, सत्योर्द्ध्वे वैष्णवे लोके संकर्षणः, नित्याख्ये द्वारकापुरे प्रद्युम्नः, श्वेतद्वीपे चैरावतीपुरे अनिरुद्धो निवसति ॥ ८४ ॥

भा०टी०--और पादविभूतिमें अर्थात् प्रपंचमें क्रमसे चार स्थानोंमें यह वासुदेवादि चार मूर्तियें वास करती हैं । जलावरणस्थ वैकुण्ठमें वेदवतीपुरमें वासुदेव, सत्यलोकके ऊपरीभागके मध्य विष्णुलोकमें सङ्कर्षण, नित्याख्य द्वारकापुरमें प्रद्युम्न, और शुद्ध जलनिधिके उत्तर-तीर-स्थित क्षीरसमुद्रके मध्यवर्ती श्वेतद्वीपके ऐरावतीपुरमें अनन्तशय्यापे अनिरुद्धजी वास करते हैं ॥ ८४ ॥

सात्त्वतीये क्वचित्तन्त्रे नवव्यूहाः प्रकीर्त्तिताः ।
चत्वारो वासुदेवाद्या नारायणनृसिंहकौ ।
हयग्रीवो महाक्रोडो ब्रह्मा चेति नवोदिताः ।
तत्र ब्रह्मा तु विज्ञेयः पूर्वोक्तविधया हरिः ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—चतुरो व्यूहानुक्त्वा नव तानाह, सात्त्वतीये इति । पूर्वोक्तविधयेति–" भवेत् क्वचिन्महाकल्पे " इत्याद्युक्तरीत्या इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

भा०टी०--किसी सात्त्वततंत्रमें नवव्यूह कहे हैं । वासुदेवादि चार, अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, एवं नारायणादि पांच अर्थात् नारायण, नृसिंह, हयग्रीव, महावराह,और ब्रह्मा यही नव-व्यूह हैं । तिनमें ब्रह्माजीको पूर्वोक्त प्रकारसे श्रीहरि अर्थात् ईश्वरकोटि-परिगणित समझना चाहिये ॥ ८५ ॥

नवव्यूह ।

किन्तु व्यूहास्तु चत्वारो राजद्भुजचतुष्टयाः ।
अजस्रपरमैश्वर्य्यमर्यादापरिभूषिताः ॥
अत्रापि वासुदेवोऽयं सम्पूर्णानन्दसंप्लुवः ।
ऐश्वर्य्यादौ निर्विशेषः परमव्योमनायकात् ।
आद्यानामपि सर्वेषामादिभूतः सुपर्वणाम् ॥
इत्याशङ्के स एवायं कृष्णाख्यः सन्नवातरत् ।
वासुदेवतया यस्मात्सर्वत्रैष सुविश्रुतः ॥ ८६ ॥

टिप्पणी--नवसु वासुदेवादीनां चतुर्णामतिशयमाह, किन्त्विति ॥ चतुर्णां मध्ये वासुदेवस्य तमाह, अत्रापीति । ऐश्वर्य्यादाविति । तथा च कृष्णादतिशयी नारायण इति मनसि क्षोभो न विधेय इति बहिष्ठो भाव इत्यर्थः । हृद्गतं कौटिल्यं व्यञ्जयति, आद्यानामिति । सर्वेषां सुपर्व्वणां–परमव्योमपार्षदानां देवानामित्यर्थः । सोऽपि तद्वत पार्षदविशेष इति भावः ॥ विवक्षितमाह, इत्याशङ्के इति।सः–वासुदेव एव, कृष्णाख्यः सन्अवातरत्, यस्मात्, सर्वत्र–पुरुषेषु इतिहासेषु च, एषः–कृष्णः, वासुदेवतया, सुविश्रुतः–ख्यातः ॥ ८६ ॥

भा०टी०–इस नवव्यूहके मध्यमें वासुदेवादि चार व्यूह सर्वातिशयी हैं । सबही चतुर्भुज और निरवधि–परमैश्वर्यनिषेवित हैं तिनमें वासुदेव पूर्णानन्दस्वरूप, और ऐश्वर्यादिमें परव्योमनाथके समान हैं । क्यों कि वह अपने समस्त आदिपार्षदवर्गोंमें मुख्य हैं । बोध होता है कि वह वासुदेवही कृष्णनामसे पुकारे जाकर अवतार ले आये हैं । क्योंकि समस्त पुराण और इतिहासादिमें श्रीकृष्णजी वासुदेवनामसे विख्यात हैं ॥ ८६ ॥

नवव्यूहके मध्यमें वासुदेव

नैवं युक्तं शृणु ततः समाधानं विधीयते ।
आद्यव्यूहादपि श्रेष्ठः कथ्यते देवकीसुतः ॥
तथा च श्रीप्रथमे (भा० १ । ३ । २८)–
"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् ॥" इति ।

अत्रकारिके ।–

पुंनाम्नः पुरुषस्यैते श्रीवराहऋषादयः ।
अंशा अत्रावताराः स्युः कुमाराद्याः कला मताः ॥

तुर्भिन्नोपक्रमे कृष्णो भगवान्पुरुषोत्तमः ।
स्वयमित्यपयातास्य वासुदेवावतारता ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—एवं प्राप्ते परिहरति, नैवं युक्तमिति । केन प्रमाणेन मदुक्तेरयुक्तता ? तत्राह, शृण्विति ॥ प्रमाणमाह, एते चेति । कृष्णस्य वासुदेवत्वे स्वयमिति व्यर्थं स्यादित्यर्थः ॥ तुर्भिन्नोपक्रमे इति—"तुः स्याद्भेदेऽवधारणे" इत्यमरः ॥ ८७ ॥

भा०टी०—इस प्रकारसे श्रीकृष्णजीके वासुदेवावतारत्व आशंका करके छोडते हैं ।—

'श्रीकृष्णजी वासुदेवके अवतार हैं' इस पूर्वोक्त पूर्वपक्षका समाधान ।

तुम्हारी यह आपत्ति युक्तियुक्त नहीं होती; इसका समाधान करते हैं । श्रवणकरो । आदिव्यूह वासुदेवजीसे श्रीकृष्णजीकी श्रेष्ठता कथित हुई है ॥ तथा च श्रीप्रथमे-"इन समस्त अवतारोंके मध्यमें कोई गर्भोदशायीका अंश है, कोई कला है, परन्तु श्रीकृष्णजी स्वयं भगवान् हैं अर्थात् सबके मूलतत्त्व हैं" इति । इस श्लोककी कारिका ।—पुन्नामाकी—पुरुषकी अर्थात् गर्भोदशायीकी—यह वराह—मत्स्यादि, अंश—अवतार, और कुमारादि कला । तु—भिन्नोपक्रम, अर्थात् पृथक् वाक्यका आरम्भ । श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम अर्थात् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् मूलतत्त्व हैं। एतद्द्वारा श्रीकृष्णजीके वासुदेवावतारत्वका निरास कियागया ॥ ८७ ॥

श्रीदशमे चैवमेवोक्तम् (भा० १० । १४ । २)—

"अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥ ८८ ॥" इति ।

टिप्पणी—वासुदेवात् कृष्णस्यातिशये प्रमाणान्तरमाह, अस्यापीति । अस्य—गोपराजकुमारस्य स्वयं भगवतः कृष्णस्य, तव, साक्षात्—मद्दृग्गोचरस्य, महि-माहात्म्यं, देववपुषः देवपदाश्रितविग्रहात् वासुदेवादपि, अतिशयितं, कोऽपि—ब्रह्मापि, अहम्, आन्तरेण—निरुद्धेन एकाग्रेण, मनसा ज्ञातुं, नेशे—समर्थो न भवामि । कीदृशस्य तव ? इत्याह,

१ इन समस्त अवतारोंमें द्वितीय पुरुषकी अंश कला, यह कहनेसे, अवतारमें कहेहुए, श्रीकृष्णजीके भी पुरुषावतारत्वमें शंका होनेसे, पुनर्वार पृथक् वाक्यद्वारा कहा, श्रीकृष्ण किन्तु स्वयं भगवान् हैं । 'भगवान्' इस पदसे श्रीकृष्णजीके पुरुषावतारत्वका निरास और 'स्वयं' इस पदसे उनकी परव्योमनाथादि भगवद्रूपकी भी मूलतत्त्वता समर्थनकी । अत एव श्रीकृष्णजी परव्योमनाथकी विलास-मूर्ति वासुदेवके अवतार हैं, यह कभीभी सम्भावित नहीं हो सकता ॥ ८७-९२ ॥

मदनुग्रहस्येति–श्रीगोपालोपनिषदनुसारेण सर्व्व-मद्धितकारिण इत्यर्थः; तदुपनिषदि खलु कृष्णदत्ताष्टादशार्णः ब्रह्मा जगत्स्रष्टाभूदिति प्रस्फुटं; यद्वा, अनुग्रहात् मां प्रति दर्शितविविधाश्वर्य्यरूपस्येत्यर्थः। स्वेच्छामयस्य–भक्तेच्छानुसारीच्छस्येत्यर्थः। नत्विति-चिद्घनस्येत्यर्थः। एवञ्चेत, आत्मसुखानुभूतेः–"चयास्त्विषाम्" इति न्यायेन अनभिव्यक्तरूपगुणलीलाविशेषात् व्यापकस्वप्रकाशानन्दात् ब्रह्मणः सकाशात्, तव अतिशयितं माहात्म्यं वक्तुमहं नेशे इति किमुत वक्तव्यम्? इति न्यूनातिन्यूनतायामिदं कैमुत्यम् ॥ ८८ ॥

भा०टी०–श्रीदशममेंभी इस प्रकार कहा है–"जिन्होंने मुझपर अनुग्रह किया है, भक्तकी इच्छाके अनुसार जिनकी इच्छा है, जो कभी भी भूतमय नहीं होते, हे श्रीकृष्ण! तुम साक्षात् वही भगवान् हो। जब कि तुम्हारे महिमा, मैं और ब्रह्माजीभी एकाग्रचित्तद्वारा नहीं जानसकते, तब देवरूप वासुदेवसेभी तुम्हारा माहात्म्य अधिक है। अत एव आत्मसुखानुभूतरूप ब्रह्मसे भी तुम्हारी महिमा अधिक है यह बात और क्या कहें" ॥ ८८ ॥ इति।

अत्र कारिकाः।–

देवः स्वनाम्नि देवेति ख्यातं यस्य वपुः स हि।
व्यूहानामादिमो वासुदेवो देववपुर्मतः ॥
ततोपि महि माहात्म्यं साक्षाद्देवात्र ते सतः।
को विधाताप्यवसितुं ज्ञातुं नेशेऽस्मि न क्षमः ॥
किमुताहो आत्मसुखानुभूतेर्ब्रह्मरूपतः ॥ ८९ ॥

टिप्पणी–कारिकाभिः पद्यार्थं विवृणोति, देवः स्वनाम्नीत्यादिना। देवपदान्वितत्वं वासुदेवविग्रहस्य प्रस्फुटं, तेन वासुदेवादपीति लब्धम्; एवं लोकेऽपि प्रयुज्यते भर्तृहरिर्हरिरिति। ततः–वासुदेवादपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

भा०टी–इस श्लोककी कारिका।–जिसका वपु वा विग्रह निज नाममें "देव" इस शब्दसे ख्यात है,–देव–वासुदेव कहकर, जिसका वपु विख्यात है, समस्त व्यूहोंमें प्रथम जो वासुदेव हैं, वही देववपु हैं। उनसे भी, साक्षात् विद्यमान तुम्हारा, महि–माहात्म्यका विधाता अर्थात् मैं जाननेके लिये असमर्थ हूं। आत्मसुखानुभूतिसे–ब्रह्मसे, जो तुम्हारी महिमा अधिक है यह बात और क्या कहूं ॥ ८९ ॥

१ "कोविधाताप्यव" इत्यत्र "कोऽपि धाताप्यव" इति पाठान्तरम्।

एवमर्थोऽस्य पद्यस्य कैमुत्यन्यायसंस्थितः ॥
न्यूनेऽधिके च कैमुत्यं तत्र न्यूने भवेद्यथा ।
कौस्तुभस्तु महातेजाः सूर्यकोटिशतादपि ।
अयं किमुत वक्तव्यं प्रदीपादीप्तिमानिति ॥
अथाधिके यथा ध्वान्तैः शक्यो दीपोऽपि नार्दितुम् ।
सतु मार्त्तण्डकोटीभिः समः किमुत कौस्तुभः ॥
अतो न्यूनादपि न्यूने कैमुत्यमिह तु स्थितम् ॥ ९० ॥

टिप्पणी—वासुदेवादप्यधिकः कृष्णस्य महिमा, यो ब्रह्मणापि ज्ञातुमशक्य इत्यर्थः कुत इति चेत् ? न्यूनकैमुत्यादित्याह, एवमर्थोऽस्येति ॥ ननु कैमुत्यं किं द्विविधमस्तीति चेत् ? अस्ति । तत् प्रतिपादयति, न्यूनेधिके चेत्यादिना ॥ प्रकृते तु न्यूनकैमुत्यं योजयति, अत इति। वासुदेवादपि कृष्णस्य महिमा अधिकश्चेत्, तदा ब्रह्मतः सोऽधिक इति किं वक्तव्यम् ? इति न्यूनन्यूनतायां स न्यायोऽत्र बोध्यः॥९०॥

भा०टी०—इस श्लोकका ऐसा अर्थ कैमुत्यन्यायद्वारा प्राप्त हुआ है॥ कैमुत्यन्याय न्यूनमें और अधिकमें हुआ करता है । तिनमें न्यूनमें कैमुत्यकी समान यथा ।—शतकोटि सूर्यकी अपेक्षाभी तेजस्वी जो कौस्तुभमणि है, उसके लिये यह बात क्या कहूं कि, वह प्रदीपसे भी दीप्तिमान् है । अधिकमें कैमुत्यन्याय यथा ।—जो अन्धकार एक प्रदीपको भी पराभव नहीं करसका, उसके लिये यह बात क्या कही जाय कि वह कोटि सूर्यकी समान कौस्तुभमणीको अभिभव करनेमें असमर्थ है ॥ अत एव इस श्लोकमें, न्यूनसेभी न्यून कैमुत्यन्याय विद्यमान है ॥ ९० ॥

मय्येवानुग्रहो यस्येत्यनुग्रहभरो यतः ।
मय्येव विहितो भूयानपूर्व्वैश्वर्य्यदर्शनात् ॥
स्वेच्छामयस्य भक्तानां कामायाखिलकर्म्मणः ।
न तु भूतमयस्येति पुरुषत्वञ्च खण्डितम् ।
यदेष सर्वजीवानां पुरुषः परमाश्रयः ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—अपूर्वेति—ब्रह्मणा पूर्वं यानि न दृष्टानि, तानि चतुर्भुजानि चिद्घनानि सदेवगणैश्चतुर्विंशतितत्त्वैः स्तूयमानानि अनन्तदिव्यविभूतिमन्ति अद्भुतानि, तेषां दर्शनादित्यर्थः ॥ स्वेच्छेति—भक्तेच्छा-

धीनेच्छस्येत्यर्थः । न तु भूतमयस्येति विशेषणेन, पुरुषत्वञ्च—कारणार्णवशायिसंकर्षणत्वं, कृष्णस्य निरस्तमित्यर्थः । कुतः खण्डितं ? तत्राह, यदेष इति । एषः—कारणार्णवशायी, पुरुषः । भूतशब्दोऽत्र जीववाची, "भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ जन्तौ क्लीबं त्रिषूचिते ।" इति मेदिनीकोषात् । सर्व्वजीवाश्रयत्वात् पुरुषो नारायणो भूतमयः, तद्विलक्षणत्वात् कृष्णो भूतमयो नेत्युक्तः ॥ ९१ ॥

भा०टी०—मदनुग्रह—मुझमेंही जिसका अनुग्रह हुआ है, क्योंकि अपूर्व आश्चर्य दिखाकर जिन्होंने मुझपरही, अत्यन्त अनुग्रह किया है ॥ स्वेच्छामय—जो भक्तवर्गोंको सर्वाभीष्टदानके निमित्त स्वेच्छामय हैं।भूतमय नहीं हैं—इसके द्वारा पुरुषत्व (कारणार्णवशायि [illegible]) निरस्त हुई, अर्थात् वे कारणार्णवशायी संकर्षणके अवतार नहीं हैं । क्योंकि यह पुरुष (संकर्षण) भूतगणके अर्थात् सर्वविध जीवके परमाश्रय हैं ॥ ९१ ॥

आन्तरेण निरुद्धेन मनसेत्येकतानता ।
ज्ञातुं स्यान्महिमा शक्यो यद्यप्येभिर्विशेषणैः ।
ज्ञातुं तथापि नेशोऽस्मीत्यचिंत्यैश्वर्य्यतोदिता ॥
जानता वासुदेवाच्च ब्रह्मतश्चाधिकाधिकम् ।
माहात्म्यं कृष्णचन्द्रस्य विरिञ्चेन समर्थितम् ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—एकतानतेति—"एकतानोऽनन्यवृत्तिः" इत्यमरः; तथा च महिमावगमे मनसो योग्यतोक्ता । ज्ञातुं स्यादिति—यद्यप्येतैर्विशेषणैर्महिमा गोचरो भवेत्, तथापि नेत्युक्तिस्तस्याचिन्त्यैश्वर्य्यतां बोधयतीत्यर्थः ॥ ९२ ॥

भा०टी०—आन्तर—निरुद्ध, मन, इससे मनकी एकाग्रता कही गई। पूर्वोक्त विशेषणसे महिमा जाननेकी सम्भावना होनेपरभी, ब्रह्माजी बोले, मैं नहीं जानसका,—इससे श्रीकृष्णजीका अचिन्त्य ऐश्वर्य प्रतिपन्न हुआ ब्रह्माजीने जानकरही वासुदेव और ब्रह्मसे श्रीकृष्णजीका माहात्म्य अत्यन्तही अधिकतासे समर्थन किया ॥ ९२ ॥

अतो मन्वक्षरमनोर्ध्याने स्वायम्भुवागमे ।
चत्वारो वासुदेवाद्याः कृष्णस्यावृतिरीरिताः ॥
क्रमादिर्दीपिकायाञ्च वस्वक्षरमनोर्विधौ ।

---

१ निर्विशेष ब्रह्मकी अपेक्षा वासुदेवकी महिमा अधिक है, तिसकी अपेक्षा श्रीकृष्णजीका माहात्म्य अधिक है, यहां ब्रह्मस्तुति श्लोकद्वारा समर्थित हुआ ॥ ९२-९४ ॥

गोकुलेशावृतित्वेन वासुदेवादयो मताः ॥ ९३ ॥

टिप्पणी–निगमयति, अत इति–यस्मात् वासुदेवादप्यधिकः स्वयं भगवानेव श्रीकृष्णो भवतीत्यर्थः । मन्वक्षरेति–चतुर्दशार्णस्य तन्मन्त्रस्येत्यर्थः ॥ क्रमादीति । वस्वक्षरमनोः–अष्टाक्षरस्य तन्मन्त्रस्येत्यर्थः । अन्यथा तद्ग्रन्थद्वयं व्याकुप्येदित्यर्थः ॥ ९३ ॥

भा०टी०–अत एव स्वायम्भुवागममें चतुर्दशाक्षरमंत्रके विधानस्थलमें वासुदेवादि चतुर्व्यूह श्रीकृष्णजीके आवरण देवता रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं । क्रमदीपिकामें भी अष्टाक्षर मंत्रकी पद्धतिमें वासुदेवादि चतुर्व्यूहको गोकुलनाथके आवरणरूपसे लिखाहै ॥ ९३ ॥

वासुदेवादि श्रीकृष्णजीके आवरण देवता हैं ।

ननु श्रैष्ठ्यं मुकुन्दस्य ब्रह्मतो युज्यते कथम् ।
यद्ब्रह्मश्रीभगवतोरैक्यमेव प्रसिध्यते ॥
पुरुषः परमात्मा च ब्रह्म च ज्ञानमित्यपि ।
स एको भगवानेव शास्त्रेषु बहुधोच्यते ॥

तथा च स्कान्दे–

"भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः ।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानञ्च ज्ञानयोगिभिः ॥"

श्रीप्रथमे च–(भा० १ । २ । ११)–

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ ९४ ॥" इति ।

टिप्पणी–'तडागं तरीतुमसमर्थः सागरं किमुत तरीत' इत्यधिके कैमुत्यं हृदि कृत्वा ब्रह्मतः श्रैष्ठ्यमसहमानः कश्चिदाह, ननु श्रैष्ठ्यमिति । यद्ब्रह्मेति–न खलु स्वस्मात् स्वयमधिको वक्तुं युक्त इत्यर्थः ॥ भगवानित्यादि । तथा च ब्रह्म-परमात्म-भगवच्छब्दा घट-कलश-कुम्भवत् एकवाच्यवाचिलक्षणाः पर्य्यायशब्दाः, इति वस्तुभेदो नास्तीत्यर्थः ॥ वदन्तीति । ब्रह्मेति वेदान्तिभिः, परमात्मेति योगिभिः, भगवानिति भागवतैः, शब्द्यते इत्यर्थः । स्कान्दे भगवदादिवस्तुनो ज्ञानत्वं विधीयते, प्रथमे तु ज्ञानस्य ब्रह्मादित्वम्, इति व्यतिहारात् न हि वस्तुनि वैलक्षण्यगन्ध इत्यभिमतम् ॥ ९४ ॥

निर्विशेष ब्रह्मकी अपेक्षा श्रीकृष्णजीकी श्रेष्ठताके विषयमें पूर्वपक्ष और उसका समाधान ।

भा०टी०--यदि कहो कि ब्रह्मकी अपेक्षा श्रीकृष्णजीको किसकारणसे श्रेष्ठ कहा ? क्यों कि ब्रह्म और श्रीकृष्णजीका ऐक्यही प्रसिद्ध है॥समस्त शास्त्रोंने एक भगवान्कोही पुरुष, परमात्मा, ब्रह्म और ज्ञान इत्यादि बहुरूपसे कीर्तन किया है ॥ तथा स्कन्दपुराणे–"एकही भगवानको अष्टाङ्गयोगी लोग परमात्मा, औपनिषद्गण ब्रह्म, और ज्ञानयोगीलोग ज्ञान कहकर अवधारण करते हैं ।" श्रीप्रथमस्कन्धमें भी कहा है–"तत्त्ववेत्ता लोग एक अद्वय ज्ञान तत्त्वको ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहकर निर्देश करते हैं" ॥९४॥ इति ।

सत्यमुक्तं शृणु ततस्तृतीये कापिलं वचः ॥[1]
यथा–(भा० ३ । ३२ । ३३)–
"यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः ।
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥" इति ।

अत्रकारिकाः ।–

तत्तत् श्रीभगवत्येव स्वरूपं भूरि विद्यते ।
उपासनानुसारेण भाति तत्तदुपासके ॥
यथारूपरसादीनां गुणानामाश्रयः सदा ।
क्षीरादिरेक एवार्थो जायते बहुधेन्द्रियैः ॥
दृशा शुक्लो रसनया मधुरो भगवांस्तथा ।
उपासनाभिर्बहुधा स एकोऽपि प्रतीयते ॥
जिह्वयैव यथा ग्राह्यं माधुर्य्यं तस्य नापरैः ।
यथा च चक्षुरादीनि गृह्णन्त्यर्थं निजं निजम् ॥
तथान्या बाह्यकरणस्थानीयोपासनाखिला ।
भक्तिस्तु चेतःस्थानीया तत्तत्सर्वार्थलाभतः ॥
इति प्रवरशास्त्रेषु तस्य ब्रह्मस्वरूपतः ।
माधुर्य्यादिगुणाधिक्यात्कृष्णस्य श्रेष्ठतोच्यते ॥ ९५ ॥

---

१ "तृतीये कापिलं वचः" इत्यत्र "तृतीयस्कन्धकीर्तितम्" इति पाठान्तरम् ।

टिप्पणी—अर्द्धमङ्गीकृत्याह, सत्यमुक्तमिति । तर्हि तारतम्यभणितिः किंहतुकेति चेत् ? तत्राह, शृणु तत इति—तारतम्यावेदकवाक्यानां सत्त्वादेवेत्यर्थः ॥ यथेन्द्रियैरिति । बहुगुणाश्रयः, अर्थः—द्रव्यं क्षीरादिः, एक एव, यथा चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्नाना गृह्यते, तथैक एव भगवान् उपासनादिभिर्बहुभिर्नाना गृह्यते इत्यर्थः । तथा च य उपासकस्तद्गुणान् ग्रहीतुं न शक्नोति, स एव तं गुणिनमपि निर्गुणं भणति; यथा चक्षुर्दुग्धं शुक्लमेव गृह्णाति, न तु मधुरं, यथा च रसना मधुरमेव गृह्णाति, न तु शुक्लमिति । अत्र चित्तं यथा दुग्धं माधुर्य्यादिनिखिलगुणोपेतं गृह्णाति, तथा भक्तिरेव तं तत्तत्सर्वगुणोपेतं गृह्णातीति ब्रह्मत्वेनापि सा गृह्णातीत्यर्थः ॥ इति प्रवरेति—यद्यपिअगृहीतगुणकः कृष्ण एव ब्रह्मेति न वस्तुभेदः, तथापि निर्भातगुणत्वानिर्भातगुणत्वाभ्यां तारतम्यम् अवर्जनीयमिति तद्भणितिः सिध्यत्येव । पूर्वत्र "चर्य्यास्त्वषाम्" इति न्यायेन नानोपासनभक्त्योर्दूरत्वान्तिकत्वे उपमे, इह तु तयोर्बहिरिन्द्रियान्तरिन्द्रिये ते दर्शिते इति बोध्यम् ॥ ९९ ॥

भा०टी०—इस आशङ्काको दूर करतेहैं—तुमने सत्यही कहाहै, किन्तु तीसरे स्कन्धमें कपिलदेवजीने जो कहा है, उसको श्रवणकरो, यथा-"बहुगुणाश्रय एक क्षीरादिद्रव्य जिसप्रकार चक्षुरादिपृथक् २ इंद्रियद्वारा अनेकरूपसे ग्रहण किये जाते हैं वैसे एकही भगवान् उपासनाभेदके कारण अनेकरूपसे प्रतिभात हुआ करतेहैं।" इति । इस श्लोककी कारिका ।—एक भगवान्में अनेक प्रकारके स्वरूपोंकी विद्यमानता होनेपरभी, उपासनाके अनुसार उन उपासकोंमें वही स्वरूप प्रकाशित होता है, कि जो उसका उपयोगी हो ॥ जिस प्रकार रूप रसादि अनेक गुणोंका आश्रय एक दुग्धादि द्रव्य पृथक् २ इन्द्रियद्वारा पृथक् २ रूपसे प्रतीत होता है अर्थात् नेत्रोंसे शुक्ल, रसनासे मधुर इत्यादि रूपसे प्रतीत होता है; वैसे एकही भगवान् उपासनाभेदके कारण बहुत प्रकारके प्रतीत हुआ करते हैं ॥ जिस प्रकार दुग्धादिकी मधुरताको एक रसनाही ग्रहण करनेमें समर्थ है, दूसरी इंद्रियाँ नहीं और जिसप्रकार चक्षुरादि इन्द्रियगण रूपरसादिक मध्यसे अपने २ विषयको ग्रहण करनेमें समर्थ हैं, परन्तु चित्त समस्त इन्द्रियोंके ग्राह्य विषयकोही ग्रहण किया करता है, तैसेही बहिरिन्द्रियस्थानीय अन्यान्य उपासनावर्ग केवल उसही स्वरूपको ग्रहण

१ स्कंदपुराणमें भगवदादि वस्तुको ज्ञान कहा, और प्रथमस्कंधमें ज्ञानको भगवदादि वस्तु कहनेसे मतगत कोई वैलक्षण्य नहीं देखाजाता, यही प्रतिपक्षका अभिप्राय है ॥ ९५॥

करनेमें समर्थ हैं जो कि, उनके लियें उपयोगी हो । परन्तु चित्तस्थानीय भक्ति तत्तदुपासनाके विषय समस्त स्वरूपही ग्रहण करसकती है ॥ इस प्रकार प्रधान प्रधान शास्त्रोंमें ब्रह्मसे माधुर्यादि गुणोंकी अधिकाईके वशसे, श्रीकृष्णजीका उत्कर्ष कहा-गया है ॥ ९५ ॥

तथा च श्रीदशमे भा० १० । १४ । ६—७)—

"तथापि भूमन् ! महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रि[illegible]ात् स्वानुभवादरूपतोऽह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं हितावतीर्णस्य कईशिरेऽस्य ।
का[illegible]लेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खेमिहिका द्युभासः॥९६॥" इति।

[illegible] चेन्द्रियैरित्यादिपद्योक्तं भावं स्पष्टयितुं प्रमाणमाह, तथा-

टिप्पणी—य[illegible]त्र। हे भूमन्!—विभो!, यद्यप्यगुणः सगुणश्च तमेव, तथापि, [illegible]ति द्वाभ्याम् [illegible]व्यक्तगुणस्य ब्रह्मशब्दितस्य, ते महिमा, विबोद्धुं-बोध- अगुणस्य—अनभि[illegible] अर्हति; 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' इतिवत् कर्म्मणः गोचरीभवितुम्, [illegible]निमित्तात्? इत्याह, अमलैः—विशुद्धैः, अन्तरात्मभिः- कर्तृत्वम् । कुतो [illegible]त—स्वकर्मकात्—अनुभवात । ननु अनुभवस्य चित्त- चित्तैः, स्वानुभवादे[illegible]धायत्वात् कथं निर्विकारस्य ब्रह्मणस्तेन विषयीकर- ग्रन्तित्वेन विकार[illegible]क्रियादिति—नास्ति विकारो यत्र तादृशात्, इत्यनु- [illegible]? तत्राह, अ[illegible]सन्ते, निर्विकारब्रह्मोपरागेण लवणाकरनिपातन्यायेन [illegible] विशिष्ट[illegible]दित्यर्थः । ननु चित्तवृत्तिः खलु रूपवद्वस्तु विषयीकरोति, ब्रह्म तु नीरूपमेव, ततः कथं तद्विषयं कुर्य्यादिति चेत्? तत्राह, अरू- पत इति—रूपं तद्विषयस्तद्रहितात्, इति नीरूपतयैव तद्गृह्यते इत्यर्थः, चक्षुर्यथा रूपिद्रव्यं गृह्णाति तथा नीरूपमपि रूपं गृह्णाति, त- द्वदित्यर्थः । तद्बोधे विधान्तरमाह, अनन्यबोध्य आत्मा स्वरूपं यस्य

१ ज्ञानयोगद्वारा भगवत्स्वरूपका विशिष्याकारसे अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मरूपसे प्रकाश होताहै और भक्तियोगद्वारा विचित्र—अनन्त—स्वरूपशक्तिविशिष्ट भगवद्रूपका प्रकाश हुआकरताहै । सुतरां स्वरूप- शक्तिके वैचित्रीहेतुसे ब्रह्मकी अपेक्षा भगवान्का उत्कर्ष साधितहुआ ॥ ९५—९६ ॥

तत्तया, स विबोध्यः; न चान्यथा—नैवान्यया विधयेति । तत्प्रवणायां चित्तवृत्तौ तद्ब्रह्म स्वयमेव स्फुरतीत्यर्थः । तथा च निर्विकार-नीरूप-विज्ञानवस्तुतया तद्बोधो भवतीति न हि प्रभामण्डलबोधो रविबोधवत् दुःशक इति भावः ॥ सगुणस्य तव बोधस्तु दुःशक इत्याह, गुणात्मन इति । अपिस्त्वर्थे । "अनन्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ" (वि० पु० ६ । ५ । ८४ ।) इति श्रीवैष्णववचनात् स्वानुबन्धिगुणविशिष्टस्य तु ते, गुणान्—सार्वज्ञ-सार्वैश्वर्य्य-सौहार्द-कारुण्य-सौन्दर्य्य-स... लावण्य-विचित्रानन्तविभूतित्वादीन् असंख्यातान्, विमातुं, य... के ईशिरे ? न केऽपि, भवपाद्मादयोऽपि तत्संख्याने समर्था... कीदृशस्य ? इत्याह, अस्य—विश्वस्य, हिताय।वतीर्णस्य सर्व... वितर्के । यैः, सुकल्पैः—परमसमर्थैः, भूपांसवः कालेन महता... संख्याताः, खे मिहिकाः—हिमकणाः, दिवि भासः—सूर्य्य... माणवश्च, विमिताः, तेऽपि नेशिरे इत्यन्वयः ॥ ९६ ॥

भा०टी०—तथा च श्रीदशमे;—"हे विभो ! यद्यपि अगुण और ... हो, तथापि अन्यथारूपसे न होनेपर, विशुद्ध चित्तद्वारा निर्विकार, नीरू... दर्शि... और अन... बोध्यरूपसे, अगुण ब्रह्मकी महिमा वरन् बोधगोचर हो... विश्वके हितके लिये अवतरेहुए सगुण तुम्हारी गुणावलीको गिन्नेमें वे... तीसरे स्कन्धमें कपिल-लोग अत्यन्त निपुण हैं, वह यदि बहुतसे समयमें पृथ्वीके परमाणु, अ... जिसप्रकार चक्षुरा-सूर्यादि किरणपरम्परा भी गिनसके, तथापि सगुण जो तुम हो सो तु... भगवान् उपासनाभेदके करसके" ॥ ९६ ॥ इति ।

...का ।—एक भगवान्में उन उपासकोंमें वही रूप रसादि अं...

> ननु प्राकृतरूपत्वान्मृगतृष्णोपमाजुषाम् ।
> गुणानां गणना न स्यादिति कात्र विचित्रता ॥
> मैवं गुणानामेतस्य प्राकृतत्वं न विद्यते ।
> तेषां स्वरूपभूतत्वात्सुखरूपत्वमेव हि ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—निर्गुणब्रह्मवादी प्रत्यवतिष्ठते, नन्विति । मृगतृष्णेति-नभोनैल्यवत् आरोपितत्वात् मृषाभूतानामित्यर्थः ॥ परिहरति, मैवमिति । प्राकृतं खलु आरोप्यते, न तु स्वरूपानुबन्धि, अविषये तदसम्भवाच्चेत्यर्थः ॥ ९७ ॥

---

१ इस श्लोकसे निर्विशेष ब्रह्ममें किसीप्रकारके गुणका आविष्कार नहीं है, और श्रीकृष्णजीमें अनन्तगुणकी अभिव्यक्ति है, यही समर्थन किया ॥ ९६ ॥

भा०टी०—यदि कहो कि गुणमात्रही प्रकृतिके कार्य हैं, अत एव मरीचिकाकी समान हैं, इनकी गिनती नहीं करीजासकती, फिर इसमें आश्चर्यका विषय कौनसा है ? तुम यह बात नहीं कहसकते । भगवान्के गुण कभी भी प्राकृत नहीं होसक्ते । उनके समस्त गुणही, उनके स्वरूपभूत हैं, उनके समस्त गुण निश्चयही सुखस्वरूप हैं ॥ ९७ ॥

भगवद्गुणअप्राकृत हैं ।

तथा च ब्रह्मतर्के—

"गुणैः स्वरूपभूतैस्तु गुण्यसौ हरिरीश्वरः ।
न विष्णोर्न च मुक्तानां क्वापि भिन्नो गुणो मतः ॥"

श्रीविष्णुपुराणे (वि० पु० १ । ९ । ४३)—

"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥"

तथा च तत्रैव (वि० पु० ६ । ५ । ७९)—

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥"

पाद्मे च (प० पु० उ० ख० २५५ । ३९--४०)—

"योऽसौ निर्गुण इत्युक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः ।
प्राकृतैर्हेयसंयुक्तैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते ॥"

श्रीप्रथमे च (भा० १ । १६ । ३०)—

"इमे चान्ये च भगवन् ! नित्या यत्र महागुणाः ।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥" इति ।

अतः कृष्णोऽप्राकृतानां गुणानां नियुतायुतैः ।
विशिष्टोऽयं महाशक्तिः पूर्णानन्दघनाकृतिः ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—गुणानां स्वरूपानुबन्धित्वे प्रमाणं, गुणैरिति ॥ ब्रह्मणि प्राकृतगुणाभावे प्रमाणं, सत्त्वादयो न सन्तीति । शुद्धत्वमत्र स्वरूपा-

---

१ जिस प्रकार आकाश स्वरूपतः निर्मल होनेपरभी, उसमें मिथ्याभूत नीलिमाका आरोप हुआ करताहै । तैसेही वास्तविक निर्गुण ब्रह्ममेंभी प्राकृतगुणपरम्पराका आरोप कियाजाताहै ॥ ९७ ॥

२ गुणातीत वस्तुमें प्रकृतिगुणका संसर्ग कभीभी नहीं होसकताहै ॥ ९७ ॥

नुबन्धी गुणो बोद्धव्यः ॥ तत्रैव-श्रीविष्णुपुराणे, भगवच्छब्दार्थकथने ज्ञानशक्तीति वाक्यम् । विनाहेयैर्गुणादिभिरिति-पापा जराद्यः प्राकृता गुणा निषिध्यन्ते। नन्वेवं निराकर्त्तव्यो निर्गुणवादप्रसङ्गः ? मैवं, गुणित्वेन स्फुरणात् ॥ उपोद्घलकं वाक्यद्वयमाह, योऽसावित्यादि ॥ नित्या यत्रेति-गुणानामप्राकृतत्वं, तेन स्वानुबन्धित्वश्चेति ॥ निगमयति, अतः कृष्ण इति। पूर्णेति-सान्द्रानन्दविग्रह इत्यर्थः॥९८॥

भा० टी०-तथा च ब्रह्मतर्कमें-"भगवान् हरि स्वस्वरूपभूत गुणोंमें गुणवान् हैं। अत एव विष्णु और मुक्त जीवके गुण, कदापि स्वस्वरूपसे पृथक् नहीं हैं" ॥ विष्णुपुराणमें-"जिस परमेश्वरमें सत्त्वादि प्राकृतगुणका संसर्ग नहीं है, वही परमशुद्ध आदि पुरुष हरि प्रसन्नता विस्तारकरें ।" तथा च उसही विष्णुपुराणमेंही-"यह अर्थात् प्राकृत गुणव्यतीत समग्र ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, और तेजः यह सब भगवच्छक्तिके अभिधेय हैं।" पद्मपुराणमेंभी-" परमेश्वर जिस शास्त्रमें 'निर्गुण, कहकर कीर्तित हुए हैं,तिसके द्वारा तिसमें हेय वा प्राकृतगुणका अभावही कहा गया है।" श्रीप्रथममेंभी-"हे धर्म ! जिन समस्त गुणोंको कीर्त्तन किया; वह गुणपरम्परा और अन्य-महागुणराशि, जो श्रीकृष्णजीमें नित्यरूपमें विराजमान हैं, महत्त्वके चाहनेवाले व्यक्तिगण, जिन समस्त गुणोंकी प्रार्थना करते हैं, वह समस्तगुणावली कभीभी श्रीकृष्णजीसे अलग नहीं होती ॥" इति । अत एव श्रीकृष्णजी असंख्य-अप्राकृतगुणशाली, अपरिमित शक्तिविशिष्ट और पूर्णानन्दघनविग्रह हैं ॥ ९८ ॥

ब्रह्म निर्धर्म्मकं वस्तु निर्विशेषममूर्त्तिकम् ।
इति सूर्योपमस्यास्य कथ्यते तत्प्रभोपमम् ॥ ९९ ॥

टिप्पणी-ननु ब्रह्मस्वरूपं ज्ञानमात्रं पठ्यते, यत् खलु, विप्रपुत्रानयनप्रसङ्गे हरिवंशे पार्थेन प्रकाशमयमनुभूतमुक्तम्, इति चेत् ? तत्राह, ब्रह्मेति । निर्धर्म्मकं-रूपरसादिगुणरहितं, निर्विशेषं-यतो विशेषैर्भूम्यादिभिरस्पृष्टम्, अतः, अमूर्त्तिकं-मूर्त्तत्वशून्यमित्यर्थः । ईदृशं यत् ब्रह्म, तत् खलु सूर्य्योपमस्य कृष्णस्य "चयस्त्विषाम्" इति न्यायेन प्रभोपमं कथ्यते ।सूर्य्यो यथा तेजोराशिः सर्व्वैः प्रतीयते, दृत्तदृष्टैस्तदुपासकैस्तु दिव्यरथारूढो देवाकारः, तथा ज्ञानप्रधानैश्चैतन्यराशिः परमात्मा प्रतीयते, भक्तिप्रधानैस्तु पुरुषाकारस्तद्राशिः; इति नास्ति वस्त्वन्यत्वं यद्यपि, तथापि निराकारचैतन्यराशेराकारवत्तद्राशौ माधुर्य्यादिगुणयोगात् अतिशयोऽस्ति, इति ब्रह्मप्रकाशात् कृष्णप्रकाशस्य श्रैष्ठ्यमिति ॥ ९९ ॥

श्रीकृष्णजी अप्राकृत-गुणविशिष्ट और सूर्यतुल्य है, ब्रह्म निर्धर्मक न कृष्ण सूर्यके प्रभातुल्य हैं ।

भा०टी०—निर्गुण निर्विशेष और अमूर्त ब्रह्म सूर्यस्थानीय श्रीकृष्णजीके प्रभास्थानीयकहकर उक्त हुए हैं ॥ ९९ ॥

तथा च श्रीगीतासु (गी० १४ । २६—२७)—

"यो मामव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥१००॥" इति।

टिप्पणी—चित्तस्थानीयया भक्त्या ब्रह्मप्रकाशस्यापि ग्रहणमिति "यथेन्द्रियैः" (भा० ३ । ३२ । ३३) इत्यनेनोक्तं, श्रीगीतावाक्येन दर्शयति, यो मामिति । अव्यभिचारेण—ऐकान्तिकेन । ब्रह्मभूयाय—ब्रह्मत्वाय, निराकारचैतन्यराशियोंमे ब्रह्मप्रकाशस्तद्भावाय, योग्यो भवति, इति यद्यप्यापातात् प्रतीयते, तथापि तत्सुदृशत्वाय इत्येवार्थः, "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मु० उ० ३ । १ । ३) इति श्रुतेः । तद्भावस्तु न, "परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते । मिथ्यैतदन्यद्रव्यं हि नैत्यन्यद्रव्यतां यतः ॥" (वि० पु० २ । १४ । २७) इति श्रीवैष्णवे तस्य मिथ्यात्वोक्तेः, न खलु अणुद्रव्यं विभु भवेत् ॥ ननु वसुदेवसुतस्य तव भक्त्या कथं तादृशस्य तस्य प्राप्तिः? तत्राह, ब्रह्मणो हीति । ब्रह्मणः—निराकारस्य चैतन्यराशेः, अहं, प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठीयते अस्यामं इति व्युत्पत्तेः परमाश्रय इत्यर्थः । अव्ययस्यामृतस्य—नित्यमुक्तेः, तथा, शाश्वतस्य—नित्यस्य, धर्म्मस्य—श्रवणादिभक्तियोगस्य, तथा, ऐकान्तिकस्य सुखस्य—प्रेमलक्षणस्य च, अहं प्रतिष्ठा, इति मद्भक्त्या ब्रह्मणस्तादृशस्य प्राप्तिर्न चित्रेति ॥ १०० ॥

भा०टी०—गीतामें ऐसाही कहा है—"हे पार्थ ! जो साधक, अव्यभिचारीभक्तियोगद्वारा मेरी सेवा करता है, वह प्राकृत गुणको लांघकर ब्रह्मसादृश्यको प्राप्त होता है ॥ निराकार ब्रह्म (चैतन्यराशी) अव्यय अमृत (नित्य मुक्ति), नित्यधर्म (श्रवणादि भक्तियोग) और ऐकान्तिक सुख (प्रेमभक्ति) इन सबका मैंही परमाश्रय हूं ।" ॥ १०० ॥ इति ।

अत्र कारिकाः ।—

स ब्रह्मभावमासाद्य लीलाविग्रहमाश्रयन् ।

मामानन्दघनं प्रेम्णा भजेदित्ययमाशयः ॥
भक्तेरव्यभिचारायाः प्रेम सेवैव यत्फलम् ।
केवलं ब्रह्मभावस्तु विद्वेषेणापि लभ्यते ॥
ननु ते यादवस्यास्य भजनाद्ब्रह्मता कथम् ।
इत्याह ब्रह्मणो हीति हि यतोऽहं पुरस्तव ।
स्थितोऽयं विविधानन्दपूर्णचिद्घनविग्रहः ।
ब्रह्मणश्चित्स्वरूपस्य प्रतिष्ठा परमाश्रयः ।
रविस्तेजोघनाकारः करौघस्य यथा भवेत् ।
अव्ययेनामृतेनेह नित्यमुक्तिरुदीर्य्यते ।
शाश्वतेन तु धर्म्मेण भगवद्धर्म्म उच्यते ॥
ऐकान्तिकसुखेनात्र प्रेमभक्तिरसोत्सवः ।
येन मोक्षसुखस्यापि तिरस्कारो विधीयते ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—पद्यद्वयमेतत् कारिकाभिर्व्याचष्टे, स ब्रह्मेत्यादिना। सः—कृताव्यभिचारिभक्तिर्विद्वान्, ब्रह्मणि—भगवदङ्गत्विट्चयरूपे, भावं—लयम्, आसाद्य, प्रागनुष्ठितभक्तिसामर्थ्यात् तत्रैव आस्थितं लीलाविग्रहमाश्रयन्, मां—ब्रह्मणस्तस्य प्रतिष्ठाभूतं, भजेदित्यर्थः ॥ ननु चित्परमाणोर्जीवस्य चिद्राशौ तस्मिन् ब्रह्मणि लयेनैव भाव्यम्, न पुनस्ततो निःसृत्य तदाश्रयस्य कृष्णस्य सेवनं सम्भवेदिति चेत् ? तत्राह, भक्तेरिति । तस्मिन् ब्रह्मणि विलीनतया स्थितिस्तु भगवता कृष्णेन निहतानां विद्वेषिणामपि भवेत्, "सिद्धलोकस्तु तमसः पारे यत्र वसन्ति हि । सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्ना दैत्याश्च हरिणा हताः ॥" (ब्रह्माण्डपुराणे) इति स्मरणात्। तस्मात् तल्लीनतामात्रं भक्तेः फलं न भवतीति । तमसः—अष्टमावरणात् प्रकृतिमण्डलात्, पारे, ब्रह्मलोकः—"चयस्त्विषाम्" इति न्यायेन निराकारचित्पुञ्जरूपं स्थानमित्यर्थः । सिद्धाः—अनवज्ञातभगवदंघ्रयस्तादृग्ब्रह्मचिन्तकाः तच्चिन्तनात् विध्वस्तलिङ्गाः, तत्र, वसन्ति—लीयन्ते; हरिणा—श्रीकृष्णेन, हता दैत्याश्च । तच्चरणावज्ञातॄणान्तु ज्ञानलवदग्धानामधःपातो भवति, "येऽन्येऽरविन्दाक्ष ! विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य

कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः ॥" (भा० १० । २ । ३२) इति श्रीभागवतात् ॥ कृष्णभजनात् ब्रह्मभूयःप्राप्तिः कथम् ? इत्यर्ज्जुनः शङ्कते, नन्विति । यादवस्य—इतरराजकुमारवत् सत्त्वोत्कृष्टेन कर्म्मणा देवक्यामुत्पन्नस्य मनुष्यस्येत्यर्थः । परिहरति, ब्रह्मणो हीति—व्याख्यातप्रायम् । "त्वं परा प्रकृतिः सूक्ष्मा" (वि० पु० ५ । २ । ७) इति वैष्णवोक्तेः परात्मिकायां देवक्याम् अविच्युतस्वरूपशक्तिकस्य परेशस्य मम प्राकट्यमात्रमेव जन्म, प्राच्यामिव भानोः प्रदर्शनम्, "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा" (गी० ४ ।६) इत्यादिपूर्वोक्तेः । न तु मानुष्याम् अन्यराजपुत्रस्येव विनष्टपूर्वार्जितविद्यादिकस्य तद्देहलब्धपिण्डस्योत्पत्तिरिति मद्भजनात् मच्छविप्राप्तिर्नाद्भुता । न खलु सूर्य्यं गच्छतस्तत्प्रभासु प्रवेशो दुर्घटः ॥ १०१ ॥

भा०टी०—इन दो श्लोकोंकी कारिका ।—वह साधक ब्रह्ममें भाव अर्थात् लय प्राप्त होकर, तहांके लीलाविग्रहको आश्रय करके, आनन्दघनमूर्ति मुझको प्रेमभक्तिद्वारा भजन करताहै; व्याख्यामें श्लोकका यही अभिप्राय है ॥ क्योंकि प्रेमसेवाही अव्यभिचारिणी भक्तिका फल है । केवल—ब्रह्मभाव किन्तु विद्वेषद्वाराभी प्राप्त होसकता है ॥ यदि कहो कि तुम यदुकुलमें उत्पन्न हुए हो, तुम्हारा भजन करनेसे किस प्रकार ब्रह्मभाव सम्पन्न होसकता है ? अर्जुनकी इस शंकाको दूरकरनेके लिये "ब्रह्मणो हि" यह श्लोक कहा । हि—जिस हेतुसे, अहं तुम्हारे सन्मुखस्थित आनन्दपूर्ण चिद्घनविग्रह मैं, चित्स्वरूप ब्रह्मकी, प्रतिष्ठा, परमाश्रय; घनीभूत तेजोविग्रह सूर्य जिस प्रकार किरणराशिका आश्रय है, वैसेही चिद्घनविग्रह मैं चित्स्वरूप ब्रह्मका परमाश्रय हूं ॥ अव्यय अमृत—नित्यमुक्ति । शाश्वतधर्म—भगवद्धर्म । ऐकान्तिकसुख—प्रेम भक्ति रसोत्सव मोक्षसुखकाभी तिरस्कार किया करताहै ॥ १०१ ॥

किञ्च ब्रह्मसंहितायां (५ । ४०)—

"यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥" इति ।

अत्र कारिके ।—

निष्कलादिस्वरूपं तद्ब्रह्माण्डार्बुदकोटिषु ।

विभूतिभिर्धराद्याभिर्भिन्नं भेदमुपागतम् ॥
सदा प्रभावयुक्तस्य ब्रह्म यस्य प्रभा भवेत् ।
तं गोविन्दं भजामीति पद्यस्यार्थः स्फुटीकृतः ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—नराकृतेः सान्द्रचैतन्यराशेः कृष्णस्य निराकारश्चैतन्यराशिः प्रभास्थानीयो ब्रह्मप्रकाशत्वेनोच्यते, इत्यत्र प्रमाणं वाचनिकमाह, यस्य प्रभेत्यादि । प्रभवतो यस्य प्रभा तत् ब्रह्म, तं गोविन्दमहं भजामीत्यन्वयः । कीदृशं ब्रह्म ? इत्याह, जगदण्डकोटिकोटिषु—असंख्यातेषु जगदण्डेषु, वसुधादिभिर्विभूतिभिर्भिन्नं—कारणात्मना एकं तत्कार्य्यात्मना असंख्यातमित्यर्थः। ननु "सोऽकामयत बहु स्याम्" (तै० उ० २ । ६) इत्यादौ प्रभोरेव परेशात् कार्य्यं श्रुतं, नतु तत्प्रभाया इति चेत् ? उच्यते । प्रभोः प्रभैव कार्य्यनिष्पादिकेति विवक्षया तदुक्तिरिति तत्प्रभयैव क्षुब्धा प्रकृतिर्जगदण्डान्यसूतेत्यर्थः । केवलाद्वैतिभिर्यद्ब्रह्मस्वरूपं निर्णीयते, तदत्र नाभिमतं, तद्धि निर्धर्म्मकं शब्दावाच्यमद्वितीयञ्च । इदन्तु विशुद्धत्वप्रकाशमयत्वादिधर्म्मयुक्, शास्त्रवाच्यं, जगत्कारणत्वात् सद्वितीयञ्चेति महदन्तरम् । किञ्च, तदभिमतं ब्रह्म तु न श्रद्धेयं, तस्मिन् प्रमाणाभावात्; न तावत् तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं, रूपादिविरहात्; नाप्यनुमानं, तद्व्याप्यलिङ्गाभावात्; न च शब्दः, प्रवृत्तिनिमित्तस्य जात्यादेरभावात्; न च लक्षणा, सर्वशब्दावाच्ये तस्या असम्भवात्, न च तत्पक्षे ततः सृष्टिः, तद्धेतोः सङ्कल्पशक्तेर्विरहात्; न चोपदेशः, उपदेष्टुरुपदेश्यस्य चाभावात् । ननु भ्रान्त्या तत्तत्सिद्धिः ? मैवम् । क भ्रमः, ब्रह्मणि जीवे वा ? नाद्यः विज्ञानराशेस्तस्य तदसम्भवात् । नान्त्यः, प्रागभ्रान्तेस्तस्यैवाभावात्, इति तुच्छं तत् ॥ १०२ ॥

भा०टी-०—ब्रह्मसंहितामें औरभी कहा है;—"अनन्तकोटिब्रह्माण्डमें अशेष—वसुधादि-विभूतिद्वारा भिन्न जो निष्कल, अनन्त और अशेषस्वरूप ब्रह्म है, वह प्रभायुक्त जिसकी प्रभा है, मैं उन्हीं आदिपुरुष गोविन्दका भजन करताहूं ।" इति । इस श्लोककी दो कारिका ।— अनन्तकोटिब्रह्माण्डमें वसुधादि-विभूतिद्वारा जो भिन्न भेद प्राप्त, और जो निष्कलादि स्वरूप हैं; वह ब्रह्म सदा प्रभावयुक्त जिन गोविन्दकी प्रभा है, मैं उन्हीं गोविन्दका भजन करताहूं, यही इस श्लोकका स्पष्ट अर्थ है ॥ १०२ ॥

ननु भोस्तव भावोऽयं ज्ञात एव मया ध्रुवम् ।
परव्योमपतेः शौरिरवतारस्त्वयोच्यते ॥
जन्मादिलीलाप्राकट्यादवतारतयाप्यसौ ।
प्रोक्तो विलास एव स्यात्सर्वोत्कर्षातिभूमतः ॥
यः परव्योमनाथः स्यादसमानोर्द्धवैभवः ।
श्रुतिस्मृतिमहातन्त्रवर्णितोत्कर्षसौष्ठवः ।
लोकसृष्टेः पुरा ब्राह्मे कल्पे यः परमेष्ठिने ।
महावैकुण्ठलोकस्थं स्वमात्मानमदर्शयत् ॥ १०३ ॥

टिप्पणी-अथ श्रीवैष्णवाः प्रत्यवतिष्ठन्ते । ते हि मन्यन्ते, परव्यूहविभवान्तर्य्याम्यर्च्चात्मना परमात्मा विभाति । तत्र परः-नारायणः स्वयं प्रभुः, व्यूहाः-वासुदेवादयश्चत्वारः, विभवाः-मत्स्यकूर्मादयः, अन्तर्य्यामी-प्रतिप्राणिहृद्वर्त्यङ्गुष्ठमात्रः, अर्च्चा तु-श्रीरङ्गजगन्नाथादिः।विभवेषु नृसिंहो रघुनाथः कृष्णश्च श्रेष्ठाः, तेष्वैश्वर्य्याधिक्यात कृष्णो नारायणानन्तरो भविष्यति, विभवाश्च नित्यविग्रहा इति । तान्निराकर्तुं तद्भाषणमनुवदति, नन्विति । तव-कृष्णपारम्य्यवादिनः, भावः-अभिप्राय इत्यर्थः । कोऽसौ ? तमाह, परेति॥ननु मत्स्यकूर्म्मादिरिव कृष्णोऽस्त्ववतार इति चेत् ? नैवमित्याह, जन्मादीति । प्रपश्चाविर्भावमात्रेण कृष्णोऽवतारत्वेनोक्तः, वस्तुतस्तु नारायण एवानाविष्कृत-कियद्धर्म्मकृष्ण इत्यर्थः । तत्र हेतुः, सर्वोत्कर्षेति-नृसिंहरामाभ्यामप्यतिशयाभिधानादित्यर्थः ॥ तं विशिनष्टि, यः परेति ॥ १०३ ॥

"श्रीकृष्ण परव्योमपति नारायणके विलास है" रामानुजीय लोगोंका यह पूर्वपक्ष उत्थापना ।

भा०टी०--यदि कहो कि, हे कृष्णपारम्यवादिन् ! तुम्हारा अभिप्राय मैंने निश्चयही समझलिया है; तुम कहते हो कि, परव्योमनाथके अवतार श्रीकृष्णजी हैं ॥ जन्मादि लीला प्रगट करनेके हेतु अवतार नामसे कथित होनेपरभी, अन्यावतार अर्थात् श्रीराम व नृसिंहजीसेभी उत्कर्षकी बहुतायत होनेपर, श्रीकृष्णजी परव्योमनाथके विलासमें गिने जासकते हैं॥जिसकी बराबर और जिससे वैभव दूसरेका नहीं है, उन्ही परव्योमनाथका उत्कर्ष श्रुति, स्मृति और महातंत्रोंमें वर्णित है । लोकसृष्टिके पहिले ब्राह्म कल्पमें (जिस कल्पमें ब्रह्माका जन्म हुआ है ।) उन्होंने ब्रह्मा को महावैकुण्ठलोकस्थित अपना रूप दिखाया था ॥ १०३ ॥

तथा हि श्रीद्वितीयस्कन्धे (भा० २ । ९ । ९–१६)–

"तस्मै स्वलोकं भगवान्सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ।
व्यपेत-संक्लेश-विमोह-साध्वसं
स्वदृष्टवद्भिः पुरुषैरभिष्टुतम् ॥ १०४ ॥"

टिप्पणी--तस्मै स्वेति । तस्मै–ब्रह्मणे चतुर्म्मुखाय, सभाजितः–तेन भक्त्याराधितः, भगवान्–परमव्योमनाथः, स्वलोकं–परमव्योमाख्यं स्वस्थानम्,अदर्शयत्।यत्–यतः,परम्--अन्यत्,वैकुण्ठं,परं–श्रेष्ठं, नास्ति । व्यपेताःसंक्लेशादयो यस्मात्, संक्लेशाः–अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः, विमोहः–अविवेकः, साध्वसं–पातभयम् । स्वस्य, दृष्टं–दर्शनं, तद्वद्भिः साक्षात्कृततद्रूपैः, पुरुषैः–तल्लोकिभिः, अभिष्टुतम् ॥ १०४ ॥

भा०टी०–तैसही श्रीदूसर स्कन्धमें–"भगवान् परव्योमनाथने ब्रह्मकरके; उनको परव्योमनामक अपना लोक दिखाया था । जिसकी अपेक्षा श्रेष्ठ और वैकुण्ठ नहीं है । जिससे संक्लेश, (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश) विमोह, (अविवेक), और साध्वस (पतनभय), व्यपगत हुआ है । जिन्होंने भगवत्साक्षात्कार लाभकियाहै, वह महापुरुषगण, जिसकी स्तुति किया करते हैं ॥ १०४ ॥

वैकुण्ठधामकी नित्यता

प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाःपिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्च्चसः ॥
प्रवाल-वैदूर्य्य-मृणालवर्च्चसः परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥
भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजितो लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विरोचमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥
श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः ।
प्रेङ्खाश्रिता या कुसुमाकरानुगैर्विगीयमाना प्रियकर्म्म गायती १०५

टिप्पणी—रजस्तमश्च,तयोः सहचरं मिश्रं सत्त्वञ्च,यत्र—लोके,कालविक्रमश्च,न प्रवर्त्तते—नास्ति,यत्र मायैव नास्ति,अपरे—तत्कार्य्यभूता महदहङ्कारादयश्च,न सन्तीति किमुत वक्तव्यम् । कालमाययोरभावेन नित्यानन्दस्वप्रकाशरूपत्वं लोकस्य दर्शितम्।पार्षदमञ्जुलत्वं लोकस्याह, हरेरनुव्रता इत्यादिना ॥ सुपेशसः—सौकुमार्यवन्तः । उन्मिषन्त इव प्रभावन्तः, मणिप्रवेकाः—मण्युत्तमाः, येषु तादृशानि, निष्काद्याभरणानि येषां ते; निष्कं पदकम् । प्रवालेति—तत्तद्वर्णभगवदुपासनया तत्तत्सारूप्यवन्त इत्यर्थः ॥ भ्राजिष्णुभिरिति । महात्मनां—तल्लोकिनां, भ्राजिष्णुभिर्लसद्भिर्मानावलिभिः,यः—लोकः, परितो विराजते । प्रमदोत्तमानां—वरतरुणीनां, द्युभिः—कान्तिभिः, विरोचमानः—दीप्तिमान।तत्र दृष्टान्तः, सविद्युदभ्रावलिभिः, नभः—आकाशः, यथेति तासां नीलसाटीविशिष्टत्वं द्योत्यते ॥ श्रीः—लक्ष्मीः, रूपिणी—दिव्यरूपवती, विभूतिभिः—सेवापरिच्छदैः, उरुगायस्य—हरेः, पादयोः, मानं—पूजां, करोति । यद्वा, श्रीः—सम्पद्रूपा, रूपिणी—मूर्त्ता, इति प्रागुक्त । कीदृशी सा ? इत्याह । प्रेङ्खां—दोलाम्; आश्रिता—आरूढा । कुसुमाकरः—वसन्तर्त्तुः, तदनुगैः—ग्रीष्माद्यृतुभिर्मूर्त्तिमद्भिः, विशेषेण गीयमाना । प्रियस्य—हरेः, कर्म्म—चरितं, गायतीति ॥ १०९ ॥

भा०टी०—जिसमें रजः, तमः, और उनके सहचर प्राकृत—सत्त्व और कालविक्रम नहीं है । जहां माया नहीं है, अत एव अपर अर्थात् मायाकार्य महदादितत्त्वभी नहीं है, इसको और क्या कहें । जहांपर सुरासुरगणोंके सुपूजित हरिके पार्षदगण विराजमान हो रहे हैं॥वे समुज्ज्वल और श्यामकान्ति हैं,उनके दोनों नेत्र कमलकी पंखड़ियोंके समान हैं, वस्त्रयुगल पीतवर्ण और अंग सुकुमार हैं । वे सबही चतुर्भुज और परम रमणीय हैं । उनके निष्कादि आभरण प्रभाशाली श्रेष्ठमणिसमूहसे खचित हैं । प्रवाल, वैदूर्यमणि (नीलपीतच्छविमणि) और मृणालकी समान उनके अंगकी कान्ति है । वह, चमकते दमकते हुए कुण्डल, मौलिमालासे विभूषित और अतितेजस्वी हैं॥वह लोक चारों ओरसे महात्मागणोंके दीप्तिशाली और शोभायमान विमानसमूहोंसे विराजमान हैं । जिस प्रकार आकाश दामिनीयुक्त मेघमालासे शोभायमान होताहै, वैसेंही यह लोक श्रेष्ठ श्रीकी अंगकान्तिद्वारा विरोचमान होते हैं॥इस लोकमें सम्पत्तिरूपा श्री मूर्तिमती होकर विविध

१ "प्रेङ्खां-दोलाम्" इत्यत्र "प्रेङ्खम्—आन्दोलम्" इति पाठान्तरम् ।

विभूतिद्वारा श्रीहरिकी चरणसेवा और हिण्डोलेमें बैठकर ग्रीष्मादि ऋतुगणमें मिलित वसन्त ऋतुके द्वारा गाई जाती हुई अपने आपही अपने प्यारे दुलारे श्रीहरिकी लीला गानकर- रही हैं ॥ १०५ ॥

ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्द-नन्द-प्रबलार्हणादिभिः स्वपार्षदाग्र्यैः परिषेवितं विभुम् ॥
भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं प्रसन्नहासारुणलोचनाननम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं पीतांशुकं वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥
अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं वृतं चतुःषोडशपंचशक्तिभिः ।
युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैःस्व एवधामन्नममाणमीश्वरम्१०६"इति।

टिप्पणी—लोकं दृष्ट्वा तल्लोकनाथं हरिं ब्रह्मा अदर्शदित्याह, ददर्शेति । कीदृशम् ? इत्याह, अखिलेति । सातिः सुखार्थः सौत्रः, ततः क्विपि तु, सात-सुखरूपो हरिः, स येषामर्च्यतयास्ति, ते, सात्वन्तः- तद्भक्ताः, तेषामखिलानां, पतिं-स्वामिनम् । दृगासवं-सौन्दर्येण नेत्रोन्मादकमित्यर्थः । श्रिया-रेखारूपया, वक्षसि, लक्षितं- चिह्नितम् । अध्यर्हणीयं-सर्वपूज्यं, यत, आसनं-राजपदरूपं, तत् आस्थितं- तस्मिन विराजमानमित्यर्थः । चतुः-षोड्श-पञ्चशक्तिभिर्वृतं-तत्र ल्हादिनी-कीर्ति-करुणा-तुष्टयश्चतस्रः, श्र्यादयः सत्त, विमलादयो नवेति षोड्श; सांख्य-योग-वैराग्य-तपोभक्तयः पञ्च; इत्येताभिः पंचविंशत्या शक्तिभिः परिवृतम्, आसनमिति योज्यम् । भगैः-धर्म्मज्ञानैश्वर्य्यवैराग्यैः, स्वैः-असाधारणैः, युक्तं-विशिष्टम् । कीदृशैस्तैः ? इत्याह, इतरत्र-विरिञ्च्यादौ, अध्रुवैः-अस्थिरैः । स्फुटमन्यत ॥ १०६ ॥

भा०टी०—ब्रह्माजीने उस वैकुण्ठलोकमें, समस्त भक्तोंके स्वामी, श्रीपति, यज्ञफलदाता, जगत्पालन करता, और सुनन्द नन्द प्रबल और अर्हण प्रभृति अपने पार्षदप्रवर करके परिसेवित प्रभु हरिका दर्शन कियाथा । जो भक्तिके प्रति सदा प्रसन्न रहते हैं, जो अपनी सुन्दरताईके द्वारा समस्त नेत्रोंको उद्भ्रान्त करनेवाले हैं, जिनका वदन सर्वदा प्रसन्न और मुसकानयुक्त है, नेत्र ललाई लिये, मस्तकपर किरीटधारे, कानोंमें कुण्डल पहिरे, चार भुजायुक्त, पिताम्बरधारे, और छातीपर जिनकी श्रीका चिह्न विराजरहा है । जो चार, छैः,

और पांच (ल्हादिनी, कीर्ति, करुणा और तुष्टि यह चार, पूर्वोक्त श्री इत्यादि सात और विमलादि नव यह सब सोलह हुई, और सांख्य, योग, तप, वैराग्य और भक्ति यह पांच) शक्तिद्वारा परिवृत और सर्वाराध्य शासनपर विराजमान हैं और अन्यत्र स्थाई स्वीय-भग--(धर्म, ज्ञान, वैराग्य व ऐश्वर्य--) युक्त होकर जो ईश्वर अपने धाममें निरत हैं" ॥ १०६ ॥ इति।

अत्र कारिकाः ।—

यद्यतः परमुत्कृष्टं पदमन्यन्नहि क्वचित् ।
संक्लेशाः पंच विद्याद्या विमोहो निर्विवेकता ॥
साध्वसं पाततो भीतिर्न सन्त्येतानि यत्र तम् ।
स्वदृष्टमात्मनः साक्षात्कारस्तद्वद्भिरीडितम् ॥
रजस्तमश्च नो यत्र सत्त्वं सध्यक्तयोर्नच ।
गुणा यत्र प्रकृतिजा न सन्तीति प्रदर्शितम् ॥
न कालविक्रमो यत्र सर्वविध्वंसकारिता ।
परं मूलमनर्थानां यत्र मायैव नास्ति हि ॥
अपरे तत्र किमुत विकारा महदादयः ।
अतो वैकुण्ठलोकस्य कथिता नित्यसिद्धता ॥
हरेरनुव्रता यत्र श्यामारुणहरित्सिताः ।
तत्तद्वर्णमुपास्येशं[1] तत्सारूप्यमुपागताः ॥
अथवा नित्यसिद्धत्वात्तद्रुचामप्यनादिता ॥
श्रीः सम्पद्रूपिणी मूर्त्ता यत्र पद्मांशसम्भवा ।
मानं सेवां रचयति विविधाभिर्विभूतिभिः ॥
कुसुमाकरशब्देन ऋतूनामधिपो मतः ।
तेन तस्यानुगैर्ग्रीष्मवर्षाद्यैर्ऋतुभिश्चया ॥
विशेषाद्दीयमानापि प्रियकर्मैव गायती ।

---

१ "तत्तद्वर्णमुपास्येशं तत्सारूप्यमुपागताः" इत्यत्र "तत्तद्रूपं विभाव्य स्वं तद्भक्तया तमुपागताः" इति पाठान्तरम् ।

शत्रन्तेन पदेनात्र तिङन्ता लक्षिता क्रिया ॥
तत्रेश्वरं ददर्शासौ कथम्भूतं दृगासवम् ।
सान्द्रानन्दैर्दृशां सुष्ठु मादकत्वात्स आसवः ॥ १०७ ॥

टिप्पणी--पद्यानि कारिकाभिर्व्याख्याति, यद्यतः परमित्यादिभिः। स्वदृष्टमिति-भावे निष्ठा ॥ सध्र्यगिति-सहाञ्चतीति सध्र्यक्, सहस्य सध्रिरादेशः, सहचरमित्यर्थः । ननु मिश्रं सत्त्वं नास्तीत्युक्तेर्विशुद्धं तत यत्रास्तीति लभ्यते, "विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।" (भा० १० । २७ । ४) इत्यादिस्मरणाच्च, तच्च प्राकृतमेव भवेदिति चेत? न; "न यत्र माया" इत्यनेन तस्यापि व्युदासात । यत्तु "विशुद्धसत्त्वं तव धाम" इत्यनेनोक्तं, तत् खलु मायेतरत ज्ञानात्मकं स्वप्रकाशं वस्तु इत्येके; भगवदभिन्ना या परा शक्तिः "ल्हादिनी सन्धिनी संवित्" (वि० पु० १ । १२ । ९६) इत्येवं त्रिवृत पठ्यते, तद्भूतमेव तत, इत्यपरे; इत्यन्यत्र बहुतरम् ॥ तत्तद्वर्ण-श्यामादिरूपम् ॥ ऋतूनामधिपः-राजा वसन्तः ॥ सान्द्रानन्दैरिति-सौन्दर्य-माधुर्य्य-सौरभ्य-लावण्यलक्षणैरित्यर्थः । सः-हरिरेव, आसवः-मधुस्थानीय इत्यर्थः ॥ १०७ ॥

भा०टी०--इन श्लोकोंकी कारिका।--यत्--जिसकी अपेक्षा, पर--श्रेष्ठ, और पद कहीं भी नहीं है । संक्लेश--अविद्यादि पञ्च, विमोह--निर्विवेकता, साध्वस--पतनसे भय, यह सकल संक्लेशादि जिसमें नहीं है, ब्रह्माजीने उसका दर्शन किया । स्व--दृष्ट--आत्माका अर्थात् हरिका साक्षात्कार, तद्विशिष्ट जनकरके जो लोक, ईड़ित--स्तुत जिसमें रजः और तमोगुण नहीं है, उनके सहचारी सत्त्वगुण भी नहीं है । इससे यह प्रदर्शित हुआ कि वैकुण्ठमें प्राकृतगुण नहीं है । कालविक्रम--सर्वविध्वंसकारिका--जिस लोकमें नहीं है सर्व प्रकारके अनर्थोंकी हेतु जो माया है, सो जिस लोकमें नहीं है, अतएव अपर--महदादि विकार, जिस स्थानमें नहीं हैं, सो और क्या कहूं । इससे वैकुण्ठलोककी नित्यसिद्धता प्रतिपादित हुई ॥ जिस स्थानमें हरिजीके श्याम, अरुण हरित और शुक्लवर्ण पार्षद गण श्यामादिवर्ण परमेश्वरकी उपासना करके उसके सारूप्यको प्राप्त हुए हैं । अथवा नित्यसिद्ध पार्षद गणोंकी श्याम कान्तिभी अनादिसिद्ध है ॥ जिस लोकमें लक्ष्मीके अंशसे उत्पन्न हुई सम्पद्रूपिणी श्री, मूर्ति धारणकरके विविध विभूतिद्वारा हरिकी, मान--सेवा रचना करती है । कुसुमाकर--ऋतुराज वसन्त, ग्रीष्म--वर्षादि ऋतुओंसे परिवृत उस वसन्तकरके विशेषरूपसे गीयमाना होकरभी जो श्री स्वयं केवल प्रियतम हरिके गुणही गान

करती हैं । यहां शतृ–प्रत्ययान्त 'गायती' पदसे तिङन्त क्रिया दिखाई है ॥ उसही लोकमें ब्रह्माजीने जिस परमेश्वरको देखाथा, वह किस प्रकारके हैं ? दृगासव–सौन्दर्यमाधुर्यादि सान्द्रानन्दद्वारा जनगणोंके नेत्र अत्यन्त मतवाले करदेते हैं इस कारण, वह हरि आसव (मधुस्थानीय) हैं ॥ १०७ ॥

पीतांशुकपदेनास्य ध्वन्यते श्यामवर्णता ॥
अध्यर्हणीयशब्देन महायोगाख्यपीठकम् ।
श्रीपाद्मोत्तरखण्डोक्तमत्रैवाग्रे प्रवक्ष्यते ॥
चतस्रो ह्लादिनी-कीर्त्ति-करुणा-तुष्टयः स्मृताः ।
शक्तयः षोड़शात्रैव पूर्वमेव प्रदर्शिताः ॥
विद्यायाः पञ्च पर्वाणि सांख्यादीन्यत्र पंच च ॥
तानि पंचरात्रे—
"सांख्ययोगौ तु वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे ।
पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान्हरिं विशेत् ॥" इति ।
इत्येताभिर्वृतं पंचविंशत्या शक्तिभिः सदा ।
भगैरैश्वर्य्यधर्म्माद्यैः स्वैरसाधारणोदयैः ॥
इतरत्र विरिञ्च्यादावध्रुवैरस्थिरैः कृशैः ॥
स्व एव धाम्नि वैकुण्ठे रतिं विदधतः सदा ।
किंवा स्वरूपभूतत्वाच्छ्रियस्तस्याः स्वधामता ॥
तथा च भार्गवतन्त्रे—
"शक्ति-शक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथञ्चन ।
अविभिन्नापि स्वेच्छादिशब्दैरपि विभाष्यते ॥ १०८ ॥" इति।

टिप्पणी—पीतांशुकेति । श्यामेति-पीताम्बरस्य शोभाधायित्वादित्यर्थः ॥ स्व एवेति । रतिम्–अभिरुचिम् । किंवेति–एतत्पक्षे रतिं सम्भोगम् । ननु श्रीहरिधामेति कथं, धामशब्दस्य विग्रहवाचित्वात्, "धाम देहे गृहे रश्मौ" इति मेदिनी, नहि श्रीहरेर्विग्रह इतिचेत् ?

१ "पदेनास्यध्वन्यते" इत्यत्र "पदेनात्र ध्वनिता" इति पाठान्तरम् ।

तत्राह, शक्तीति । ह्लादिनी शक्तिः खलु श्रीः, तदभिन्नत्वात् तद्विग्रहरूपेव सेति किमनुपपन्नम् । विशेषबलात्तु भेदकार्य्यं भविष्यत्येव, 'सत्तासती' इत्यादिवत्; यद्यप्यभिन्ना शक्तिस्तथापि स्वेच्छादिशब्दैरुच्यते, विशेषसामर्थ्यात् ॥ १०८ ॥

भा०टी०—पीतांशुक—पदसे हरिजीकी श्यामवर्णता व्यंजित हुई ॥ अभ्यर्हणीय—शब्दसे श्रीपद्मपुराणका उत्तरखंडोक्त 'महायोगपीठ' कथित हुआ है, और इसही ग्रंथके पीछे भी वह कहा जायगा॥ल्हादिनी, कीर्ति, करुणा और तुष्टि यही चार शक्ति हैं और षोड़श शक्ति इस ग्रंथमें पहिलेही कहआये हैं ॥ विद्याशक्तिकी पञ्चपर्व सांख्यप्रभृति 'पांच शक्ति' हैं वही सांख्यादि पंच हैं, पंचरात्रमें कहा है—"सांख्य, योग, वैराग्य, तपः और हरिभक्ति, इसको पंचपर्वा विद्या कहते हैं, जिस विद्याके द्वारा ज्ञानीलोग हरिजीके साथ मिलजाते हैं ।" ॥ इति ॥ वह योगपीठ इन पचीस शक्तियोंसे सर्वदा परिवृत है । भग—ऐश्वर्यादि स्व—असाधारण, अर्थात् ऐसे असाधारण भगविशिष्ट । अन्यत्र विरिंच्यादिमें अध्रुव—अस्थिर और कृश; अर्थात् जो ऐश्वर्यादि विरिंच्यादिमें अस्थिर और कृशरूपसे स्थित हैं । स्वधाममें—वैकुण्ठमें—रममाण—सर्वदा रतिविधानकर्ता अर्थात् वैकुण्ठधाममें सदा निरत किंवा, स्वधाम—स्वरूपभूत शक्ति श्री, अर्थात् स्वरूपशक्ति श्रीमें सर्वदा निरत ॥ तथा च भार्गवतंत्रे—"शक्ति और शक्तिमानमें किसी प्रकारका भेद नहीं है । शक्ति अभिन्न होनेपरभी 'स्वेच्छा' प्रभृति शब्दद्वाराभी कथित हुआ करती है" ॥ १०८ ॥ इति ।

चार और षोड़श शक्ति पंच शक्ति ।

किञ्च पाद्मोत्तरखण्डे (प० पु० उ० ख० २५५ । ५७—६४)—

"प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी ।
वेदाङ्गस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता शुभा ॥
तस्याः पारे परव्योम्नि त्रिपाद्भूतं सनातनम् ।
अमृतं शाश्वतं नित्यमनन्तं परमं पदम् ॥
शुद्धसत्त्वमयं दिव्यमक्षरं ब्रह्मणः पदम् ।
अनेककोटिसूर्य्याग्नितुल्यवर्च्चसमव्ययम् ॥
सर्ववेदमयं शुभ्रं सर्वप्रलयवर्ज्जितम् ।
असंख्यमजरं सत्यं जाग्रत्स्वप्नादिवर्ज्जितम् ॥
हिरण्मयं मोक्षपदं ब्रह्मानन्दसुखाह्वयम् ॥

समानाधिक्यरहितमाद्यन्तरहितं शुभम् ॥
तेजसात्यद्भुतं रम्यं नित्यमानन्दसागरम् ।
एवमादिगुणोपेतं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
न तद्भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं हरेः ॥
तद्विष्णोः परमं धाम शाश्वतं नित्यमच्युतम् ।
न हि वर्णयितुं शक्यं कल्पकोटिशतैरपि ॥"
तत्रैवाग्रे (प० पु० उ० ख० २५६ । ९–२१)–
"श्रीशांघ्रिभक्तिसेवैकरसभोगविवर्द्धिताः ।
महात्मानो महाभागा भगवत्पादसेवकाः ।
तद्विष्णोः परमं धाम यान्ति प्रेमसुखप्रदम् ॥
नानाजनपदाकीर्णं वैकुण्ठं तद्धरेः परम् ।
प्राकारैश्च विमानैश्च सौधैरत्नमयैर्वृतम् ॥
तन्मध्ये नगरी दिव्या साऽयोध्येति प्रकीर्त्तिता ।
मणिकाञ्चनचित्राढ्यप्राकारैस्तोरणैर्वृता ।
चतुर्द्वारसमायुक्ता रत्नगोपुरसंवृता ॥ १०९ ॥

टिप्पणी-परिपोषाय महावैकुण्ठलोकं पाद्मवाक्यैर्वर्णयति,प्रधानेति॥ शाश्वतं–नवायमानम् ॥ शुभ्रं–निर्म्मलम् । असंख्यम्–अपरिमितम् ॥ हिरण्मयं–चिद्घनम् ॥ तद्गमनाधिकारिण आह, श्रीशाङ्घ्रीति ॥ अयोध्येति–मायया योद्धुमावरीतुमशक्यत्वादित्यर्थः । तोरणैः–वन्दनमालाभिः । गोपुरैः–पुरद्वारैः, संवृता–विशिष्टा, "पुरद्वारन्तु गोपुरम्" इत्यमरः ॥ १०९ ॥

१ वन्दनमाला भिरिति–बहिर्द्वारोपरि स्थिता शुभदा माला वन्दनमालोच्यते । यथा–"तोरणोर्द्ध्वे तु माङ्गल्यं दाम वन्दनमालिका ॥" इति हेमचन्द्रः ।

शक्ति और शक्तिमानमें भेद नहीं । पाद्मोत्तरखण्डीय प्र- [illegible], वैकुण्ठ- धाम, वैकुण्ठमहिमा और वैकुण्ठपरिक- रगणकी वर्णना ।

भा०टी०—किंच पाद्मोत्तरखण्डे—"प्रधान और परव्योमकी अन्तरालवर्त्तिनी विरजा-नामवाली नदी । यह शुभदायिनी नदी तहांके मूर्तिमान् वेदगणोंके अंगसे उत्पन्न हुए स्वेदकी जलराशिसे प्रवाहित है ॥ इस विरजानदीके पार पर-व्योममें त्रिपाद्विभूतियुक्त, सनातन, अमृत (अत्यन्तमधुर), शाश्वत (नवायमान), नित्य (जन्मान्तराग्नित्वरहित), अनन्त (वृद्धिरहित) शुद्ध वा अप्राकृत सत्त्वमय, दिव्य (लोकातीत), अक्षर (अपक्षयशून्य) ब्रह्मका पद (उपलब्धिस्थान) अनेक कोटि सूर्य और अग्निकी तुल्य तेजोमय, अव्यय, सर्ववेदमय, शुभ्र (निर्मल अर्थात् उपाधिशून्य चतुर्विधप्रलयरहित, असंख्य (परिमाणातीत), अजर (विपरिणामरहित), स (बाधरहित), जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंसे रहित, हिरण (चिद्घन), मोक्षस्थान ब्रह्मानंदसुख—नामक, साम्य और आधिक्यरहित आद्य रहित (जन्मनाशशून्य), शुभ प्रभाद्वारा अत्यन्त अद्भुत, मनोहर और नित्यही नवायमान आनन्दका सागर इत्यादिगुणयुक्त वह विष्णुजीका परमपद अर्थात् वैकु लोक है ॥ सूर्य, चन्द्र और अनलका उजाला उसको प्रकाशित नहीं करता, जिस स्था गमनकरनेसे फिर संसारमें लौटना नहीं होता ॥ वही विष्णुजीका परम धामहै शाश्वत, नित्य और अच्युत विष्णुजीका वह परम धाम, शतकोटि कल्पमेंभी कोई वर्णन करनेको समर्थ नहीं होता ।" ॥ उसही पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें आगे कहा है—"जो लोग लक्ष्मीपतिके पदारविन्दमें एक मात्र भक्तिरसानुभवद्वारा विवर्धित हैं, वह भगवच्चरण-सेवामें निरत महात्मा गण विष्णुजीके उस प्रेम सुखदायक परम धाममें गमन किया करते हैं ॥ वह अनेक प्रकारके जनपदसे समाकीर्ण है और प्राकार (परकोटा) विमान और रत्नमय सौधमालासे परिवृत है ॥ इस लोकमें मणि, कांचन और विचित्र चित्रयुक्त प्राकार, चतुर्द्वार और पुरद्वारसे परिवृत अयोध्यानामक अपूर्व पुरी विद्यमान है ॥ १०९

चण्डादिद्वारपालैश्च कुमुदाद्यैः सुरक्षिता ।
चण्डप्रचण्डौ प्राग्द्वारे याम्ये भद्रसुभद्रकौ ।
वारुण्यां जयविजयौ सौम्ये धातृविधातरौ ॥
कुमुदः कुमुदाक्षश्च पुण्डरीकोऽथ वामनः ! ।
शङ्कुकर्णः सर्पनेत्रः सुमुखः सुप्रतिष्ठितः ।
एते दिक्पतयः प्रोक्ताः पुर्य्यामत्र शुभानने ! ॥
कोटिवैश्वानरप्रख्यगृहपंक्तिभिरावृता ।

आरूढयौवनैर्नित्यैर्दिव्यनारीनरैर्युता ॥
अन्तःपुरन्तु देवस्य मध्ये पुर्य्यां मनोहरम् ।
मणिप्राकारसंयुक्तं वरतोरणशोभितम् ॥
विमानैर्गृहमुख्यैश्चप्रासादैर्बहुभिर्वृतम् ।
दिव्याप्सरोगणैः स्त्रीभिः सर्वतः समलंकृतम् ॥
मध्ये तु मण्डपं दिव्यं राजस्थानं महोत्सवम् ।
माणिक्यस्तम्भसाहस्रजुष्टं रत्नमयं शुभम् ।
नित्यमुक्तैः समाकीर्णं सामगानोपशोभितम् ॥
मध्ये सिंहासनं रम्यं सर्ववेदमयं शुभम् ।
धर्म्मादिदैवतैर्नित्यैर्वृतं वेदमयात्मकैः ।
धर्म्मज्ञानमहैश्वर्य्यवैराग्यैः पादविग्रहैः॥ ११० ॥"

टिप्पणी–यत्र पुर्य्यां कुमुदादयोऽष्टौ दिक्पालाः सन्तीत्याह, कुमुद इत्यादि ॥ नित्यमुक्तैः–नित्यनिवृत्ततमोभिः पीठपादा विग्रहा येषां तैः, पीठपादतया स्थितैरित्यर्थः ॥ ११० ॥

भा०टी०–यह नगरी चण्डादि द्वारपाल और कुमुदादि दिक्पालोंकरके रखाई जाती है । उसके पूर्वद्वारपर चड, और प्रचंड, दक्षिण द्वारपर भद्र और सुभद्र, पश्चिम द्वारपर जय और विजय और उत्तर द्वारपर धाता और विधाता द्वारपाल हैं ॥ हे शुभानने ! इस पुरीकी पूर्वादि आठ दिशाओंमें कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शंकुकर्ण, सर्पनेत्र, सुमुख और सुप्रतिष्ठित यह आठ दिक्पाल हैं ॥ यह नगरी ऐसे करोडों गृहोंसे समाकुल है कि जिनकी प्रभा अग्निकी समान है । और चढ़तीहुई जवानीके अपूर्व नित्य नर नारियोंके समूह भी इसमें रहते हैं, उसके मध्य भागमें मणिमय परकोटा लगा हुआ है, श्रेष्ठ तोरणसमूहोंसे वह पुरी शोभित है, विविध प्रकारके विमान, अत्यन्त श्रेष्ठ गृह, व प्रासादमालासे परिवृत है । और दिव्य अप्सरा व स्त्रियोंसे सर्वदा अलंकृत नारायणजीका मनोहर अन्तःपुर विराजमान है, इस अन्तःपुरमें सहस्र २ खंब लगेहुए हैं, जिनमें माणिक जड़े हैं, मुक्तजनोंसे नित्य समाकीर्ण है, सामगानसे सुशोभित, अनेक प्रकारके महोत्सवोंसे युक्त, परमसुन्दर रत्नमय राज्योचित मंडप विराजमान है ॥ इस मंडपमें सर्ववेदमय रमणीय निर्मल सिंहासन विद्यमान है । धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्यके अधिष्ठातृदेवतागण वेदमय नित्यविग्रह धारणकरके पादपीठरूपसे स्थित हो उस सिंहासनको धारण करे हैं ॥११०॥

तत्रैव (प०पु० उ० ख० २५६ । २३-५४)-

"वसन्ति मध्यमे तत्र वह्निसूर्य्यसुधांशवः ।
कूर्म्मश्च नागराजश्च वैनतेयस्त्रयीश्वरः ॥
छंदांसि सर्वमन्त्राश्च पीठरूपत्वमास्थिताः ।
सर्वाक्षरमयं दिव्यं योगपीठमिति स्मृतम् ॥
तन्मध्येऽष्टदलं पद्ममुदयार्कसमप्रभम् ।
तन्मध्ये कर्णिकायान्तु सावित्र्यां शुभदर्शने ! ।
ईश्वर्या सह देवेशस्तत्रासीनः परः पुमान् ॥
इन्दीवरदलश्यामः सूर्य्यकोटिसमप्रभः ।
युवा कुमारः स्निग्धाङ्गः कोमलावयवैर्युतः ॥
फुल्लरक्ताम्बुजनिभकोमलांघ्रिकराब्जवान् ।
प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षः सुभ्रूलतयुगाङ्कितः ॥
सुनासः सुकपोलाढ्यः सुशोभमुखपंकजः ।
मुक्ताफलाभदन्ताढ्यः सुस्मिताधरविद्रुमः ॥
परिपूर्णेन्दुसंकाशसुस्मिताननपङ्कजः ।
तरुणादित्यवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विराजितः ।
सुस्निग्धनीलकुटिलकुन्तलैरुपशोभितः ।
मन्दारपारिजाताढ्यकबरीकृतकेशवान् ॥
प्रातरुद्यत्सहस्रांशुनिभकौस्तुभशोभितः ।
हारस्वर्णस्रगासक्तकम्बुग्रीवाविराजितः ॥ १११ ॥

टिप्पणी—वसन्तीति । त्रयीश्वरः—वेदमयः, वैनतेयः—गरुडः ॥ तन्मध्ये इति—गायत्रीरूपायां पद्मकर्णिकायामित्यर्थः । हे शुभदर्शने !—गौरि ! ॥ कुमारः—क्रीडापरः ॥ मन्दारादिभिः आढ्याः कबरीकृताः केशाः सन्त्यस्येति तथा, मन्दारादिपुष्पैः कृतकेशविन्यासविशेषः कबरी ॥ हाराः—मुक्तास्रजः, स्वर्णस्रजश्च; ताभिरासक्ता या कम्बुग्रीवा, तया विराजितः; "रेखात्रयाश्रिता ग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते।" इति हलायुधः ॥ १११ ॥

भा०टी०-उस पद्मपुराणके उत्तर खंडमेंही-"इस सिंहासनके मध्यभागमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, कूर्म, नागराज, विनताके पुत्र वेदमय गरुड, समस्त छंद, और सर्व प्रकारके मंत्र पीठरूपसे विराजमान हैं । यही योगपीठ सर्वाधार और दिव्यरूपसे निर्दिष्ट हुआ है ॥ हे शुभदर्शन पार्वति ! उस योगपीठके मध्यमें नवीन उदयहुए सूर्यकी समान अष्टदल पद्म है-उस पद्ममें स्थित गायत्रीस्वरूपी कर्णिकामें, देवताओंके आराधना करनेके योग्य परम पुरुष नारायणजी, लक्ष्मीजीके साथ बैठे हैं ॥ वे इन्दीवरदलश्याम हैं; उनके अंगकी प्रभा कोटिसूर्यकी समान है । वे नित्य यौवनशाली और क्रीडापरायण हैं, उनका अंग चिकना और अवयव कोमल हैं ॥ उनके कोमल, करकमल और चरणकमल खिलेहुए लाल कमलकी समान हैं, दोनों नेत्र खिलेहुए कमलकी समान हैं, और भौंवें अत्यन्त रमणीक हैं ॥ उनकी नासा, उनके कपोल और उनका मुख इन तीनोंकी उपमा नहीं है, दशनपंक्ति अपनी कांतिसे मोतियोंको भी मातकर रही है और मुसकानयुक्त अधर व ओठ प्रवालकी समान हैं ॥ उनका मुसकानसहित मुखकमल पूर्णसुधाकर (चंद्रमा) की समान है, और कानतक लम्बमान दोनों कुंडल प्रभातकालीन सूर्यके तुल्य हैं ॥ उनके नीले और घुँघरारे काले बाल चमकीले हैं, और वह केशकलाप वेणीबद्ध होकर पारिजात और मन्दार कुसुमसे शोभायमान हो रहे हैं ॥ उनके कंठकी कौस्तुभमणि प्रातःकालके सूर्यकी समान और शंखकी समान गरदन मोतीके हार और सुवर्णकी मालासे अलंकृत है ॥ १११ ॥

सिंहस्कन्धनिभैः प्रोच्चैः पीनैरंसैर्विराजितः ।
पीनवृत्तायतभुजैश्चतुर्भिरुपशोभितः ॥
अंगुलीयैश्च कटकैः केयूरैरुपशोभितः ॥
बालार्ककोटिसङ्काशैः कौस्तुभाद्यैः सुभूषणैः ।
विराजितमहावक्षा वनमालाविभूषितः ॥
विधातुर्जननस्थाननाभिपङ्कजशोभितः ।
बालातपनिभश्लक्ष्णपीतवस्त्रसमन्वितः ॥
नानारत्नविचित्रांघ्रिकटकाभ्यां विराजितः ॥
सज्योत्स्नचन्द्रप्रतिमनखपंक्तिभिरावृतः ॥
कोटिकन्दर्पलावण्यः सौन्दर्यनिधिरच्युतः ।
दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गो वनमालाविभूषितः ॥

शंखचक्रगृहीताभ्यामुद्बाहुभ्यां विराजितः ।
वरदाभयहस्ताभ्यामितराभ्यां तथैव च ॥
वामाङ्कसंस्थिता देवी महालक्ष्मीर्महेश्वरी ।
हिरण्यवर्णा हरिणी सुवर्णरजतस्रजा ॥
सर्वलक्षणसम्पन्ना यौवनारम्भविग्रहा ।
रत्नकुण्डलसंयुक्ता नीलाकुंचितशीर्षजा ॥
दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गी दिव्यपुष्पोपशोभिता ।
मन्दारकेतकीजातीपुष्पाञ्चितसुकुन्तला ॥
सुभ्रूः सुनासा सुश्रोणी पीनोन्नतपयोधरा ।
परिपूर्णेन्दुसङ्काशसुस्मितानन पङ्कजा ॥
तरुणादित्यवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विराजिता ।
तप्तकांचनवर्णाभा तप्तकाञ्चनभूषणा ॥
हस्तैश्चतुर्भिः संयुक्ता कनकाम्बुजभूषिता ।
नानारत्नविचित्राढ्यकनकाम्बुजमालया ॥
हारकेयूरकटकैरङ्गुलीयैश्च भूषिता ॥
भुजयुग्मधृतोदग्रपद्मयुग्मविराजिता ।
गृहीतमातुलुंगाख्यजाम्बूनदकरांचिता ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—सिंहेति । अंसैः—स्कन्धैः॥कटकैः—चतुर्भिः कङ्कणैरित्यर्थः॥ क्विधातुर्जननस्थानेति—एतस्मात गर्भोदकशयस्य अद्वैतादित्यर्थः । बालातपेति—बालसूर्य्योपमेत्यर्थः॥उद्बाहुभ्याम्—ऊर्ध्वबाहुभ्याम् । इतराभ्याम्—अधोबाहुभ्याम् ॥ हरिणी—मनोहरा स्वर्णप्रतिमोपमत्वात्; "हरिणी हरितायाञ्च नारीभिद्वृत्तभेदयोः । सुवर्णप्रतिमायाञ्च" इति मेदिनी ॥ गृहीतं मातुलुङ्गाख्यं जाम्बूनदं येन तादृशेन करेणाञ्चिता, स्वर्णमयबीजपूरफलशोभितकरा इति लीलया तद्ग्रहणं; "फलपूरो बीजपूरो रुचके मातुलुङ्गके ।" इत्यमरः ॥ ११२ ॥

भा०टी०—उनके उठेहुए चार अंस. सिंहस्कन्धकी समान हैं, चारों भुजा पीन, सुवलित, व आयत हैं, वे अंगूठी, बाजूबन्द, और खण्डुओंसे सुशोभित हैं ॥ उनकी विशाल

छाती कोटि कोटि नवीन सूर्योंकी समान कौस्तुभमणि इत्यादि भूषण और वनमालासे विभूषित है ॥ विधाताके जन्मस्थान नाभिपंकजसे वह शोभायमान हो रहे हैं, और वह नवीन सूर्यकी समान स्निग्ध पीले वस्त्र पहिर रहे हैं ॥ उनके दोनों चरण अनेक रत्नखचित नूपुरोंसे विभूषित हैं और नखोंकी कांति चांदनीयुक्त चंद्रमाकी तुल्य है ॥ वे समस्त सुन्दरताईके निधि हैं, उनके शरीरका लावण्य, कोटिकामदेवका तिरस्कार करनेवाला है, अंगपर दिव्य चंदन छिड़काहुआ है, ऊपरकी दोनों भुजाओंमें शंख और चक्र विराजमान हैं और नीचेकी दोनों भुजा वर और अभयकी देनेवाली हैं ॥ सुवर्णकी प्रतिमाके समान सुवर्ण और चांदीकी मालासे अलंकृत अतितेजस्विनी महालक्ष्मीजी इन नारायणजीके वामाङ्गपर स्थित हैं ॥ यह सर्व लक्षणोंसे युक्त और नवयौवनवाली हैं । इनके दोनों श्रवण रत्नमय कुंडलोंसे अलंकृत हैं, केशकलाप काले और कुछेक कुंचित हैं ॥ इनके अंगोंमें दिव्य चंदन लगाहुआ है और दिव्य फूलोंसे सुशोभित है, और कुन्तलभार, मन्दार, केतकी और जाहीके फूलोंसे विराजमान है ॥ इनकी भौंवें, नासा, और श्रोणितट परम शोभायमान है, पयोधर पीन और ऊंचे हैं और मुसकानयुक्त मुखपंकज पूर्ण चंद्रमाकी समान है ॥ इनके कानोंमें जो कुण्डल हैं, वे तरुण सूर्यकी समान तेजस्वी हैं, अंगकी कान्ति तपायेहुए सुवर्णकी समान हैं और अंगके भूषणभी तप्तकांचनमय हैं ॥ इनके चार भुजा हैं और सुवर्णपद्म अनेक रत्नोंसे खचित सुवर्णपद्मकी माला, हार, केयूर, वलय, व अंगूठियोंसे विभूषित हैं ॥ इनकी ऊपरकी दो भुजाओंमें दो प्रफुल्ल कमल और दूसरे दो हाथोंमें सुवर्णमय बिजौर नींबू विराजमान हैं ॥ ११२ ॥

एवं नित्यानपायिन्या महालक्ष्म्या महेश्वरः ।
मोदते परमव्योम्नि शाश्वते सर्वदा प्रभुः ॥
पार्श्वयोरवनीलीले समासीने शुभानने ।
अष्टदिक्षु दलाग्रेषु विमलाद्याश्च शक्तयः ॥
विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगा तथैव च ॥
प्रह्वी सत्या तथेशाना महिष्यः परमात्मनः ॥
गृहीत्वा चामरान्दिव्यान्सुधाकरसमप्रभान् ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना मोदन्ते पतिमच्युतम् ॥
दिव्याप्सरोगणाः पंचशतसंख्याश्च योषितः ।
अन्तःपुरनिवासिन्यः सर्वाभरणभूषिताः ॥
पद्महस्ताश्च ताः सर्वाः कोटिवैश्वानरप्रभाः ।

सर्वलक्षणसम्पन्नाः शीतांशुसदृशाननाः ॥
ताभिः परिवृतो राजा शुशुभे परमः पुमान् ।
अनन्तविहगाधीशसेनान्याद्यैः सुरेश्वरैः ॥
अन्यैः परिजनैर्नित्यैर्मुक्तैश्च परिसंवृतः ।
मोदते रमया सार्द्धं भोगैश्वर्य्यैः परः पुमान् ॥ ११३ ॥" इति ।

टिप्पणी—एवमिति—वर्णितरूपयेत्यर्थः ॥ पार्श्वयोरिति । अवनी-लीले—भूदेवीलीलादेव्यौ लक्ष्म्याः सख्यौ, पार्श्वयोर्वर्त्तेते; लक्ष्मीस्तु वामाङ्के इति ज्ञेयम् ॥ मोदन्ते—मोदयन्तीत्यर्थः ॥ अनन्तः—शेषः, विहगाधीशः—गरुडः, सेनानीः—विष्वक्सेनः ॥ ११३ ॥

भा०टी०—इस प्रकारकी नित्य अनपायिनी महालक्ष्मीजीके साथ महामहेश्वर भगवान् नारायणजी, परव्योमनामवाले नित्य धाममें सर्वदा परमानंद अनुभव किया करते हैं ॥ हे वरानने गौरि ! उनकी अगल बगलमें भू, और लीला यह दोनों शक्तियें विराजमान हैं ॥ और पूर्वादि आठ दिशाओंमें स्थित योगपीठवाले पद्मके आठ दलोंके अग्रभागमें विमला उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या और ईशाना, सर्वसुलक्षणयुक्ता यह आठ शक्ति परमात्माकी भार्याके समान अवस्थान करके सुधाकरकी समान प्रभावाले दिव्य चमर धारण करके अपने पति अच्युत भगवान्के आनन्दको बढ़ारही हैं ॥ जिनके हाथमें नील कमल हैं, अंगकी प्रभा कोटि अग्निकी समान है, समस्त अवयव सब प्रकारके श्रेष्ठ लक्षणोंसे युक्त हैं, वदनमंडल चंद्रमाकी समान है, वह पांचसौ असाधारण अप्सराओंसे और अन्तःपुरमें रहनेवाली अन्यान्य सीमन्तिनियोंसे परिवृत होकर राजराजेश्वर परम पुरुष शोभाको प्राप्त हो रहे हैं ॥ और अनन्त, विहंगेश्वर गरुड़ और विष्वक्सेनादि सुरेश्वरगण अन्य परिजन, व नित्य महापुरुष गणोंसे परिवृत होकर, परमपुरुष हरि महालक्ष्मीजीके साथ भोग व ऐश्वर्यद्वारा परमानन्द अनुभव करते हैं" ॥ ११३ ॥ इति ।

अत्र कारिकाः ।—

अर्थतः शब्दतश्चात्र यत्पुनः पुनरुच्यते ।
तदसम्भाव्यवस्तुत्वात्प्रतीत्यै हेतुवादिनाम् ॥
श्रीशनिश्वासरूपाणां वेदानां तत्र मूर्त्तता ।
ततस्तदङ्गतो जाताः स्वेदाः परमपावनाः ॥
त्रिपाद्विभूतेर्धामत्वात्त्रिपाद्भूतं तु तत्पदम् ।

विभूतिर्मायिकी सर्वा प्रोक्ता पादात्मिका यतः ॥
अमृतं सुष्ठुमधुरं शाश्वतन्तु मुहुर्नवम् ।
शुद्धसत्त्वन्तु तत्प्रोक्तं सत्त्वमप्राकृतन्तु यत् ।
नित्याक्षरादिशब्दैस्तु षड्भावपरिवर्ज्जनम् ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—शास्त्रपदार्थान कारिकाभिः संकलयति, अर्थत इत्यादिभिः । शब्दार्थयोः पुनः पुनरुक्तिरस्ति, सा तु, हेतुवादिनां--तर्कपराणां, प्रतीत्यर्थत्वात् न दोषः, दुरूहोऽर्थः खलु असकृदुपदिष्टो हृदयमारोहतीति ॥ त्रिपाद्विभूतेरिति-एकपान्मायिकी विभूतिस्तत्र नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ११४ ॥

भा०टी०—इन श्लोकोंकी कारिका—शब्द वा मुख्यवृत्ति और अर्थ वा तात्पर्यवृत्तिसे एकही बात जो वारंवार कही जातीहै सो केवल हेतुवादियोंकी प्रतीतिके लिये । क्यों कि वर्णनीयवस्तु आपातदृष्टिमें असम्भवही समझी जातीहै ॥ लक्ष्मीपति नारायणजीके श्वासरूप वेदगण वैकुण्ठमें मूर्त्तिमान होकर विराजमान होरहे हैं इस कारण उनके अंगोंसे परमपवित्र स्वेदजल निकलरहाहै ॥ परव्योम, त्रिपाद्विभूति होनेके कारण वह पद या धाम त्रिपाद्वत है । क्योंकि सब प्रकारकी एकपाद् विभूति मायिक कहीजातीहै । अमृत—अतिशयमधुर । शाश्वत—वारंवार नवायमान । शुद्धसत्त्व—अप्राकृत सत्त्व । नित्य अक्षरादिपदद्वारा षड्विधभाव विकारका (जन्म, जन्मान्तरास्तित्व, वृद्धि, विपारिणाम,अपक्षय और नाशका) निषेध किया ॥ ११४ ॥

किञ्चानुत्थापितानामपि कारिकाः ।—
आद्यमावरणं दिक्षु पूर्वादिषु किलाष्टसु ।
व्यूहैर्लक्ष्म्यादिसहितैर्वासुदेवादिभिर्मतम् ॥
पुष्ट्यो लक्ष्म्याः सरस्वत्या रतेः कान्तेरनुक्रमात् ।
विदिक्षु परमव्योम्न आग्नेय्यादिषु कीर्त्तिताः ॥
केशवाद्यैरिह चतुर्विंशत्या तु द्वितीयकम् ।
अष्टासु किल काष्ठासु तेषां ज्ञेयं त्रयं त्रयम् ॥
दशभिर्मत्स्यकूर्म्माद्यैर्दशदिक्षु तृतीयकम् ॥
सत्याच्युतानन्तदुर्गाविष्वक्सेनगजाननैः ।

शंखपद्मनिधिभ्याञ्च तुर्य्यमष्टासु दिक्ष्विदम् ॥
ऋग्वेदादिचतुष्केण सावित्र्या गरुड़ेन च ।
तथा धर्म्ममखाभ्याञ्च पंचमं पूर्ववन्मतम् ॥
शंखचक्रगदापद्मखड्गशार्ङ्गहलैस्तथा ।
मुसलेन च षष्ठं स्यादिन्द्राद्यैःसप्तमंतथा ॥ ११५ ॥

टिप्पणी--पाद्मोत्तरखण्डे महावैकुण्ठस्य विस्तरेण वर्णनमस्ति, तत् संक्षेपेण दर्शयति, आद्यमित्यादिभिः । पूर्वादिषु दिक्षु वासुदेवादयश्चत्वारो व्यूहाः, आग्नेय्यादिषु विदिक्षु तु लक्ष्मी-सरस्वती-रति-कान्तयस्तत्रैतस्यो निवसन्तीति प्रथमावरणस्यावरकाः ॥ केशवाद्यैरिति–एकैकस्यां दिशि त्रयस्त्रयो निवसन्तीति पाद्मोत्तरखण्डादेव बोध्यम्, विस्तरभयान्नात्र लिखितम् ॥ तृतीयस्यावरणस्यावरकानाह, दशभिरिति । अत्र ब्राह्मदिशि कृष्णो यद्यप्यावरणत्वेनोक्तस्तथापि तद्दिशस्तदूर्ध्वत्वात् तद्वर्त्तिनस्तस्य पारम्यं वेदितव्यं, ग्रंथस्य तल्लोकपरत्वेन तत्पक्षपातित्वेऽपि वस्तुस्थितेरत्यागात् ॥ चतुर्थस्यावरणस्याह, सत्याच्युतेति । दुर्गा-गजाननावत्र नैव प्राकृतदेहौ, "न यत्र माया"-इत्युक्तेः, किन्तु चिद्विग्रहौ तत्पार्षदाविति ज्ञेयम् ॥ पञ्चमस्याह, ऋग्वेदादीति । अत्रैते मूर्त्ता ज्ञेयाः, "यत्र मूर्त्तिधराः कलाः" इत्युक्तेः। मखशब्देन क्रियाधिष्ठातृदेवता मूर्त्तैव ज्ञेया ॥ षष्ठस्याह, शंखेति । इन्द्राद्यैरष्टभिस्तु सप्तमं ज्ञेयम् ॥ ११५ ॥

भा०टी०–किंच अनुत्थापितश्लोकोंकी कारिका ।–परव्योमकी पूर्वादि आठ दिशाओंमें लक्ष्मीआदिके साथ वासुदेवादि चतुर्व्यूहद्वारा प्रथम आवरण है॥तिसमें पूर्वादि चार दिशाओंमें वासुदेवादि चतुर्व्यूहकी पुरी और आग्नेयादि चार कोणमें लक्ष्मी,सरस्वती, रति और कान्तिकी पुरी॥केशवादि चौवीस मूर्तियोंसे द्वितीय आवरण है पूर्वादि आठ दिशाओंकी एक २ दिशामें केशवादि तीन २ मूर्ति स्थित हैं ॥ पूर्वादि दश दिशामें स्थित मत्स्यकूर्मादि दश मूर्तिसे तीसरा आवरण

महावैकुण्ठके सत आवरण और ७४ आवरण देवता ।

---

१ केशवादि २४ मूर्तियें–केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, पुरुषोत्तम, अधोक्षज, नृसिंह अच्युत, जनार्दन, उपेन्द्र, हरि और कृष्ण । यहांपर समझना चाहिये कि कृष्ण यशोदानन्दनसे अलग है ॥ ११५ ॥

है ॥ पूर्वादि आठ दिशाओंमें स्थित सत्या, अच्युत, अनन्त, दुर्गा, विष्वक्सेन, गजानन, शंखनिधि और पद्मनिधिद्वारा चौथा आवरण है ॥ पूर्वादि आठ दिशाओंमें स्थित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, सावित्री, गरुड़, धर्म और यज्ञद्वारा पंचम आवरण है ॥ पूर्वादि आठदिशाओंमें स्थित शंख, चक्र, गदा, पद्म, खड्ग, शार्ङ्ग-हल और मुशलद्वारा छठा आवरण है ॥ और इंद्रादिद्वारा सातवा आवरण है ॥ ११५ ॥

"साध्या मरुद्गणाश्चैव विश्वेदेवास्तथैव च ।
नित्याः सर्वे परे धाम्नि ये चान्ये त्रिदिवौकसः ।
ते वै प्राकृतनाकेऽस्मिन्ननित्यास्त्रिदिवेश्वराः ॥ ११६ ॥"

टिप्पणी–ननु इन्द्रादयो देवताः प्रपञ्चलोकाङ्गभूताः ख्याताः, कथम् अप्रपञ्चलोकाङ्गतयोच्यते ? तत्राह, साध्या इत्यादि सार्द्धकं पाद्मोत्तरखण्डीयमेव (प० पु० उ० ख० २५६ । ६४-६५) ॥ प्रापञ्चिकदेवताप्रसाद्यास्तास्तन्निवासिन्य इति बोध्यम् ॥ ११६ ॥

भा०टी०–"परव्योममेंस्थित साध्यगण, मरुद्गण, विश्वेदेवगण, और दूसरे जो इंद्रादि[1] देवता हैं वे समस्तही नित्य अर्थात् अप्राकृत हैं ॥ और प्राकृत स्वर्गमें जो साध्यादि[2] देवगण हैं वे समस्तही प्राकृत हैं" ॥ ११६ ॥

वासुदेवादिमूर्त्तीनां सप्ततेस्तु चतुर्युजः ।
लोकास्तु तावत्संख्याकाः परे धाम्नि चकासति ॥ ११७ ॥

टिप्पणी–महावैकुण्ठावरणदेवतानां चतुःसप्ततिसंख्यानां वासुदेवादीनां स्थानानि तत्तद्दिक्षु दिव्यानि सन्तीत्याह, वासुदेवादीति । लोकाः–भुवनानि, "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः ॥ ११७ ॥

भा०टी०–परव्योममें वासुदेवादि चौहत्तर (७४) मूर्तिके परिमाणमें अर्थात् चतुराधिक–सप्ततिसंख्यक[3] लोक विद्यमान हैं ॥ ११७ ॥

---

१ इन्द्रादि–इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान ॥ ११५ ॥

२ प्राकृतस्वर्गस्थित साध्य, मरुत्आदि देवगण, परव्योमस्थित साध्यादिके आविष्ट जीवविशेष हैं ॥ ११६ ॥

३ प्रथम आवरणमें वासुदेवादि चार, और लक्ष्म्यादि चार, यह आठ, दूसरे आवरणमें केशवादि चौबीस; तीसरे आवरणमें मत्स्यादि दश; चौथे आवरणमें सत्यादि अष्ट; पंचम आवरणमें ऋग्वेदादि अष्ट; छठे आवरणमें शंखादि अष्ट, सातवें आवरणमें इन्द्रादि आठ, समस्तसमुदाय ७४ हुए । ८+२४+१०+८+८+८+८=७४ ॥ ११७ ॥

त्रिषु पुंसोवतारेषु रुद्रात्पद्मभवात् तथा ।
भृग्वादिकृतनिर्द्धाराद्विष्णुरेव महत्तमः ॥
किं पुनः पुरुषस्तत्र वासुदेवोऽत्र किन्तराम् ।
तत्रापि किन्तमां सोऽयं महावैकुण्ठनायकः ॥
सदाशिवाख्यो यः शम्भुः स चैशान्यावृतिर्मता ॥ ११८ ॥

टिप्पणी—ननु महावैकुण्ठनाथस्य विष्णोरिदं पारम्यनिरूपणं श्रद्धाजाड्यकृतमेव, "एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुशिवात्मकाः ।" इत्यादिस्मृतिभिर्ब्रह्मशिवयोश्च तल्लाभात् ? इति त्रिदेव्यैकवादिभिराक्षिप्ते प्राह, त्रिष्विति । पुंसः–गर्भोदकशायस्य, त्रिषु, ब्रह्म-विष्णु-शिवेषु, अवतारेषु मध्ये, रुद्रात् पद्मभवाच्च सकाशात् विष्णुरेव महत्तमः, न रुद्रः । नच पद्मभवः । कुतः ? इत्याह, भृग्वादीति । कथा तु श्रीदशमे त्रिदेवीपरीक्षायां (भा० १० । ८९) द्रष्टव्या । एवञ्चेत तेषां त्रयाणामवतारी पुरुषो गर्भोदकशायः कारणोदकशायश्च महत्तम इति किं वाच्यं, ततो वासुदेवस्तथेति किन्तरां, ततो महावैकुण्ठनायको व्यूही पराख्यस्तथेति किन्तमां वाच्यमित्यर्थः । तथा च सर्वेषामंशी स्वयंरूपोऽयमिति निष्कर्षः ॥ ननु महाशैवैः स्वनिर्णये सदाशिवो मूलं तत्त्वं पठ्यते,उदाह्रियते च लिङ्गपुराणवाक्यं "सदाशिवः कारणकारणं परं तस्माच्च सर्वे प्रभवन्ति देवाः ।" इत्यादि, तथा सति कथमस्य स्वयंरूपत्वं ? तत्राह, सदेति । तस्य तल्लोकैशान्यदिगावरणदेवतात्वेन कीर्त्तनात् ततोऽस्य श्रैष्ठ्यमसन्देहमित्यर्थः । इदमत्र बोध्यं–ब्रह्मसंहितोक्तः सदाशिवः कृष्णविलासो नारायणः, लिङ्गोक्तस्तु तदावरणस्थतत्स्वांश इति ॥ ११८ ॥

भा०टी०--गर्भोदशायीके ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन अवतारोंमें विष्णुजीकाही महत्त्व है. भृग्वादि ऋषिगणोंके द्वारा निर्द्धारित हुआ है । उसमें पुरुष (गर्भोदशायी

---

१ सरस्वतीके किनारे सत्रयागके लिये स्थित ऋषियोंमें तर्क हुआ कि "ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन तीनोंमें कौन देवता बड़ा है?" सब ऋषियोंने इसका विचार करनेके लिये महर्षिभृगुको प्रेरण किया । प्रथम इन्होंने ब्रह्माजीकी सभामें जाकर उनको प्रणामादि कुछ न किया, इससे ब्रह्माजी क्रोधित हुए,फिर पुत्र समझकर क्रोधाग्नि शान्ति की और क्षमाकिया । ब्रह्माजीमें सतोगुणका अभाव देखकर महर्षि कैलासमें गये । महादेवजी इनको भ्राता समझकर भेटनेके लिये उठे तब भृगुजी बोले कि "तुम दुराचारी हो तुमसे भेट नहीं करना चाहता।"यह सुनते महादेवजीनें क्रोधमें भरकर–

और कारणार्णवशायी) जो महत्तम हैं, सो और क्या कहें । वासुदेव इनमेंभी महत्तम हैं सो और कितना कहें । और यह कहांतक कहैं कि महावैकुण्ठनाथ इससेभी महान् हैं ॥ सदाशिवनामसे विख्यात जो शम्भु हैं वह भी इन महावैकुण्ठनाथके ईशानकोणके आवरण हैं ॥ ११८ ॥

अतो ब्रुवेऽनयोः प्रायो वैलक्षण्यं द्वयोर्न हि ।
दीपोत्थदीपतुल्यत्वात्स्याद्विलासविलासिनोः ॥ ११९ ॥

टिप्पणी-एवं महावैकुण्ठनाथं साङ्गं निरूप्य तदुपासको विवक्षितं स्फुटयति,अत इति । कृष्णस्य स्वयं भगवत्त्वे प्रमाणलाभात् नारायणस्यानादिसिद्धमहैश्वर्य्यविशिष्टस्वरूपतायां प्रमाणप्रचयाच्चानयोः कृष्णनारायणयोः प्रायो वैलक्षण्यं मत्स्यादिनारायणयोरिव नास्त्येव, किन्तु पूर्वोत्तरयोर्दीपयोरिव सालक्षण्यमस्तीति पूर्वदीप इव नारायणः स्वयं, कृष्णस्तु तद्दीपोत्थदीप इव तत्तुल्यस्तद्विलास इति ॥ ११९ ॥

भा०टी०-इन समस्त प्रमाणोंसे कहाजाता है कि श्रीकृष्णजी, नारायणके विलास हैं। अतएव दीपोत्पन्न दीपकी समान विलास (श्रीकृष्ण) और विलासीका (नारायणजीका) बहुधा वैलक्षण्य नहीं देखा जाता ॥ ११९ ॥

मैवं वादीर्महावादिन् ! अधुना त्वमपेशलः ।
गहनैश्वर्य्यविज्ञानरसास्वादनयोरसि ॥

-भृगुके मारनेंको त्रिशूल उठाया, तब देवी पार्वतीजीनें चरण पकड़कर उनको समझाया । यहांसेभी भृगुजी निराश होकर वैकुण्ठमें गये । वहाँ बहिर्भवनमें नारायणजीको न देखकर भीतर गये, तहां लक्ष्मीजीके साथ नारायणजीको शयनकिये देख उनकी छातीमें लात मारी । भगवानजीनें तत्काल लक्ष्मीजीके साथ उठकर ऋषिका आदरसन्मान किया और क्षमा प्रार्थना करके विनीतभावसे बोले;- "भगवन् ! आज में तुम्हारी चरणरेणुको स्पर्शकरके परम पवित्र हो लक्ष्मीकी आवासभूमि हुआ । मेरी कठिन छातीके आघातसे कहीं आपके चरणमें पीड़ा तो नहीं होतीहै ? " भगवान्के ऐसे मधुर वचन सुन ऋषि वहांसे आंसूभरकर विदा हुए तथा मुनियोंके समक्ष समस्त वृत्तान्त कहा । ऋषिलोगोंने ब्रह्मा और शिवजीमें, रजस्तमोगुणजनित प्रबल क्रोध और भगवानमें उसके बदले शुद्ध सत्त्वका आविष्कार अनुभवकरके मुक्तसंशय और विस्मित हो विष्णुजीमेंही सबसे अधिक विश्वास स्थापन किया ॥ ११८ ॥

१ यहां श्रीनारायणजीकी स्वयंरूपतावाद। का अभिप्राय यह है कि श्रीनारायणजी तो मूलदीपके स्थानमें है, और श्रीकृष्णजी तदुत्थदीपस्थानीय हैं ॥ ११९-१२१ ॥

सर्ववेदान्ततः सारं वेदकल्पतरोः फलम् ।
श्रीभागवतमेवात्र प्रमाणं सर्वतो वरम् ॥ १२० ॥

टिप्पणी—परिहरति, मैवमिति । हे महावादिन् ! अव्यक्तार्थकबहुवाक्यालापिन्नित्यर्थः, एवं, मा वादीः—न ब्रूहीत्यर्थः । यस्त्वमधुना कृष्णस्य गूढनैश्वर्य्यविज्ञान-रसा-स्वादनयोः, अपेशलः—अनिपुणः, "पेशलो रुचिरे दक्षे" इति मेदिनी ॥ ननु त्वं केन प्रमाणेन कृष्णस्य स्वयंरूपस्य तद्द्वयं प्रतिपादयसीति चेत् ? तत्राह, सर्वेति—"सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते । तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥" (भा० १२ । १३ । १५) इति श्रीभागवतात्; येन श्रीबादरायणस्य हृत्तापो निवृत्त इति वर्ण्यते ॥ १२० ॥

भा०टी०—पूर्वोक्त शंकाको परिहार करके कहते हैं—हेमहावादिन् ! तुम यह बात नहीं कहसकते। कारण कि तुम अब भी श्रीकृष्णजीके गूढ़—ऐश्वर्य—विज्ञान और रसास्वादन विषयमें अनिपुण हो ॥ क्योंकि सर्व वेदान्तका सार और वेदकल्पतरुका फलस्वरूप श्रीमद्भागवतही इस विषयमें सबसे प्रधान प्रमाण है ॥ १२० ॥

श्रीकृष्ण नारायणके विलास हैं । इस पूर्वोक्त पूर्वपक्षका उत्तरपक्ष

तथाहि श्रीतृतीये (भा० ३ । २ । २१)—
"स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीडितपादपीठः ॥" इति ।

अत्र कारिकाः ।—
विद्येते नान्यसाम्यातिशयौ यत्रेति विग्रहे ।
सर्वेभ्यस्तत्स्वरूपेभ्यः कृष्णोत्कर्षनिरूपणात् ।
आधिक्यं परमव्योमनाथादप्यस्य दर्शितम् ॥
स्वयंपदेन चास्यान्यनैरपेक्ष्यमुदीरितम् ॥ १२१ ॥

टिप्पणी—एवं पूर्वपक्षे प्राप्ते निरपेक्षस्वस्वरूपश्रुतिवाक्येन, श्रीकर्तृककृष्णस्पृहया, सर्वातिशायिकृष्णनाममहिमरूपलिङ्गेन च श्रीनाथादपि कृष्णरूपस्याधिक्यं वक्तुं प्रवर्त्तते । अत्र श्रुतिरूपं श्रीभागवतीयमुद्धववाक्यमाह । उद्धवो हि ज्ञानिवर्य्यः, "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः । अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥"

(भा० ३ । ४ । ३१) इति भगवद्वाक्यात् । ततस्तद्वाक्यस्य प्रमाणकत्वमसन्देहम् । तदेवं तद्वाक्यार्थः—तुरवधारणे, कृष्णः स्वयमेव, 'स्वयं दासास्तपस्विनः' इतिवत् अन्यानपेक्षस्वरूपैश्वर्य इत्यर्थः । अतः असाम्यातिशयः—परमव्योमाधीशपर्य्यन्ततत्स्वरूपैः साम्यं तौल्यं, तेषामतिशयश्च कृष्णस्वरूपादाधिक्यं, तदुभयं यत्र नेत्यर्थः । त्रयाणां गोकुलादीनां धाम्नां परमव्योमोर्ध्ववर्तिनाम्, अधीशः—स्वामी । स्वाराज्यरूपया, लक्ष्म्या—अतिसम्पदा, आप्ताः समस्ताः, कामाः—दिव्यरसगन्धादयो भोग्याः, यम्, इति स्वान्यानपेक्षमहैश्वर्य्य इत्यर्थः; स्वाराज्यश्च—पूर्णगुणेन स्वरूपेण स्वात्मभूतया शक्त्या वा पराख्यया राजनम् । बलिं हरद्भिः—आज्ञावहैः, चिरलोकपालैः—एतज्जगदण्डाधिकारिविरिञ्च्याद्यपेक्षया चिरकालवर्त्तिभिरधिकैश्वर्य्यैर्विरिञ्च्याद्यैः कर्त्तृभिः, स्वकिरीटकोटिभिः करणैः ईडितपादपीठ इति स्वयंरूपत्वं निर्णीतम् ॥ कारिकाभिः पद्यार्थं विस्तृणाति, विद्येते इत्यादिना । अन्यसाम्येति—मुक्तप्रग्रहन्यायात् अन्यशब्देन परमव्योमनाथपर्य्यन्तं धावनं, "गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु । ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥" (ब्र०सं० ५ । ४३) इति ब्रह्मवाक्याच्च ॥ १२१ ॥

भा०टी०—तथाहि तीसरे स्कन्धमें—"जिसकी समान और जिससे अधिक कोई नहीं है, जो त्र्यधीश, अर्थात् परव्योमके उपरिस्थित गोलोक, मथुरा, और द्वारिकाके अधिपति हैं, स्वरूपभूत परमानन्द शक्तिके प्रभावसे समस्त काम (अभीष्टसिद्धि) जिनमें उपगत हैं, चिरकालजीवी ब्रह्मादि लोकपालगण कोटि कोटि मुकुटद्वारा जिनके पादपीठकी स्तुति करते हैं, वहीं ब्रह्मादिलोकपालगण अपने अपने कार्यमें स्थित हो जिनका आज्ञापालनरूप बलि हरण करते हैं, वह श्रीकृष्णजीही स्वयं भगवान् हैं अर्थात् और किसीकी अपेक्षा करके उनका स्वरूप और ऐश्वर्य प्रकाशित नहीं हुआ ॥" इति । इस श्लोककी कारिका;—अन्य अर्थात् परव्योमनाथपर्यन्तके सहित उनका अतिशय अर्थात् कृष्णस्वरूपकी अपेक्षा आधिक्य, यह दो जिनमें नहीं हैं; इस प्रकार समासद्वारा समस्त भगवत्स्वरूपसे, श्रीकृष्णजीका उत्कर्ष निरूपण करनेके हेतु, परव्योमनाथकी अपेक्षा भी श्रीकृष्णजीकी अधिकाई दिखाई गई ॥ 'स्वयं' पदसे श्रीकृष्णजीका अन्यनिरपेक्षत्व अर्थात् अन्यको अपेक्षाकरके श्रीकृष्णजीके स्वरूपादि प्रकाशित नहीं हुए, यही कहा गया ॥ १२१ ॥

रामोऽप्यधिकसाम्याभ्यां मुक्तधामेत्यवादि यत् ।
तत्र स्वयंपदाभावात्कृष्णेनैक्येन तस्य तत् ।
नरलीलादिसाधर्म्यात्प्रेष्ठं रूपं तदस्य यत् ॥
तथाहि ब्रह्माण्डे श्रीकृष्णवाक्यम्–
"अंतरङ्गस्वरूपा मे मत्स्यकूर्म्मादयस्त्वमी ।
सर्वात्मनायमत्रापि श्रीमद्दशरथात्मजः ॥ १२२ ॥" इति ।

टिप्पणी–ननु नवमे "अधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः" (भा० ९।११।२०) इति रामस्य विशेषणात् तस्य स्वयंरूपत्वं स्यादिति चेत् ? तत्राह, रामोपीति । तस्य स्वयंरूपत्वं न वाच्यं, तत्र–श्रीभागवतवाक्ये नवमस्थे, स्वयंपदाभावादित्यर्थः । तर्हि "अधिकसाम्यविमुक्त" इति कथं सङ्गतिमदिति चेत् ? तत्राह, रामोऽपीति । कृष्णैक्येन तदभिधानान्नातिव्याप्तिः । यत्तु श्रीरामायणेऽपि "आदिकर्त्ता स्वयं प्रभुः" (वा० रा० यु० का० ११९ । ७ ।) इति रामं प्रति ब्रह्मवाक्यं, तदपि तेनैक्यादिति गृहाण । रामस्य कृष्णैक्ये को हेतुरिति चेत् ? तत्राह, नरलीलेति । आदिशब्दात् आकारैक्यं स्वभावैक्यश्च ग्राह्यम् ॥ कृष्णैक्ये प्रमाणम्, अन्तरङ्गेति । सर्वात्मनेति–लीलादिसाम्येनापीत्यर्थः ॥ १२२ ॥

भा०टी०–नवममें श्रीरामचंद्रजीके "अधिकसाम्यविमुक्तधामा" यह विशेषण जो लिखा है, उस स्थानमें "स्वयं" इस पदके प्रयुक्त न होनेसे समझना होगा कि कृष्णजीके साथ श्रीरामचंद्रजीकी एकता होनेसेही उक्त विशेषणका प्रयोग हुआ है । कारण कि श्रीकृष्ण, और श्रीरामचंद्रजीके मध्यमें नरलीला, नराकार और नरस्वभावका साम्य है, इसही कारणसे श्रीरामरूप श्रीकृष्णजीको अतिशय प्यारा है ॥ तथाहि ब्रह्माण्डपुराणमें श्रीकृष्णवाक्य–"मत्स्यकूर्मादि अवतार हमारे अन्तरङ्गस्वरूप हैं, परन्तु इनमें फिर दशरथकुमार श्रीरामचंद्रजी हमारे अत्यन्त प्यारे हैं" ॥ १२२ ॥ इति ।

'स्वयन्त्वसाम्यातिशयः' 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' ।
इत्यस्य परमैश्वर्य्यविशेषस्यानुवर्णनं ।

---

१ पहिलेही कहा गया कि श्रीकृष्णजीके साथ श्रीरामचन्द्रजीकी एकता है । इस एकताका क्या कारण है ? इस आकांक्षामें कहा 'कारण कि' इत्यादि ॥ १२२–१२५ ॥

पदस्य स्वयमित्यस्य द्विरुक्तिर्बोधयत्यसौ ।
कृष्णस्यान्यस्वरूपैक्याद्वाधिक्यं नेति सर्वथा ॥ १२३ ॥

टिप्पणी—स्वयंपदाभ्यासाल्लिङ्गादपि कृष्णस्य स्वयंरूपत्वे श्रीभागवतस्य तात्पर्य्यमित्याह, स्वयन्त्वसाम्येत्यादि । पदाभ्यासश्च एकं तात्पर्य्यलिङ्गम्, "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये ॥" (बृहत्संहितायां) इति स्मरणात् । प्रथमे "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति, तृतीये "स्वयन्तु" (भा० ३ । २ । २१) इति, नवमे "अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल ।" (भा० ० ९ । २४ । ५५) इति स्वयंपदं तत्राभ्यस्यते, तस्मात् तस्यैव तत्त्वमित्यर्थः । एवं द्विरुक्तिरित्यत्र त्रिरुक्तिरिति बोध्यम् । सा त्रिरुक्तिः, अन्येन—महावैकुण्ठनायकेन, साधर्म्म्यैक्यात् कृष्णस्य, आधिक्यं—स्वयंरूपत्वलक्षणं, सर्वथा नेति बोधयति, किन्त्वन्यानपेक्षताद्दृशत्वमेव बोधयतीत्यर्थः ॥ १२३ ॥

भा०टी०—"स्वयन्त्वसाम्यातिशयः" "कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्" इन दो श्लोकोंमें श्रीकृष्णजीके परमैश्वर्य—विशेषवर्णनमें "स्वयं" पदकी दोवार उक्ति, सर्व प्रकारसे यही समझाती है कि श्रीकृष्णजीकी जो अधिकाई है, वह अन्य अर्थात् परव्योमनाथके सहित साधर्म्यका ऐक्यनिबन्धन है, सो ऐसा नहीं; उनकी अधिकाई अन्यनिरपेक्ष अर्थात् स्वतःसिद्ध है ॥ १२३ ॥

अधीश इति गोलोकमथुराद्वारकाभिधम् ।
यत्पदत्रितयं तस्य सोऽधिपत्वादधीश्वरः ॥
प्रकृतीशविराडन्तर्यामिक्षीराब्धिशायिनाम् ।
त्रयाणामुपरीशोऽयं त्र्यधीश इति वा स्मृतः ॥
स्वाराज्यलक्ष्म्या तत्रापि प्राप्तसर्वसमीहितः ।
स्वेनात्मना स्वया वात्मभूतया शक्तिवर्य्यया ।
राजतीति स्वराट्तस्य भावः स्वाराज्यमुच्यते ॥
तदेव लक्ष्मीः सर्वातिशायिनी सम्पदेतया ।
आप्ताः समस्ताः कामा यं कामाः प्रेष्ठार्थसिद्धयः ॥

१ "साधर्म्म्यैक्यात्" इत्यत्र "सार्द्धमैक्यात्" इति पाठान्तरम् ।

चिरेति तु चिरायुष्का लोकपाः पद्मजादयः ।
तेषां किरीटकोटीभिर्मुकुटानां शतार्बुदैः ॥
ईडिते संस्तुते पादपीठे यस्येति विग्रहः ॥
हीरादिरत्नमुकुटैः पादपीठाभिघट्टनात् ।
जनितेन स्वनौघेन गाढमुत्प्रेक्षिता स्तुतिः ॥
स्वस्वकर्म्मण्यवस्थित्या तैस्तैर्ब्रह्मादिलोकपैः ।
आज्ञापालनमेवास्य बलेर्हरणमुच्यते ॥ १२४ ॥

टिप्पणी—स्वयात्वेति—परारव्यस्वरूपशक्त्येत्यर्थः ॥ पादपीठे पादुके ॥ १२४ ॥

भा०टी०—त्र्यधीश,—गोलोक, मथुरा और द्वारकानामक जो तीन स्थान हैं, वह उनके अधिप अर्थात् अधीश्वर हैं; अथवा प्रकृतिके नियन्ता, विराट्के अन्तर्यामी, और क्षीरोदशायी, इन तीन पुरुषके उपरिस्थ ईश्वर होनेसे यह 'त्र्यधीश' हैं ॥ तो भी स्वाराज्य-लक्ष्मीके निबन्धनसे समस्त काम जिनको प्राप्त हुए हैं । स्वद्वारा—आत्मद्वारा अथवा आत्म-भूत शक्तिद्वारा, जो प्रकाश पाते हैं, वह 'स्वराट्' हैं, उनका भाव (धर्म) स्वाराज्य है । वह स्वाराज्यही,लक्ष्मी—सर्वातिशायिनी सम्पत्ति है; तिसकरके समस्त काम, जिसको प्राप्त हुएहैं । काम—प्रयोजनकी वा अभीष्टार्थकी सिद्धि ॥ चिर—चिरजीवी (दीर्घजीवी),लोकपाल—ब्रह्मादि; उनकी, किरीटकोटि—मुकुटका शतार्बुद । ईड़ित—संस्तुत । अर्थात् ब्रह्मादि दीर्घजीवी लोकपालगणोंके असंख्य मुकुटद्वारा जिनके दोनों पादपीठ (दोपादुका) भलीभांतिसे स्तुत हुआ करते हैं ॥ हीरकादिरत्नमय मुकुटद्वारा पादपीठके संघट्टनजनित शब्दपरम्पराको 'स्तुति' कहकर उत्प्रेक्षित किया है । अपने २ कार्य स्थित हो उन ब्रह्मादिलोकपालगणोंकरके भगवान्की आज्ञाका पालन ही बलिहरणरूपसे कहा गया है॥१२४॥

अथात्र प्रक्रिया ख्याता पौराण्येषा विलिख्यते ॥
ब्रह्माण्डानामनन्तानां प्रायो नानाविधात्मनाम् ।
वृन्दानि भगवच्छक्तौ विचित्राणि चकासति ॥
शतकोटिप्रमाणानि योजनानान्तु कानिचित् ।
अजाण्डानि विराजन्ते शक्तिवैचित्र्यतो हरेः ॥
कानिचिच्च निखर्वेण तेषां पद्मायुतेन च ।
तत्परार्द्धशतेनापि विस्तृतानि तु कानिचित् ॥
मध्ये तेषामजाण्डेषु केषुचिद्विंशतिः कृता ।

भुवनानाञ्च पंचाशत्कुत्रचित्सप्ततिस्तथा ।
शतं सहस्रमयुतं लक्षं क्वचन राजति ॥
ब्रह्माद्या लोकपास्तेषु नानारूपाश्चकासति ।
परमर्द्धिसहस्रेण सेव्यमानाः समन्ततः ॥
क्वचिदिन्द्रादयस्तेषु महाकल्पशतायुषः ।
महाकल्पपरार्द्धायुर्भाजो ब्रह्मादयस्तथा ॥
ते ते ब्रह्मसुरेशाद्याः कथिताश्चिरलोकपाः ।
स्तुतांघ्रिपीठः कृष्णोऽयं तेषां मुकुटकोटिभिः ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—ब्रह्माण्डानामनन्तानामिति । अत्र वैष्णववाक्यम् "अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च । ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च ॥" (वि० पु० २ । ७ । २७) इति; श्रीभागवते च "द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।" (भा० १० । ८७ । ४१) इति, "सृजतोण्डानि कोटिशः" (भा० ११ । १६ । ३९) इति च । एवञ्चैकब्रह्माण्डवादिनो मायिनो निरस्ताः ॥ मध्ये तेषामिति—एतस्मिन् चतुर्म्मुखब्रह्माण्डे चतुर्दशैव भुवनानि, तेषु तु क्वचित् विंशतिर्भुवनानि, क्वचित् ततोऽप्यधिकानि, कुत्रचित् ततोऽप्यधिकानीति ॥ १२५ ॥

भा०टी०—अनन्तर वर्त्तमान प्रकरणमें इस विख्यात पौराणिकी प्रक्रियाको लिखते हैं।—

अनन्तब्रह्माण्ड । तिनमें कितने एक ब्रह्माण्डोंका परिमाण । ब्रह्माण्डमध्यवर्ती भुवनसंख्या । ब्रह्माण्डमध्यवर्ति लोकपालगण ।

बहुधा अनेक प्रकारके और विचित्र अनन्त ब्रह्माण्डवृन्द भगवच्छक्तिमें प्रकाशमान हैं तिनमें श्रीहरिकी विचित्रताके होनेसे कितने एक ब्रह्माण्डोंका विस्तार शतकोटियोजन है. ॥ कितनोंका निखर्व योजन है कितनोंका पद्मायुत योजन है और कितनोंका परार्द्धशतयोजन है ॥ तिनमें कितने एक ब्रह्माण्डोंमें बीस, कितने एक ब्रह्माण्डोंमें पचास किसी ब्रह्माण्डमें सत्तर किसी ब्रह्माण्डमें सौ, किसी ब्रह्माण्डमें सहस्र, किसी ब्रह्माण्डमें अयुत और किसी ब्रह्माण्डमें लक्ष भुवन हैं ॥ उन समस्त ब्रह्माण्डवर्गमें ब्रह्मादि लोकपालगण अनेकरूपसे विराजमान हैं । सहस्र सहस्र परम ऋद्धिगण, सर्व प्रकारसे उनकी सेवा कियाकरते हैं । किसी किसी २ ब्रह्माण्डमें इन्द्रादि लोकपालगण शतमहाकल्पजीवी और ब्रह्मादिलोकपालगण परार्द्धमहाकल्पजीवी हैं ॥ ये ब्रह्मइन्द्रादि लोकपाल गण 'चिरलोकपाल' कहेजाते हैं । उनके कोटि कोटि मुकुट करके इन श्रीकृष्णजीकी पादुका स्तुत हुआ करती हैं ॥ १२५ ॥

एकदा द्वारकापुर्य्यां सुधर्मायां मुरान्तके ।
विराजति तमागत्य द्वाराध्यक्षो न्यवेदयत् ॥
दिदृक्षुर्देव ! पादाब्जं ब्रह्मा द्वारेऽवतिष्ठते ।
आगतः कतमो ब्रह्मा द्वारीति परिपृच्छ तम् ॥
इत्यच्युतगिरं शृण्वन्नेत्य द्वाराधिपः पुनः ।
पृष्ट्वा ब्रह्माणमागत्य कृष्णाग्रे च तमब्रवीत् ॥
आगतः सनकादीनां जनकश्चतुराननः ।
आनयेति हरेर्वाचा तेन ब्रह्मा प्रवेशितः ॥
प्रणमन्दण्डवत्पृष्टः कृष्णेन किमिहागतः ।
त्वमिति प्राह तं ब्रह्मा देवागमनकारणम् ॥
वक्ष्ये पश्चाद्यदात्थाद्य ब्रह्मा कतम इत्यदः ।
ज्ञातुमिच्छामि तन्नाथ ! ब्रह्मा नान्योऽस्ति मद्यतः ॥
अथ स्मित्वा मुकुन्देन द्वारवत्यां द्रुतं तदा ।
स्मृता ब्रह्माण्डकोटिभ्यो लोकपालाः समागताः ॥
अष्टवक्त्राश्चतुःषष्टिवक्त्राः शतमुखास्तथा ।
सहस्रवक्त्रा लक्षास्याः कोटिवक्त्रा विरिञ्चयः ॥
रुद्राश्च विंशतिमुखास्तथा पंचाशदाननाः ।
शतवक्त्राः सहस्रास्या लक्षबाहुशिरोभृतः ॥
पुरन्दराश्च लक्षाक्षा नियुताक्षास्तथापरे ।
अपरे लोकपालाश्च विविधाकृतिभूषणाः ॥
कृष्णस्य पुरतःप्राप्ताःपादपीठमवानमन् ।
तान्दृष्ट्वा विस्मयात्तस्मिन्नुन्ममाद चतुर्म्मुखः ॥

किञ्च—

विष्णुधर्म्मोत्तरे प्रोक्तं सर्वे ब्रह्माण्डमण्डलाः ।
देशतो जीवतश्चापि तुल्यरूपा भवन्त्यमी ॥

तथाहि-

"एकरूपास्तथैवाण्डाः सर्वे एव न वेश्वर ! ।
तुल्यदेशविभागाश्च तुल्यजन्तव एव च ॥" इति ।
विरोधेऽत्र समुत्पन्ने समाधानं विधीयते ॥
यतः श्रीकौर्म्मे-
"विरोधो वाक्ययोर्यत्र नाप्रामाण्यं तदिष्यते ।
यथाविरुद्धता च स्यात्तथार्थः कल्प्यते तयोः ॥१२६॥" इति ।

टिप्पणी-न चैषा प्रक्रिया "एष वन्ध्यासुतो भाति" (अलंकार-कौस्तुभ) इतिवत् वाच्यहीना, अपि तु 'उदयति भानुः' इत्यादिवत् सवाच्येति भावनाह, एकदेत्यादिना ॥ किश्चेति-एतद्भिन्नार्था प्रक्रियारभ्यत इत्यर्थः, "किश्चारम्भेऽपि साकल्ये" इति श्रीधरः । देशत इति । तुल्यदेशास्तुल्यायुष्कविरिञ्च्यादिजीवाः सर्वेऽपीत्यर्थः ॥ विरोधो वाक्ययोर्यत्रेति-यथा उदितानुदितहोमाभिधायिनोर्वाक्ययोः श्रुतित्वाविशेषात् नाप्रामाण्यं, तथा समविषमब्रह्माण्डाभिधायिनोर्वाक्ययोः सर्वज्ञमुनिभाषितत्वाविशेषात् न तदित्यर्थः । यद्यपि वाक्यद्वयान्मतद्वयमभिमतं, तथापि चिरायुष्कत्वमंशं केचित् न सहन्ते, प्राकृते प्रलये कार्य्यमात्रस्य नाशाभिधानेन तदंशस्यासम्भवत्वात् । तस्मादीश्वरमहिमातिशयबोधनमात्रेणोपक्षीणःसः॥ १२६॥

भा०टी०-एक समय श्रीकृष्णजी द्वारकापुरीकी सुधर्मा सभामें विराजमान हैं, कि इतनेहीमें द्वारपालने आकर निवेदन किया कि, हे प्रभो ! आपके चरणकमलोंके दर्शन करनेकी अभिलाषासे ब्रह्माजी द्वारपर खड़े हैं, 'उनसे पूछो कि कौनसे ब्रह्मा द्वारपर आये हैं,' भगवान्‌के इस वचनको सुनतेही द्वारपाल द्वारपर आय ब्रह्माजीसे पूछकर फिर श्रीकृष्णजीके आगे खड़ा हो कहने लगा, 'सनकादिके जो पिता हैं, वे चतुरानन आये हैं' ॥

(चतुर्म्मुख ब्रह्माके सम्बन्धमें एक अपूर्व पौराणिक आख्यायिकाका स्थूलमर्म ।)

'ले आओ।' श्रीकृष्णजीके यह वचन सुनकर द्वारपाल ब्रह्माजीको सभामें ले आया ! ब्रह्माजीके दंडवत् प्रणाम करनेपर श्रीकृष्णजीने पूछा, 'तुम किस कारणसे यहां आये हो ?' ब्रह्माजीने उनसे कहा कि 'देव ! आनेका कारण तो पीछे निवेदन करूंगा । परन्तु नाथ ! अभी जो आपने कहा कि 'कौनसे ब्रह्मा' पहिले वही रहस्य जानना चाहताहूं, कारण कि, मेरे अतिरिक्त और कोई ब्रह्मा नहीं हैं' ॥ अनन्तर श्रीकृष्णजीने कुछ हसकर

समस्त लाकपालोंका स्मरण किया, तत्काल—कोटि २ ब्रह्माण्डोंसे लोकपालगण द्रुत वेगसे द्वारकामें आनेलगे। तिनमें आठमुख, चोंसठमुख, शतमुख, सहस्रानन, लक्षवदन और कोटिमुखवाले ब्रह्मा; वीसवदन, पंचाशदानन, शतमुख, सहस्रमुख, लक्षबाहु और लक्षशिरवाले रुद्रगण; लक्षलोचन और नियुतनयनवाले इन्द्रगण और विविध आकारवाले व विविध भूषण पहिर और भी अनेक लोकपालगण श्रीकृष्णजीके आगे आय उनके पादपीठमें प्रणत हुए। तब उनका दर्शन करके ब्रह्माजी विस्मयसे श्रीकृष्णजीके सन्मुखही उन्मत्त होगए॥ और भी विष्णुधर्मोत्तरमें कहा है कि समस्त ब्रह्माण्डमंडलही देशतः और जीवतः तुल्यरूप हैं, अर्थात् समस्त ब्रह्माण्डमेंही समानपरिमाणवाले देश हैं और ब्रह्मादि समस्त जीव समान आयुवाले हैं॥ तथाहि—"नरनाथ! समस्त ब्रह्माण्डोंका एकसाही परिमाण है और उन समस्त ब्रह्माण्डोंमें स्थित स्वर्गादिदेशका विभाग और ब्रह्मादि जीवसमूह तुल्यरूप हैं।" इति। इस उपस्थित विरोधका समाधान करते हैं॥ क्योंकि श्रीकूर्मपुराणमें कहा है—"जिस स्थानमें दो वाक्योंका परस्पर विरोध हो, वहाँपर उसके अन्यतर वाक्यका अप्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जासकता। अतएव ऐसे स्थानमें जिससे दोनों वाक्योंका विरोध छूटजाय, ऐसे अर्थकीही कल्पना करनी चाहिये" ॥ १२६ ॥ इति ॥

विषमब्रह्माण्डाभिधायि पूर्वकथितपुराणमतके साथ समब्रह्माण्डाभिधायी विष्णुधर्मोत्तरके वचनका विरोध और उसकी मीमांसा।

युगपत्सकलाण्डानि जातु संहरते हरिः ॥
तथाहि श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे—
"अनन्तानि तवोक्तानि यान्यण्डानि मया पुरा।
सर्वाणि तानि संहृत्य समकालं जगत्पतिः।
प्रकृतौ तिष्ठति तदा सा रात्रिस्तस्य कीर्तिता ॥" इति ।

१ पूर्वोक्त प्रक्रिया और आख्यायिकाके अनुसार ब्रह्माण्डभेदसे लोकसंख्या और ब्रह्मादिलोकपालोंका आकार और जीवनकाल पृथक् २ है। परंतु विष्णुधर्मोत्तरमें कहाहै कि समस्त ब्रह्माण्डोंमेंही लोकसंख्या और ब्रह्मादिलोकपालोंका आकार व परमायु समान हैं। अतएव विरोध होता है॥ १२६ ॥

२ दो विरुद्ध वाक्योंमेंसे एकका प्रमाण न स्वीकार करनेसे, अर्द्धकुक्कुटीन्यायके अनुसार दूसरा वाक्यभी अप्रमाणिक होजाताहै, अतएव उन समस्त वाक्योंके दूसरे अर्थ कल्पना करके दूसरी गति करनीचाहिये। कारण कि, ऋषिवाक्यादिमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, और करणापाटव इन चारप्रकारके दोषोंकी संभावना नहीं॥ १२६–१३४ ॥

अतःसंहृत्य सर्वाणि पुनरण्डान्यसौ सृजन् ।
विषमाणि सृजेज्जातु कदाचिच्च समान्यपि ॥
इत्यौपोद्घातिकं प्रोच्य प्रकृतं परिलिख्यते ॥
किञ्च तत्रैव (भा० ३ । २ । १२)–
"यन्मर्त्यलीलोपयिकंस्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥ १२७ ॥" इति ।

टिप्पणी–समाधत्ते, युगपदित्यादिना ॥ अत्र प्रमाणम्, अनन्तानीति । प्रकृतौ–स्वभावे, "स्वभावः प्रकृतिः शीलम्" इति धनञ्जयः, आत्मारामतायामित्यर्थः । तस्य–जगत्पतेरीश्वरस्य ॥ अतइति–समविषमजगदण्डस्मरणात्, युगपत् सर्वप्रलयस्मरणाच्चेत्यर्थः ॥ इत्यौपोद्घातिकमिति–प्रकृते कृष्णस्य स्वयंभगवत्तानिरूपणरूपेऽर्थे पोषकत्वात् विविधजगदण्डतदधिकारिवर्णनमुपोद्घातः, स्वार्थे ठक् विनयादित्वात्, " चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः ।" (जगदीशकृतानुमितौ) इति वचनात् ॥ किञ्चेति । तत्रैव–तृतीये ॥ यदिति । "आद्यायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ॥" (भा० ३ । २ । ११) इति पूर्वोक्तेः; यत्–बिम्बं, कृष्णेन, गृहीतं–लोकेऽस्मिन् प्रकटितम् । कीदृशेन तेन ? इत्याह, स्वयोगमाया–पराख्यास्वशक्तिः, तस्या बलं, दर्शयता–बोधयतेत्यर्थः । बिम्बं कीदृक् ? इत्याह, मर्त्येषु या लीलास्तासाम्, उपयिकम्–उपायभूतं, नराकृतित्वात् परमोपयोगीत्यर्थः; विनयादित्वात् स्वार्थिकष्ठक्, उपस्य ह्रस्वत्वञ्च; तादृगाकृतिमन्तरा मनुष्येषु ता मनोज्ञलीला न स्युरित्यर्थः; मनुष्यरीतिच्छन्नाः पारमैश्वर्य्यगर्भा लीलाः खल्वधरस्थचित्रमुकुरवत् अतिचारुत्वभाजः, अतद्गर्भाः केवलनरलीलास्तु पारदालिप्ताधरमुकुरवन्नानन्दप्रदर्शिकाः, इति नराकृतेस्तद्बिम्बस्य तत्परमोपयोगित्वमिति भावः । पुनः कीदृक् ? इत्याह, सर्वज्ञस्यापि स्वस्य परमाश्चर्यकरं, सौभगसम्पदां मुख्यं स्थानं, भूषणशोभाधायकावयवञ्चेति ॥ १२७ ॥

भा०टी०–हरिजी कभी कभी समस्त ब्रह्माण्डका युगपत् संहार किया करते हैं तैसही श्रीविष्णुधर्मोत्तरमें–"मैंने पहिले तुम्हारे निकट जो अनन्त ब्रह्माण्डोंकी कथा कही

है, जब कि जगन्नाथ हरि उन समस्त ब्रह्माण्डोंका एक कालमें संहार करके प्रकृतिमें (स्वभाव अर्थात आत्मारामतामें) अवस्थान करते हैं, तिस कालमें वह उनकी रात्रि कही जाती है ।" इति । अत एव हरि समस्त ब्रह्माण्डोंका संहार करके जब पुनर्वार सृष्टि करते हैं, तब कभी 'विषम' अर्थात् भिन्न भिन्न आकारमें और कभी "सम" आकारमें सृष्टि किया करते हैं उपोद्घात कथा (यथार्थ विषयका पोषणार्थ विषय) कहकर इस समय यथार्थ विषयके लिखनेमें प्रवृत्त होते हैं ॥ और उस तीसरे स्कन्धमेंही लिखा है—"अपनी योगमायाके प्रभावको दिखानेके लिये श्रीकृष्णजी अपने चमत्कारकारक समस्तसौंदर्यसमृद्धिके परमनिधान, और जिसमें अंगपरम्परा समस्त भूषणोंकी भूषणस्वरूप, ऐसी मर्त्य लीलाका उपयोगि जो बिम्ब (श्रीमूर्ति) प्रपंचमें लाये"॥ १२७ ॥

श्रीकृष्णके श्रीविग्रहका असाधारणत्व ...

अत्र कारिकाः ।—

यद्बिम्बं मर्त्यलीलानां भवेदौपयिकं परम् ।
पूर्वपद्यस्थितं बिम्बं यत्पदेनानुकृष्यते ॥
विविधाश्चर्य्यमाधुर्य्यवीर्य्यैश्वर्य्यादिसम्भवात् ।
स्वस्य देवादिलीलाभ्यो मर्त्त्यलीला मनोहराः ॥
ध्वन्यते बिम्बशब्देन सद्गुणावलिशालिनाम् ।
सकलस्वस्वरूपाणां मूलत्वं तस्य सर्वथा ॥
अतस्तदेव निःशेषगुणरूपास्पदत्वतः ।
विचित्रनरलीलानामतियोग्यमुदीर्य्यते ॥
स्वयोगमायाचिच्छक्तिर्बलं तस्याः समर्थता ।
एतद्दर्शयता साक्षात्कुर्वता प्रकटीकृतम् ॥
अहो मदीयचिच्छक्तेः प्रभावं पश्यताद्भुतम् ।
दिव्यातिदिव्यलोकेषु यद्गन्धोऽपि न सम्भवेत् ॥
तज्जगन्मोहनं रूपं ययाविष्कृतमीदृशम् ।
स्वयोगमायेत्याद्यस्य भावोऽयमिति गम्यते ॥
स्वस्यात्मनोऽपि परमव्योमेशाद्यात्मदर्शिनः ।
विस्मापनं नवोदामचमत्कृतिकरं परम् ॥

सौभगर्द्धिर्महाश्चैय्यसान्द्र्य्यपरमावधिः ।
तस्याः परं पदं नित्योत्कर्षसम्पद्धरास्पदम् ॥
यत्तु कौस्तुभमीनेन्द्रकुण्डलाद्यं हि भूषणम् ।
तस्यापि भूपणान्यङ्गान्यस्येति सति विग्रहे ॥
तस्य श्रीविग्रहस्येदमसमोर्द्धत्वमीरितम् ।
सच्चिदानन्दसान्द्रत्वाद्द्वयोरेवाविशेषतः ।
औपचारिक एवात्र भेदोऽयं देहिदेहनोः ॥
तथा च श्रीकौर्मे-
"देहदेहिभिदा चात्र नेश्वरे विद्यते क्वचित् ॥ १२८ ॥" इति ।

टिप्पणी-पद्यं कारिकाभिर्व्याचष्टे, यद्बिम्बमित्यादिभिः ॥ वि-विधेति।स्वस्य-कृष्णस्य,मर्त्त्यलीलाः;देवादिलीलाभ्यः-नारायणादि-क्रीडाभ्योऽपि, मनोहराः-कमनीयाः। कुतः ? इत्याह, विविधानाम् आश्चर्य्यभूतानां, माधुर्य्यैश्वर्य्याणां-मनुष्यरीतिपिहितानाम् ऐश्व-र्य्याणाम्, उक्तदृष्टान्तरीत्या तास्वेव सम्भवादित्यर्थः ॥ ध्वन्यते इति। सकलानां स्व-स्वरूपाणां-महावैकुण्ठनाथपर्य्यन्तानामित्यर्थः ॥ स्व-यंगेति । गृहीतमित्यस्य प्रकटीकृतमित्यर्थः, स्वरूपस्य ग्रहणा-सम्भवादिति भावः, "अनादेयमहेयञ्च" (ब्रह्माण्डपुराणे) इत्यादि वक्ष्यन् ॥ असमोर्द्धत्वमीरितमिति-श्रीभागवते तत्स्वरूपाणां तादृ-शत्वेनाभिधानादित्यर्थः॥यद्बिम्बं स्वस्य च विस्मापनमित्युक्तेर्देहदेहि-नोर्भेदः,स च सिद्धान्तविरुद्ध इति चेत् ? तत्राह, सच्चिदिति-प्रकटार्थ-म् । तथा च भेदाभावेऽपि 'सत्ता सती' इत्यादिवत् विशेषबलादेव देहदेहिभावव्यवहार इत्यर्थः ॥ भेदाभावे प्रमाणं. देहदेहीति ॥ १२८॥

भा०टी०-इस श्लोककी कारिका-जो बिम्ब विविध मर्त्त्यलीलाका अतिशय उप-योगी है । इस श्लोकके 'यत्' इस पदद्वारा पूर्वपद्यस्थित 'बिम्ब' पद आकृष्ट हुआ है ॥ अनेक प्रकारके आश्चर्य, माधुर्य, वीर्य और ऐश्वर्यादिकी अभिव्यक्ति होनेसे, मर्त्य-लीला अपनी देवादि लीलाकी अपेक्षा अतीव मनोहारिणी है ॥ विविधसद्गुणशाली सर्व-विध अर्थात परव्योमनाथतक अपने अपने रूपकी परम्पराके सर्वथा मूलतत्त्व जो श्रीकृ-

ष्णजी हैं, यही 'बिम्ब' शब्दद्वारा व्यंजित हुआ ॥ अतएव वह बिम्ब जो अशेषरूप गुणका आश्रय हेतु है. विचित्र नरलीलाके अत्यन्त योग्य है ॥ यही कहा गया ॥ स्वयो-गमाया-चिच्छक्ति । बल-उसकी (योगमायाकी) सामर्थ्य । दिव्यातिदिव्य लोकमें जिसकी गन्धमात्र भी संभव नहीं है, अहो ! हमारी योगमायाके उस अद्भुत प्रभावको अवलोकन करो । इस प्रकारसे उसको (उस योगमायाकी सामर्थ्यको), दिखानेके लिये-साक्षात् करावेंगे (अनुभव करावेंगे) कहकर, नवीनकी समान जो बिम्ब प्रगट किया है इस प्रकारका वह जगन्मोहनरूप, जिस योगमायाके हेतुकरके आविष्कृत हुआ है । यही "स्वयोगमाया" इत्यादि पदका अभिप्राय है ॥ निजका-अपना और परव्योम-नाथादि आत्मदर्शियोंका, विस्मापन-नवनवायमानरूपसे अतीव चमत्कारक है ॥ सौभगर्द्धि-अतिशय चमत्कारक सौन्दर्यराशिकी परा काष्ठा । उसके पश्चात् पद-नित्य उत्कर्ष-सम्पत्तिका परमाश्रय ॥ जो बिम्ब वा श्रीविग्रहके अंगकी परम्परा कौस्तुभ और मकरकुंडलादि भूषणोंकी भूषणस्वरूप है अर्थात् शोभासंपादक है. इस प्रकारके समास वाक्यद्वारा श्रीकृष्णविग्रह "जो असमोर्द्ध" अर्थात् उस विग्रहकी समान और अधिक कोई नहीं है, यही कहा गया ॥ भगवान् और उनका श्रीविग्रह दोनोंही श्रीसच्चिदानंदघन हैं अत एव देह और देहीमें किसी प्रकारकी विशेषता न होनेपर भी 'राहुका मस्तक' इत्या-दिकी समान अभेदमें भी भेद कल्पना औपचारिक वा आरोपित है ॥ तथा च श्रीकूर्मपुराणमें-"इस परमेश्वरमें कभी भी देह-देहि-भेद विद्यमान नहीं है" ॥ १२८ ॥ इति ॥

भगवानमें देहदेहिका भेद वास्तविक नहीं है, औप-चारिक वा आरोपित है

किञ्च श्रीदशमे श्रीपुरस्त्रीणामुक्तौ (भा० १० । ४४ । १४)-

"गोप्यस्तपः किमचरन्यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्द्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप- ॥
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥"

तथाहि श्रीबलदेवं प्रति श्रीकृष्णोक्तौ (भा० १० । १५ । ८)-

"धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त-
त्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।

---

१ श्रीकृष्णमूर्ति बिम्बस्वरूप है, परव्योमनाथादि उस बिम्बके प्रतिबिम्बस्वरूप हैं । जिसप्रकार प्रतिबिम्बका मूल बिम्ब है, वैसेही परव्योमनाथादिके मूल श्रीकृष्णजी हैं ॥ १२८ ॥

नद्योऽद्रयः खगमृगाः समयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥ १२९ ॥" इति ।

टिप्पणी—स्वयंरूपत्वे वचनान्तरमाह, गोप्यस्तपः किमचरन्निति । असमोर्द्ध—साम्याधिक्यरहितम् । अनन्यासिद्धं—स्वयंसिद्धमित्यर्थः ॥ अथ महावैकुण्ठाधीशमहिष्या लक्ष्म्याः कृष्णस्पृहारूपेण लिङ्गेन तदधीशात् कृष्णस्याधिक्यं दर्शयति, धन्येयमिति । हे आर्य्य श्रीबलदेव ! अद्य इयं वृन्दावनधरणी, धन्या—श्लाघ्या । अस्यां यास्तृणवीरुधस्तास्तव पादस्पर्शेन, द्रुमलताः, तव, करजाभिमर्षेण—पुष्पाणि गृह्णतो नखस्पर्शेन, नद्यः—यमुनाद्याः,अद्रयः—गोवर्द्धनाद्याः, तव, सदयावलोकैः—कृपाकटाक्षैः, गोप्यः—श्यामलताः, पक्षे गोप्यः—बल्लव्यः, भुजयोरन्तरेण—तव वक्षसा, धन्या इति योज्यं सर्वत्र । वक्षो विशिनष्टि,यत्स्पृहेति—वैकुण्ठमहिषी यत् स्पृहयति परिरब्धुं,'प्रायो वीररताः स्त्रियः'इति वचनात् वीरो भवान्, प्रलम्बादिमहादैत्यघातित्वात् । पूर्वरागवर्णनमेतत् ॥ १२९ ॥

भा०टी०—किञ्च श्रीदशममें श्रीपुरस्त्रियोंकी उक्तिमें कहा है—"व्रजगोपियोंनें कैसी अनिर्वचनीय तपस्या आचरण की थी । क्यों कि यह श्रीकृष्णजीके लावण्यसार, साम्य और आधिक्यरहित, स्वयंसिद्ध, प्रतिक्षणमें नवनवायमान, अन्यत्र दुर्लभ और यश श्री और ऐश्वर्यके एकान्त आश्रयस्वरूप रूपको अपने नेत्रोंसे अनवरत पान किया करती हैं ।" तैसही श्रीबलदेवजीसे श्रीकृष्णजीकी उक्ति—"हे आर्य ! आज यह वृन्दावन भूमि धन्य है, आपके चरणोंका स्पर्श करके यहांके तृण-वीरुध, नखोंके स्पर्शसे वृक्ष लता, कृपाकटाक्षसे यमुनादि नदीगण, गोवर्धनादि पर्वत, पक्षिगण व मृगगण और महावैकुण्ठमहिषी जिनमें सदा स्पृहा करती हैं, उन भुजान्तर (वक्षस्थल) से गोपीगण धन्य हैं" ॥ १२९ ॥ इति ॥

'श्रीकृष्ण नारायणजीका विलास हैं' इस पूर्वपक्षके पूर्वोक्त उत्तरपक्षके सिवाय अन्यप्रकार उत्तरपक्ष ।

नारायणजीकी भार्या लक्ष्मीजीकी कृष्णस्पृहा ।

अत्र कारिका: ।—

श्रीवृन्दावनतद्वासिमाधुर्य्योल्लोलचेतसा ।

---

१ 'असमोर्द्ध' और'अनन्यासिद्ध'इन दो विशेषणोंसे श्रीकृष्णजीके अतिरिक्त और स्वरूपमें तादृश प[illegible]र्वथा दुर्लभ है, यही कहागया ॥ १२९–१३० ॥

तत्स्तवे हरिणारब्धे निजोत्कर्षावसायिनम् ।
तमालोच्य ततो राममपदिश्य व्यधायि सः ॥
अतोऽत्र नैव तात्पर्य्यं रामोत्कर्षानुवर्णने ।
सख्यभावात्तदा रामे नर्म्मणैवेदमीरितम् ॥
भुजान्तरन्तु वक्षस्ते तेन धन्या व्रजाङ्गनाः ।
यत्स्पृहा वक्षसे यस्मै श्रीरप्याचरति स्पृहाम् ॥
तत्स्पृहैव परं तस्या नतु तत्प्राप्तियोग्यता ॥
सदावक्षःस्थलस्थापि वैकुण्ठेशितुरिन्दिरा ।
कृष्णोरःस्पृहयास्यैव रूपं विवृणुतेऽधिकम् ॥
पौराणिकमुपाख्यानमत्र संक्षिप्य लिख्यते ॥
श्रीः प्रेक्ष्य कृष्णसौन्दर्य्यं तत्रलुब्धा ततस्तपः ।
कुर्वतीं प्राह तांकृष्णः किन्तेतपसिकारणम् ॥
विजिहीर्षे त्वया गोष्ठे गोपीरूपेति साब्रवीत् ।
तद्दुर्लभमिति प्रोक्तालक्ष्मीस्तं पुनरब्रवीत् ॥
स्वर्णरेखेव ते नाथ ! वस्तुमिच्छामि वक्षसि ।
एवमस्त्विति सातस्य तद्रूपा वक्षसि स्थिता ॥
यथोक्तंश्रीदशमे नागपत्नीभिः (भा० १० । १६ ३६)--
"यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो
विहाय कामान्सुचिरं धृतव्रता ॥" इति ।
नाम्नोऽपि महिमैतस्य सर्वतोऽधिक ईर्य्यते ॥ १३० ॥

टिप्पणी—पद्यार्थं कारिकाभिर्व्याख्याति, श्रीवृन्दावनेति । उल्लोलेति—"लोलश्चलसतृष्णयोः" इति नानार्थवर्गात्, अतिसतृष्णचित्तेनेत्यर्थः। निजोत्कर्षेति—स्वमुखेन स्वस्तुतेःकर्त्तुमयुक्तत्वात् रामापदेशेन तद्विधानमिति भावः, अन्यथा श्रियो रामोरःस्पृहोक्तिरयुक्तेति बोध्यम् ॥ नन्वेवं चेत् स्वरहस्यस्य रामे सूचनं कथं ? तत्राह, सख्यभावादिति ॥ यत्स्पृहेति—स्पृहामात्रोक्तेः प्राप्तिर्नाभूदिति व्यज्यते ॥

वक्तव्यमाह, सदा वक्षःस्थलस्थेति । अस्य—कृष्णस्य एव, रूपं स्वनाथादप्यधिकम्, इन्दिरा—लक्ष्मीः, विवृणुते—प्रदर्शयतीत्यर्थः ॥ पौराणिकामिति—पाद्मीयं बोध्यम् ॥ तपः कुर्वतीमिति—तस्यास्तपःस्थलन्तु श्रीवनमिति प्रसिद्धम् ॥ श्रीभागवतेऽप्येतद्वृत्तमस्तीति दर्शयति, यद्वाञ्छयेति । यस्य—तव अंघ्रिरजसः, वाञ्छया, कामान्—वैकुण्ठगतान् दिव्यरसगन्धादीन्, विहाय—त्यक्तेति । न च लक्ष्म्या रतेरनेकपुरुषनिष्ठत्वेन स्थायिवैरूप्यात् रसाभासतेति वाच्यं, श्रीशकृष्णयोरद्वैतेन अनेकपुरुषत्वाभावात्, "सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः । रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः ॥" (भ० र० सि०, पू० २ । ३२) इति ॥ १३० ॥

भा०टी०--इस श्लोककी कारिका । श्रीवृन्दावन और श्रीवृन्दावनवासियोंके माधुर्यको निहार अत्यन्त सतृष्णचित्त हो जब श्रीकृष्णजीनें उनकी प्रशंसा की तब अपनेही उत्कर्षको पर्य्यवसायित होता हुआ देखकर, बलदेवजीको निमित्त करके इस प्रकारकी प्रशंसा की थी ॥ अत एव बलदेवजीका उत्कर्ष वर्णन करना कभी भी इस श्लोकका तात्पर्य नहीं है । बलदेवके साथ सख्यभाव हेतुसे श्रीकृष्णजीनें उस समय हास्य करकेही यह बलदेवजीसे कहा था ॥ तुम्हारे भुजान्तर—वक्षस्थल, तिस करके व्रजाङ्गनाऐं धन्य हैं । यत्स्पृहा—नारायणकी भार्या होकर भी लक्ष्मीजी जिस वक्षस्थलका अभिलाष किया करती हैं ॥ उन लक्ष्मीजी को वक्षस्थलकी केवल स्पृहाही है, परन्तु पानेकी योग्यता नहीं है ॥ लक्ष्मीजी सर्वदा वैकुण्ठनाथकी वक्षःस्थलस्था होकरभी श्रीकृष्णजीके वक्षःस्थलकी स्पृहा करके, अपने पति नारायणजीसेभी अधिक श्रीकृष्णजीके उत्कर्षको दिखाती हुई ॥ इस प्रकरणमें पद्मपुराणका एक उपाख्यान लिखते हैं--लक्ष्मीजी, श्रीकृष्णजीकी सुन्दरताको अवलोकन कर उसमें लोभी हो तप करनें लगी, तब श्रीकृष्णजीनें उनसे पूछा कि, 'तुम्हारी तपस्याका क्या कारण है ? लक्ष्मीजी बोली 'मैं गोपीरूप धारण करके वृन्दावनमें तुम्हारे साथ विहार करनेका अभिलाष करती हूं ।' तब श्रीकृष्णजीनें कहा, "सो तौ बड़ाही दुर्लभ है ।" फिर लक्ष्मीजीनें कहा--"हे नाथ ! मैं स्वर्णरेखाकी समान होकर तुम्हारी छातीमें रहना चाहती हूं ।' तब श्रीकृष्णजी बोले, 'अच्छा ऐसाही होगा ।' लक्ष्मीजी भी स्वर्णरेखाके रूपमें श्रीकृष्णजीकी छातीपर विराजमान होनेंलगी ॥ यथा—श्रीदशममें नागपत्नियोंनें कहा है--"लक्ष्मीजीनें परम सुन्दरी होकर भी, तुम्हारी चरणरेणुकी अभिलाषसे सब कामनाओंको छोड़ और नियम धारण करके दीर्घ कालतक तप किया था । " इन श्रीकृष्णजीके नामकी महिमाभी सर्वापेक्षा अतिशयरूपसे कही गई हैं ॥ १३० ॥

लक्ष्मीजीकीकृष्ण-स्पृहाके सम्बन्धमें पद्मपुराणके उपाख्यानका स्थूलमर्म ।

यथा श्रीब्रह्माण्डे—

"सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत्फलम् ।
एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत्प्रयच्छति ॥"

स्कान्दे च—

"मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम् ।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर ! नरमात्रं तारयेत्कृष्णनाम ॥ १३१ ॥" इति ।

टिप्पणी—नामातिमहिम्ना लिङ्गेन श्रीकृष्णस्य श्रीशादाधिक्यमाह, सहस्रेति । वैशम्पायनोक्तानां सहस्रनाम्नां त्रिरावृत्त्या यत्फलं, तत, कृष्णस्य एकं नाम—ब्रह्माण्डपुराणगताष्टोत्तरशतनामस्थं कृष्णावतारसम्बन्ध्येकमेव नाम, एकावृत्त्या प्रयच्छतीत्यर्थः । तेषु सर्व-स्वाविर्भावत्वविशिष्टस्य नामान्युक्तानि, इह तु कृष्णत्वेन विशिष्टस्येति विशेषः, तद्गतात् एतद्गतं तदेव नाम बहुफलं, भगवद्वाक्यान्तरात् भगवद्गीतावदिति बोध्यम् । स्कान्दे चेति ॥ मधुरमधुरमेतदिति—सर्वातिशायिमाहात्म्यपर्यवसायित्वं द्योत्यते । भृगुवर !—हे शौनक ! ॥ १३१ ॥

नारायणजीके नामकी अपेक्षा श्रीकृष्ण नामकी महिमा अधिक है।

भा०टी०—यथा—श्रीब्रह्माण्डपुराणमें—"वैशम्पायनजीका कहाहुआ परम पवित्र सहस्रनाम पाठ करनेंसे जो फल होता है, ब्रह्मांडपुराणमें कहे हुए, श्रीकृष्णशतनाममेंसे जो कोई एक नाम एकवारभी कह लेता हैं तो वह नाम (भारतमें कहे सहस्रनामके तीनवार पाठका) फल देता है ।" स्कन्दपुराणमें भी कहा है—"जो मधुरसे भी मधुर हैं, जो सर्व प्रकारके मंगलोंका मंगलदायक है, जो समस्त वेदवल्लीका उपादेय फल है और चिदेकस्वरूप है, वह कृष्णनाम श्रद्धाके सहित अथवा अवहेलापूर्वक एकवारभी कीर्त्तन किया जाय तो हे शौनक ! तत्काल नरमात्रको परित्राण किया करता है" ॥ १३१ ॥ इति ।

---

१ महाभारतके अनुशासनपर्वमें सर्वावतारसम्बन्धि नामका और ब्रह्माण्डपुराणमें केवल श्रीकृष्णावतारसंबन्धि नामका कीर्त्तन कियागयाहै ॥ १३१ ॥

अतः स्वयंपदादिभ्यो भगवान्कृष्ण एव हि ।
स्वयंरूप इति व्यक्तं श्रीमद्भागवतादिषु ॥

यथोक्तं श्रीब्रह्मसंहितायाम् (ब्र० सं० ५ । १)–

"ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानंदविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥ १३२ ॥" इति ।

टिप्पणी–निगमयति, अत इति। स्वयंपदादिभ्यः–त्रिभ्य इत्यर्थः १३२

भा०टी०–अत एव स्वयं पदका अभ्यास–(वारंवार कथन) होनेसे भगवान् श्रीकृष्णही स्वयंरूप हैं, यही भागवतादि ग्रंथमें व्यक्त है ॥ यथा श्रीब्रह्मसंहितामें कहा है–"श्रीकृष्णही परमेश्वर हैं । सत्, चित् और आनन्द ही उनका शरीर है । वे अनादि और आदि हैं । गोपालन उनकी लीला है, इस कारण, उनका एक नाम "गोविन्द" है । वे समस्त कारणोंके कारण हैं" ॥ १३२ ॥ इति ।

श्रीकृष्णही स्वयं रूप हैं

यथा च (ब्र० सं० ५ । ३९)–

"रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु ।
कृष्णः स्वयं समभवत्परमः पुमान्यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥" इति ।

तस्मात्परमवैकुण्ठनाथोऽप्यस्य विलासकः ॥ १३३ ॥

टिप्पणी–उक्तं पुष्णाति, यथा च रामादीति । न च रामादीनामपि कृष्णादभेदात् तदादित्वेऽपि कदाचित् सर्वाः शक्तयो व्यक्ताः स्युरिति वाच्यं, तेषु, कलानां–शक्तीनां, नियमेन व्यक्तेः । इदश्च प्रागेव निर्णीतम् ॥ तस्मादिति–उक्तात् हेतुप्रचयात्, अस्य–कृष्णस्य, परव्योमनाथोऽपि विलास एव, नतु तस्य विलासः श्रीकृष्ण इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

भा०टी०–यथा च–"जो परम पुरुष हैं, रामादिमूर्त्तिसमूहमें नियमित शक्तिकी अभिव्यक्ति करके जिन्होंनें प्रपंचमें अनेक प्रकारके अवतार किये हैं, और श्रीकृष्णरूपसे स्वयं अवतीर्ण हुए हैं, मैं उन्हीं आदि पुरुष गोविन्दका भजन करताहूं।" इति। अत एव महावैकुण्ठनाथ नारायण भी इन श्रीकृष्णजीके विलास हैं ॥ १३३ ॥

अतो मिलित्वा श्रुतिभिः स्वसारो यः स्तवः कृतः ।
तत्तात्पर्य्यकृती कृष्णमेव देवर्षिरानमत् ॥
"नमस्तस्मै भगवते कृष्णाय"
(भा० १०।८७।४६) इत्यादि ॥ १३४ ॥

टिप्पणी—पुनःपुष्णाति, अतो मिलित्वेति । अन्यथा सर्वश्रुतिसारं स्तवं श्रुतवता नारदेन श्रीश एव प्रणम्येत, नतु कृष्ण इत्यर्थः । तस्मात कृष्णस्य स्वयंरूपत्वं श्रुतितात्पर्य्यादपि लब्धमित्यर्थः ॥ १३४ ॥

भा०टी—अत एव श्रुतिगण मिलकर समस्त वेदका सारस्वरूप जो स्तव करते हैं, उसका तात्पर्य जाननेवाले नारदजीने और किसीको प्रणाम न करके श्रीकृष्णजीकोही प्रणाम किया है ॥ "उन भगवान् श्रीकृष्णजीको नमस्कार है" इत्यादि ॥ १३४ ॥

नारायणही श्रीकृष्णजीके विलास है, श्रीकृष्णजी नारायणके विलास नहीं है, यह निज सिद्धान्त स्थापन, और श्रुतिसमूहका भी यही तात्पर्य है

नन्वेष द्वापरस्यान्ते प्रादुर्भूतो यदूद्वहः ।
सवैकुण्ठेश्वरोऽनादिस्तद्विलासः कथं भवेत् ॥
मैवमस्यादिशून्यस्य जन्मलीलाप्यनादिका ।
स्वच्छन्दतो मुकुन्देन प्राकट्यं नीयते मुहुः ॥ १३५ ॥

टिप्पणी—एवं निर्जितोऽपि श्रीशपारम्यवादी सकोपः प्रतिविधत्ते, नन्वेष इति । प्रादुर्भूत इति—शान्त्वोदित इत्यर्थः । अनादिः—नित्यादितः, कूटस्थ इति यावत् ॥ परिहरति, मैवमिति । अनाद्यया गोपालोपनिषदा परार्द्धादौ कृष्णकर्त्तृकस्य ब्रह्मकर्म्मकस्योपदेशस्याभिधानात, प्रल्हादस्य प्रियव्रतस्य चातिप्राचीनस्य कृष्णोपासकत्वस्मरणाच्च, आदिशून्यस्य—पूर्व्वकोटिरहितस्य, कृष्णस्य जन्मलीलाप्यादिशून्यैव, स्वेच्छयैव साविर्भाव्यते; द्वापरावसाने इति सादित्ववचनं रभसादेवेत्यर्थः ॥ १३५ ॥

---

१ दशमस्कंधके ८७ वें अध्यायमें वर्णितहुए श्रुतिके तात्पर्यगोचर यह श्रीकृष्णजी ही हैं, इसनिमित्त देवर्षि नारदजी ... प्रणादिको छोड वहांपर श्रीकृष्णजीकोही प्रणाम कियाहै ॥ १३४–१३७॥

भा०टी०—यदि कहो कि, यह श्रीकृष्णजी द्वापरयुगके अन्तमें प्रादुर्भूत हुए, और वह महावैकुण्ठनाथ नारायण अनादिसिद्ध हैं, अत एव नारायण श्रीकृष्णजीके विलास हैं, यह वार्ता किस प्रकारसे संभव हो सकती है? सो नहीं कहा जा सकता। क्यों कि श्रीकृष्णजी जिस प्रकारसे अनादिसिद्ध हैं, उनकी जन्मलीला भी वैसीही अनादि है; केवल अपनी इच्छाके अनुसारही प्रपंचमें वारंवार इस जन्मलीलाको प्रगट किया करते हैं ॥ १३५ ॥

श्रीकृष्णजी द्वापरके अंतमें उत्पन्न हुए। परन्तु नारायण अनादि हैं, अत एव नारायण श्रीकृष्णजीके विलास नहीं हो सकते। नारायणके स्वयंरूपताशंकाकी ऐसी आपत्तिका समाधान श्रीकृष्णजीकी 'जन्मलीला' का अनादित्वप्रतिपादन।

तथा च श्रीतृतीये (३ । २ । १५)—

"स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै-
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः ॥ १३६ ॥" इति ।

टिप्पणी—कृष्णस्यानादित्वे प्रमाणमाह, स्वेति । स्वेषु शान्तरूपेषु—भक्तेषु वसुदेवादिषु, इतरैः—तद्विरुद्धैः, सुष्ठु अरूपैः—विकृतभयंकराकारैः कंसादिभिः, अभ्यर्द्यमानेषु सत्सु, अनुकम्पितात्मा—दयाहृदयः, भगवान्—षडैश्वर्य्यपूर्णः श्रीकृष्णः, अजोऽपि—अपूर्वदेहेन्द्रियसंयोगरहित एव सन, अरणेरग्निरिव स्वाधिष्ण्यात्, जातः—प्रादुरासीत्। कीदृशः? परेषाम्—अप्राकृतानाम, अवरेषां—प्राकृतानाञ्च, लोकानामीशः, महता—वैकुण्ठाधीश-तद्व्यूह-तदंशपुरुष-तदंशलीलावताराणां परमव्योमनिलयानां तत्तन्निलये स्थितानामेव, अंशैः—रूपान्तरैः, युक्तः सन्निहितः। दिग्विजयाय गच्छन्तं सार्वभौमं यथा मण्डलाधिपाः, तथा जगत्यवतितीर्षुं कृष्णं स्वयंप्रभुं ते तद्विलासादयः स्वस्वांशैरनुगच्छेयुरिति भावः । यथारणौ वह्निः पूर्वसिद्धस्तथा परमव्योमोपरि कृष्णोऽपीति प्रमाणलाभात् सादित्ववचनमसूययैवोद्गीर्णमिति भावः ॥ १३६ ॥

भा०टी०—तथा च,—श्रीतृतीयमें—"स्वीय शान्तरूप अर्थात् भक्त वसुदेवादि, विकृत और भयंकराकार कंसादि दैत्योंकरके पीड्यमान हो, अरणि (अग्निमन्थनकाष्ठ) से जिसप्रकार अग्नि प्रकट होजाती है वैसेही प्राकृत और अप्राकृत लोकोंके अधीश्वर, दयासे जिनका हृदय गलित है ऐसे भगवान् कृष्णजी अजर होकरभी वैकुण्ठनाथादि दूसरे रूपोंके साथ योग प्राप्त हो अपने लोकसे प्रपंचमें अवतार लिया करते हैं" ॥ १३६ ॥ इति ॥

अत्र कारिकाः ।—

स्वे भक्ताःस्वे च ते शान्तरूपाश्चेत्यत्र विग्रहः ।
शान्तिस्तन्निष्ठता बुद्धेः शान्तास्तन्निष्ठबुद्धयः ।
तेषु शूरसुताद्येषु नन्दादिषु च साधुषु ।
इतरैस्तद्विरुद्धैस्तु कंसाद्यैरसुरादिभिः ॥
स्वरूपैः सुष्ठुरूपैरित्यरूपत्वं विरूपता ।
घोरातिविकटाकारैरित्यर्थः स्फुटमीरितः ॥
अभ्यर्थ्यमानेष्वभितः क्रियमाणमहार्त्तिषु ।
अनुकम्पायुतमनाः परे मायान्वयोज्झिताः ॥
गोलोकमुख्या अवरे मायिकाजाण्डमण्डलाः ।
परेषामवरेषाञ्च तेषामीशोऽधिनायकः ॥
स्युर्महान्तोऽतिपरममहत्तमतया स्मृताः ।
ते परव्योमनाथश्च व्यूहाश्च वसुसंख्यकाः ॥
वासुदेवादयो व्यूहाः परमव्योमेश्वरस्य ये ।
तेभ्योऽप्युत्कर्षभाजोमी कृष्णव्यूहाः सतां मताः ॥
इत्येते परमव्योमनाथव्यूहैः सहैकताम् ।
स्वविलासैरिहाभ्येत्य प्रादुर्भावमुपागताः ॥
अंशास्तस्यावतारा ये प्रसिद्धाः पुरुषादयः ।
तथा श्रीजानकीनाथनृसिंहक्रोड़वामनाः ।
नारायणो नरसखो हयशीर्षाजितादयः ॥
एभिर्युक्तः सदायोगमवाप्यायमवस्थितः ॥ १३७ ॥

टिप्पणी—पद्यं कारिकाभिर्व्याख्याति, स्वे भक्ता इत्यादिभिः । शान्तपदं व्याचष्टे, शान्तिरिति—"शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" (भा० ११ । १९ । ३६) इति एकादशे भगवद्वाक्यात् ॥ परावरेशपदं व्याचष्टे, परे मायेति ॥ महदंशयुक्तपदं व्याचष्टे, स्युर्महान्तोऽतीति । वसु-

संख्यका इति—कृष्णव्यूहानां नारायणव्यूहानाञ्च आगतत्वादित्यर्थः ॥ इत्येते इति—कृष्णव्यूहानां विलासा नारायणव्यूहा इत्यर्थः॥१३७॥

भा०टी०—इस श्लोककी कारिका;—स्वभक्त, स्व और शान्तरूप, इस प्रकारका समास; शान्ति—भगवन्निष्ठ बुद्धि, शान्त—भगवन्निष्ठबुद्धिशाली ॥ स्वशान्तस्वरूप—वही वसुदेवादि और नंदादि (नित्य सिद्ध) और साधु (साधक) । उन वसुदेवादिसे भिन्न—स्वशान्तविरुद्ध कंसप्रभृति असुरादि । स्वरूप—सुष्ठु अरूप (सु + अरूप = स्वरूप), अरूपता—विरूपता, अर्थात् भयानक और अतिशय विकटाकार । स्पष्टही यह अर्थ कहा है ॥ अभ्यर्द्यमान—उन कंसादिकरके (वह स्वशान्तरूप वसुदेवादि) सर्वभान्तिसे महार्त्ति—प्रदानपूर्वक पीड्यमान होनेपर जिनका हृदय दयासे गला होजाता है । पर—मायासम्बन्धरहित गोलोकादि । अवर—मायिक ब्रह्माण्डमंडल । उन समस्त पर और अवरका ईश अधिनायक ॥ महाण—अतिशय परममहत्तम । परव्योमनाथ और अष्टव्यूहही वह अतिशय परममहत्तम हैं ॥ तिनमें परव्योमनाथके वासुदेवादि-चतुर्व्यूहकी अपेक्षा श्रीकृष्णजीका चतुर्व्यूह अत्यन्त उत्कर्षशाली है, यह बात साधुगण-सम्मत है यह समस्त श्रीकृष्णव्यूह अपने विलास परव्योमनाथ व्यूहके साथ एकता प्राप्त हो प्रपंचमें आयकर प्रादुर्भूत हुएहैं ॥ अंश—उनके प्रसिद्ध अवतार जो पुरुषादि हैं और श्रीराम, नृसिंह, वराह, वामन, नर, नारायण, हयग्रीव और अजितादि हैं ॥ उनके साथ यह श्रीकृष्णजी, युक्त—सर्वदा योग प्राप्तहोकर अवस्थान करते हैं ॥ १३७ ॥

नारायणव्यूह, कृष्णव्यूहकाही विलास है ।

अतो वृन्दावने तत्तल्लीलाप्रकटतेक्ष्यते ॥
वैकुण्ठेश्वरलीलात्र दर्शिता या विरिञ्चये ।
सेश्वराणामजाण्डानां कोटिर्वृन्दावनेऽद्भुता ॥
सैव ज्ञेया यतः स्वांशद्वारैवासौ प्रकाशिता ॥
वासुदेवादिलीलास्तु मथुराद्वारकादिषु ।
तत्तद्रूपैर्व्रजान्तस्तु बाल्येहाभिश्च दर्शिताः ॥
यथा श्रीदाम्नि तार्क्ष्यत्वं प्राप्ते सोऽपि चतुर्भुजः ।
आदित्येष्वथ लब्धेषु बभौ द्वादशभिर्भुजैः ॥
तथा साङ्कर्षणी लीला दैत्यसंहारिकापि च ।
मूर्त्तयो माथुरे भान्ति श्रीप्रद्युम्नानिरुद्धयोः ।

याः श्रीगोपालतापिन्यां वाराहादिषु च श्रुताः ॥
एवं पुरुपलीलानां प्राकट्यमिह माथुरे ।
अनन्तशायिरूपाभिः क्रियते सुष्ठुमूर्त्तिभिः ॥
यदा यदा च सा लीला कृष्णेन प्रकटीकृता ।
भवेत्तत्तदुपाख्यानं पुराणेष्विति विश्रुतम् ॥
यानि रामादिरूपाणि प्रादुश्चक्रे स्वकेलिषु ।
तान्यधिष्ठानरूपेण राजन्तेऽद्यापि माथुरे ॥
गोपराड्वपयःपूरैर्जनितः क्षीरवारिधिः ।
ममन्थाजितरूपस्तं गोपैर्देवासुरीकृतैः ॥ १३८ ॥

टिप्पणी—महदंशयुक्ततायां ज्ञापकमाह, अतो वृन्दावने तत्तदिति । तत्तद्रूपैः—वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाकारैरित्यर्थः ॥ श्रीदाम्नि—वृषभानुराजपुत्रे स्वसखे इत्यर्थः । आदित्येषु द्वादशसु युगपत् प्रणमत्सु युगपत तन्मूर्द्धसु हस्तार्पणप्रसादाय द्वादशभुजोऽभूदित्यर्थः ॥ अधिष्ठानरूपेण— तत्तत्प्रतिमात्मना ॥ १३८ ॥

भा०टी०--अतएव श्रीवृन्दावनमें उन अवतारोंकी लीला प्रकट देखीजाती है ॥ इस वृन्दावनमें ब्रह्माजीको जो ब्रह्माण्डनाथके साथ अद्भुत ब्रह्माण्डकोटिका दर्शन करायाथा, सो भी वैकुण्ठनाथकी लीला है । कारण कि स्वांश द्वारपरही वह लीला प्रकाशित होती है ॥ मथुरा और द्वारकादिमें वासुदेवादिरूपसे वासुदेवादिकी जो समस्त लीला प्रकाशित हुई सो व्रजमेंभी बालक्रीडाद्वारा दिखाई गईथी। जिससमय श्रीदामा गरुड़ हुआ उस समय श्रीकृष्ण चतुर्भुज हुए और निमकालमें बारह आदित्योंने आकर प्रणामकरनेपर श्रीकृष्णजी द्वादशबाहु होकर प्रकाशित हुए थे ॥ तिसी भांति दैत्यसंहारकारी संकर्षणलीलाभी उन्होंने प्रकट की थी । श्रीप्रद्युम्न और अनिरुद्धकी समस्त श्रीमूर्तियें अबतक मथुरामंडलमें विराजमान हैं॥श्रीगोपालतापिनीश्रुति और वराहपुराणादिमें इन समस्तमूर्त्तियोंकी वार्ता सुनीजाती है ॥ इस प्रकार शेषशायिरूप मूर्तिसमूहद्वारा माथुरमंडलमें पुरुषलीलासमूहकाभी यथार्थ आविष्कार किया करते हैं॥श्रीकृष्णजी जब२ उन समस्त लीलाओंका आविष्कार करते हैं, पुराणोंमेंभी वैसही

श्रीकृष्णमें नारायणादिके अन्तर्भाव है और नारायणादि लीलाके प्रकाश हैं।

१ जब ब्रह्माजीने बछड़े और ग्वालबालोंको चुराया तब इस लीलाका प्रकाश हुआ ॥ १३८ ॥

उन समस्त लीलाओंका उपाख्यान प्रचारित होजाताहै, यह प्रसिद्ध है ॥ भगवानजीने अपनी लीलासे जिन समस्त रामादिरूपको प्रगट कियाथा, अबतक वह समस्त मूर्तियें प्रतिमारूपसे माथुरमंडलमें विराजमान हैं ॥ गोपराद्धकी दुग्धराशिद्वारा क्षीरसमुद्रका आविष्कार और देवगणोंको देवासुर करके स्वयं अजितरूपसे उस क्षीरसागरको मंथन किया था ॥१३८॥

अत एव ब्रह्माण्डे—

"यो वैकुण्ठे चतुर्बाहुर्भगवान्पुरुषोत्तमः ।
य एव श्वेतद्वीपेशो नरो नारायणश्च यः ।
स एव वृन्दावनभूविहारी नन्दनन्दनः ॥
एतस्यैवापरेऽनन्ता अवतारा मनोहराः ।
महाग्नेरिह यद्वत्स्युरुल्काः शतसहस्रशः ।
तत्रैव लीना एकत्वं व्रजेयुस्ते हरौ तथा ॥" इति ।
इति सिद्धा प्रभोरस्य महदंशैस्तु युक्तता ॥
अत एव पुराणादौ केचिन्नरसखात्मताम् ।
महेन्द्रानुजतां केचित्केचित्क्षीराब्धिशायिताम् ।
सहस्रशीर्षतां केचित्केचिद्वैकुण्ठनाथताम् ।
ब्रूयुः कृष्णस्य मुनयस्तत्तद्वृत्तानुगामिनः ॥ १३९ ॥

टिप्पणी—अत इति । कृष्णस्वरूपे स्थितैर्बदरीशादिरूपैस्तल्लीलानामाविष्कारात तन्मात्रदृष्ट्यां मुनयस्तं तत्तद्रूपभाहुः, तद्वाक्यानि च भगवान व्यासोऽन्ववादीदिति सिद्धान्तविदां पद्धतिः; यथा शल्यः कृष्णादधिकः कर्णस्तु फाल्गुनादिति लोकोक्तेरनुवादस्तेन कर्णपर्वणि कृतो दृष्टस्तद्वत ॥ १३९ ॥

भा०टी०—अतएव ब्रह्माण्डपुराणमें कहा है—"जो वैकुण्ठमें चतुर्भुज हैं, जो श्वेतद्वीपके स्वामी हैं, जो नरके सखा नारायण हैं,वही भगवान् पुरुषोत्तम वृन्दावनविहारी यदुनंदन हैं॥ जिस प्रकार महाग्निसे सैकड़ों हजारों चिनगारियां निकलकर फिर उसमेंही लीन होजातीहैं। वैसेही यह श्रीकृष्णजीके दूसरे मनोहर अवतार फिर उनमेंही एकताको प्राप्त होजातेहैं"इति। इसप्रकार पूर्वोक्तकारणके वशसे श्रीकृष्णजीका महदंशके साथ योग सिद्ध हुआ॥पुराणादिमें कोई २ श्रीकृष्णजीको नरभ्राता नारायण, कोई उपेन्द्र,कोई क्षीरोदशायी, कोई सहस्रशीर्षा पुरुष, और किसीने वैकुण्ठनाथ कहकर कीर्त्तन किया है।क्योंकि श्रीकृष्णजीमें स्थित नारायणादिरूप अंशसे प्रगट हुई उन लीलाओंके देखनेसे उन २ मुनियोंने तिन २ चरित्रोंके अनुगामी होकर तिस २ रूपसे (नारायणादि रूपसे) श्रीकृष्णजीको कहाहै ॥ १३९ ॥

उपोद्घातं समाप्याथ प्रकृतं लिख्यते पुनः ॥
अजो जन्मविहीनोऽपि जातो जन्माविराचरत् ॥
नन्वेकस्य किलाजत्वं जन्मित्वञ्च विरुध्यते ।
इत्याशङ्क्याह भगवानचिन्त्यैश्वर्य्यवैभवः ॥
तत्र तत्र यथा वह्निस्तेजोरूपेण सन्नपि ।
जायते मणिकाष्ठादेर्हेतुं कञ्चिदवाप्य सः ॥
अनादिमेव जन्मादिलीलामेव तथाद्भुताम् ।
हेतुना केनचित्कृष्णः प्रादुष्कुर्य्यात्कदाचन ॥ १४० ॥

टिप्पणी—अजो जन्मेति—"अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतेः, "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा" (गी० ४ । ६) इत्यादिस्मृतेश्च ॥ नन्वज एव चेदाविर्भवति, तदा गजेन्द्रध्रुवादाविव आगतिमात्रं वाच्यं, पितामातृदेहसम्बन्धः कथमुच्यते ? तत्राह, नन्वेकस्येति । परिहरति, भगवानिति । स्वरूपगुणविभूतिशीलेषु, विकारलेशात्तावदजत्वं, धातुयोगं विनैव प्राच्यामिन्दोरिव तद्देहे आविर्भावात् जन्मित्वम्, इत्यचिन्त्यैश्वर्य्यात् इदं सर्वं भवतीति न काचिच्छङ्केत्यर्थः ॥ मणिकाष्ठादेरिति॥मणेः—पाषाणविशेषात्, यथा लोहाघातेन हेतुना, यथाच, काष्ठस्य—अरणेः, मथनेन हेतुना, पूर्वं सतएव वह्नेर्व्यक्तिस्तथेत्यर्थः ॥ अनादिं—नित्यामित्यर्थः । कदाचन—वैवस्वतान्वन्तरीयाष्टाविंशतिचतुर्युगीयद्वापरावसाने इत्यर्थः।इत्थञ्च शान्तोदितत्वोक्तिर्दूरापास्ता१४०

भा०टी०—उपोद्घातकथाको समाप्तकरके अब यथार्थ विषय लिखा जाता है ॥

भगवान्के अजत्व और जन्मित्वका अविरोध स्थापन

व्रजलीला किसप्रकारसे हुई ?

अज—जन्महीन,होकरभी जात—जन्मको प्रकट कियाथा ॥ यदि कहो कि एकहीका अजत्व और जन्मित्व विरुद्ध होताहै (अज कभी जन्म नहीं लेता और उत्पन्न हुई वस्तु कभी अज नहीं होसकती) इस शंकाको दूर करनेके लिये लिखते हैं। भगवान्—अचिन्त्यैश्वर्यवैभव अर्थात् जिसका ऐश्वर्य वैभव किसीकी बुद्धिमें नहीं आती ॥ अनल जिसप्रकार उन स्थानोंमें तेजरूपसे किसी हेतुके वश हो मणी (पाषाणविशेष) और काष्ठादिसे उत्पन्न होजाता है वैसेही श्रीकृष्णजी कभी किसी कारणके वशसे अद्भुत और अनादि जन्मादिलीलाको प्राप्त किया करते हैं ॥ १४० ॥

---

१ "तद्देहेआविर्भावात्" इत्यत्र "तद्देहाविर्भावात्" इति पाठान्तरम् ।

स्वलीलाकीर्त्तिविस्ताराल्लोकेष्वनुजिघृक्षुता ।
अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः ॥
तथा भयंकरतरैः पीड्यमानेषु दानवैः ।
प्रियेषु करुणाप्यत्र हेतुरित्युक्तमेव हि ॥
भूमिभारापहाराय ब्रह्माद्यैस्त्रिदशेश्वरैः ।
अभ्यर्थनन्तु यत्तस्य तद्भवेदानुषङ्गिकम् ॥ १४१ ॥

टिप्पणी—ननु कृष्णस्य जगति प्रादुर्भावे को हेतुरिति चेत् ? तत्राह, स्वलीलेति । लोकेषु—साधकभक्तजनेष्वित्यर्थः । अयमर्थः—न खलु भूभारापहारस्तत्प्रादुर्भावस्य मुख्यहेतुः, तस्य तदाविष्टैरपि जीवैः सम्भवात्, पराशरेण अनेकराक्षसा ध्रुवेण च नाशिता इति स्मरणात्; किन्तु केषाञ्चित् साधकानां तत्स्वरूपगुणैकनिरतानां तत्साक्षात्कारमाकांक्षतां तेन विनातिव्यग्राणां श्रुतदेवबहुलाश्वप्रभृतीनां स्वसाक्षात्कृत्या आनन्दप्रदानं, तथा पूर्वमाविर्भावितेषु वसुदेवादिषु प्रेष्ठेषु तद्विद्रोहिकंसादिविनाशेन अनुकम्पा च, इति मुख्यं हेतुद्वयं; भूभारहरणन्तु आनुषङ्गिकं—गौणमिति ॥ १४१ ॥

जन्मादिलीला प्रगट करनेका मुख्य और गौण कारण ।

भा०टी०—अपनी लीलाके विस्तार करनेके हेतु साधक भक्तमंडलीपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे ही उनका जन्मादि लीलाको प्रगट करनेका मुख्य उद्देश्य है । और भयंकर दानवदलकरके पीडित हुए पूर्वाविर्भूत वसुदेवादि प्यारोंके प्रति कृपा होनाभी उनके अवतार लेनेका हेतु है, यह बात पहिलेही कह आये हैं ॥ पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ब्रह्मादिदेवताओंने जो प्रार्थना की, सो उनको अवतार लेनेका आनुषंगिक अर्थात् गौण कारण है ॥ १४१ ॥

चेदद्यापि दिदृक्षेरन्नुत्कण्ठार्त्ता निजप्रियाः ।
तां तां लीलां ततः कृष्णो दर्शयेत्तान्कृपानिधिः ॥
कैरपि प्रेमवैवश्यभाग्भिर्भागवतोत्तमैः ।
अद्यापि दृश्यते कृष्णः क्रीडन्वृन्दावनान्तरे ॥ १४२ ॥

टिप्पणी—जन्मादिलीला अनादिकेत्युक्तं, तत्प्रतिपादयति, चेदद्यापीत्यादिभ्याम् । नह्यसती शक्या दर्शयितुम्, अतो नित्या सा इति पुरः स्फुटीभविष्यति ॥ १४२ ॥

भा०टी०--यदि कोई कोई अपने प्रियजन उत्कण्ठामें भरकर अबभी देखनेकी अभिलाषा करें, तो कृपानिधान भगवान उनके सन्मुख उन उन लीलाओंको तत्काल दिखाया करते हैं ॥ कोई कोई भाग्यवान् भागवतोंमें श्रेष्ठ, प्रेममें भरविवश हो, अबलों वृन्दावनमें क्रीडामें आसक्त हुए श्रीकृष्णजीका साक्षात दर्शन किया करते हैं ॥ १४२ ॥

भक्त जन अबतक उन लीलाओंको देखते हैं ।

किञ्चास्य पार्षदादीनामप्युक्ता नित्यमूर्त्तिता ।
तस्मादीश्वरशिशुर्नित्यमूर्त्तित्वे का विचित्रता ॥
तथापि शुष्कवादैकनिष्ठानां हेतुवादिनाम् ।
तूष्णीम्भावाय वचनं पुराणादेर्विलिख्यते ॥

तथाहि श्रीभागवते ब्रह्मस्तुतौ (भा० १० । १४ । २२)–

"त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति ॥"

श्रीब्रह्माण्डे च–

"अनादेयमहेयञ्च रूपं भगवतो हरेः ।
आविर्भावतिरोभावावस्योक्ते ग्रहमोचने ॥"

श्रीबृहद्वैष्णवे–

"नित्यावतारो भगवान्नित्यमूर्त्तिर्जगत्पतिः ।
नित्यरूपो नित्यगंधो नित्यैश्वर्य्यसुखानुभूः ॥ १४३ ॥"

टिप्पणी--आविर्भावकनित्यत्वे आविर्भाव्यलीलाया नित्यता स्यादिति तन्नित्यतां कैमुत्येन दर्शयति, किञ्चेति । "एको वशी सर्वगः

---

१ पृथ्वीका भार उतारना भगवतके अवतार लेनेका मुख्य कारण नहीं होसक्ता । क्योंकि भगवतकी शक्तिसे आविष्कृतहुए जीवभी भूभार उतार सकेहैं,इसके लिये भगवानको अवतार लेनेका प्रयोजन नहीं । परन्तु भक्तकी आर्ति केवल भगवानही शान्ति करसकतेहैं । श्रुतदेव और बहुलाश्वादिकी समान भक्तोंको अपने दर्शनसे आनन्द देना, और अत्याचारी दानवदलका नाशकरके वसुदेवादि प्रियजनोंपर अनुग्रह करना, भगवानकी जन्मलीलाके विस्तारमें यही दो कारण मुख्य हुए ॥ १४२ ॥

२ समस्त शास्त्र युक्ति और महदनुभवसे यह प्रतिपादित करतेहैं कि श्रीकृष्णजीकी जन्मादिलीला अनादि हैं ॥ १४२ ॥

कृष्ण ईड्यः"(गो० ता० पू० २०) इत्युपक्रम्य "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।" (गो० ता० पू० २१) इति श्रवणात । यः—कृष्णः, नित्यश्चेतनएकः, नित्यानां चेतनानां बहूनां—"गोपगोपीगवावीतम्" (गो० ता० पू० १०) इति पूर्वत्र पठितानां परिकराणां, कामान्—वाञ्छितान, विदधाति—प्रकाशयन्नस्तीति तदर्थः ॥ अप्येवं, तथापीति—स्फुटार्थोदाहरणबाहुल्येन तेषां निरासः सम्भवेदित्यर्थः ॥ त्वय्येवेति । सदिव—स्वतन्त्रमिव, "सत्त्वं स्वातन्त्र्यमुद्दिष्टं तच्च कृष्णे न चापरे । अस्वातन्त्र्यात् तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारत ! ॥" इति महाभारतवचनात् ॥ चेदेवं, तर्हि "जगृहे पौरुषं रूपं" (भा० १ । ३ । १), "हरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः" (भा० ३ । ४ । २८) इति कथं ? तत्राह, अनादेयमिति, नित्यावतार इति च ॥ १४३ ॥

भा०टी०—जब कि उनके पार्षदगणभी शास्त्रमें नित्यमूर्ति कहलाये हैं, तब उन सर्वेश्वर श्रीकृष्णजीका नित्यमूर्त्ति होना कौनसी विचित्र बात है ॥ तथापि शुष्कवादनिष्ठ हेतुवादियोंका बोल बंद करनेको पुराणादिके वचन लिखे जाते हैं ॥ तैसेही श्रीभागवतकी ब्रह्मस्तुतिमें कहा है—"हे भगवन् ! तुम अनन्त और नित्यानंदविग्रह हो, नित्य ज्ञानतनु हो, यह जगत् तुममेंही अधिष्ठित हो रहा है । अत एव संसार यद्यपि मायासे उत्पन्न है अत एव नाशवान् है, तथापि जब कि तुम उसके अधिष्ठान हो, तब अधिष्ठानभूत तुम्हारेही गुणसे वह सत् या स्वतंत्रकी समान प्रतिभात हो रहा है ।" श्रीब्रह्माण्डपुराणमें भी—"भगवान श्रीहरिका रूप अनादेय और अत्याज्य है । उसका आविर्भाव और तिरोभावही ग्रहण और मोचन कहकर पुकारा जाता है ।" श्रीबृहद्विष्णुपुराणमें—"जगन्नाथ भगवानका अवतार, मूर्त्ति, रूप, गन्ध, ऐश्वर्य, सुख और अनुभव यह सबही नित्य हैं" ॥ १४३ ॥

भगवत्पार्षद व भगवानकी नित्यमूर्तिता और तिस विषयमें पुराणादिके वचन ।

पाद्मे श्रीव्यासाम्बरीषसंवादे—

श्रीकृष्णंप्रति श्रीव्यासवचनं (प०पु०,पा०ख०७३।१२—१३)—

"त्वामहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां मधुसूदन ! ।

यत्तत्सत्यं परं ब्रह्म जगद्योनिं जगत्पतिम् ॥

॥ आविर्भावक नित्य होनेपर आविर्भाव्य लीलाभी नित्य होगी, इसकारण आविर्भावकनित्यता दिखाते हैं; यथा—'जब कि उनके' इत्यादि ॥ १४३—१४९ ॥

वदन्ति वेदशिरसश्चाक्षुषं नाथ ! मेस्तु तत् ॥"
श्रीकृष्णवाक्यं (प० पु० पा० ख० ७३ । १७–१९)–
"पश्य त्वं दर्शयिष्यामि स्वरूपं वेदगोपितम् ।"
"ततोपश्यमहं भूप ! बालं कालाम्बुदप्रभम् ।
गोपकन्यावृतं गोपं हसन्तं गोपबालकैः ॥
कदम्बमूल आसीनं पीतवाससमच्युतम् ॥"
तत्रैवाग्रे (प० पु० पा० ख० ७३ । २३–२५)–
"ततो मामाह भगवान्वृन्दावनचरः स्मयन् ।
यदिदं मे त्वया दृष्टं रूपं दिव्यं सनातनम् ।
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं सच्चिदानन्दविग्रहम् ।
पूर्णं पद्मपलाशाक्षं नातः परतरं मम ॥
इदमेव वदन्त्येते वेदाः कारणकारणम् ॥
सत्यं व्यापि परानन्दं चिद्घनं शाश्वतं शिवम् ॥"
श्रीवासुदेवोपनिषदि (वा० उ० ३ ।५)–
"मद्रूपमद्वयं ब्रह्म मध्याद्यन्तविवर्जितम् ॥
स्वप्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम् ॥ १४४ ॥"इति।

टिप्पणी–सपार्षदस्य कृष्णस्य नित्यमूर्तितां स्फुटयति, त्वामहमित्यादिना । स्वयंरूपस्य मम पूर्णतमत्वम् एतद्वेशस्य एतत्परिकरस्य एतल्लीलस्य चेति भावः ॥ मद्रूपमिति–मन्मूर्तिरित्यर्थः, देहदेहिभेदविरहादिति भावः । एतेन सा दूरापास्ता ॥ १४४ ॥

भा०टी०–पद्मपुराणमें श्रीव्यासजी और अम्बरीषके संवादमें श्रीकृष्णजीके प्रति श्रीव्यासजीका वाक्य–"हे मधुसूदन ! मैं नेत्रोंके द्वारा तुम्हारा दर्शन करनेंकी इच्छा करता हूं। उपनिषद्गण सत्य, परब्रह्म, जगत्कारण और जगन्नाथ कहकर जिनको पुकारते हैं, हे नाथ ! उसही रूपका मुझे दर्शन दो ।" श्रीकृष्णजीका वाक्य–"तुमको अपना वेदगोपित स्वरूप दिखाऊंगा, दर्शन करो ।" "हे राजन् ! तदुपरान्त किशोरमूर्त्ति, नवघनश्याम, गोपियोंसे युक्त, गोपबालकोंके साथ हास्य करते हुए, कदम्बके मूलमें बैठेहुए, पीतवसन धारे गोपरूप श्रीकृष्णका मैंने दर्शन किया ।" फिर उस पद्मपुराणमेंही कहा है–"तत्प-

आत् वृन्दावनविहारी भगवान्जीनें मृदु मधुर हास्य करते करते मुझसे कहा, "तुमनें अलौकिक, सनातन, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, सच्चिदानन्दविग्रह, और पूर्ण पद्मपलाशलोचन जो सूर्यरूप मेरा दर्शन किया, इसके परे और तत्त्व नहीं है ॥ वेदगण इस रूपकोही सत्य कारणकारण, सत्य, सर्वव्यापि, परमानन्द, चिद्घन, शाश्वत, और मंगलमय कहा करते हैं ।" श्रीवासुदेवउपनिषदमें;–"आदिमध्यान्तशून्य, स्वप्रकाश, सच्चिदानंद, अव्यय और अद्वय ब्रह्म, इस प्रकारका हमारा रूप भक्तिके द्वाराही जाना जासकता है" ॥ १४४ ॥ इति ॥

नन्वरूपः स्वतः कृष्णो दृश्यो मायिकरूपतः ॥

तथाहि मोक्षधर्म्मे–

श्रीभगवद्वचनं यथा (म० भा०, शा० प० ३४१ । ४३–४५)–

"एतत्त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते ।

इच्छन्मुहूर्त्तान्नश्येयम् ईशोऽहं जगतांगुरुः ॥

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥" इति ।

तथा च पाद्मे–

"अनामरूप एवायं भगवान् हरिरीश्वरः ।

अकर्त्तेति च यो वेदैःस्मृतिभिश्चाभिधीयते ॥ १४५ ॥" इति ।

टिप्पणी–स्थूणानिखातन्यायेनाशङ्क्य समादधदाह, नन्विति । ज्ञानानन्दत्वात् स्वतोऽदृश्यः कृष्णो मायिकविशुद्धसत्त्वविग्रहयोगात्तु दृश्य इत्यर्थः॥ एतदर्थकं वाक्यमाह, एतत् त्वयेति–रूपित्वात् अन्यवत् भगवान् दृश्यत इति त्वया, न विज्ञेयम् । चेदिच्छामि तर्हीदं त्वद्दृष्टं रूपं हित्वा, नश्येयम्–अदृश्यः स्याम्, यत् अहम्, ईशः–ईदृग्रूपग्रहण-हानयोः समर्थः; मदन्यो हि तत्र समर्थो न भवेत ॥ ननु चेत् अरूपस्त्वं वस्तुतस्तर्हीदं रूपं कथं बिभर्षि ? तत्राह, माया ह्येषेति–मायिकं ममेदं रूपमित्यर्थः । सर्वभूतगुणैः–शब्दादिभिः पंचभिरित्यर्थः । नैवं त्वमिति–नीरूपं विज्ञानानन्दं मां जानीहीत्यर्थः ॥ १४५ ॥

भा०टी०—यदि कहो कि श्रीकृष्ण स्वतः अरूप (अदृश्य) हैं, परंतु मायिक-विग्रह योगसे क्या नयनगोचर हुआ करते हैं? तैसेही मोक्षधर्ममें श्रीभगवद्वचन यथा—" मैं रूपवान् कहलाकर नेत्रगोचर हुआ करताहूं, ऐसा तुम मत समझना । मैं समस्त कार्योंमें समर्थ और जगत्का गुरू हूं । अतएव इच्छा करनेपर मुहूर्तकालमें नाश होसकता या अदृश्य होसक्ताहूं ॥ हे नारद ! समस्तभूतगुणयुक्त अर्थात शब्दस्पर्शादियुक्तरूपसे मुझको जो देखताहै, यह मेरी उत्पन्न कीहुई माया है, मुझको इस प्रकारसे जानना तुमको उचित नहीं है" इति॥तथा च पद्मपुराणमें—" वेद और स्मृति जिसको अकर्ता और नामरूपरहित कहकर पुकारतीहैं वेही परमेश्वर भगवान् हरि हैं" ॥ १४५ ॥

नित्यमूर्तिताके विरुद्धमें शंकाताक्य ।

अत्र समाधानं यथा श्रीवासुदेवाध्यात्मे—

"अप्रसिद्धेस्तद्गुणानाम् अनामासौ प्रकीर्त्तितः ।
अप्राकृतत्वाद्रूपस्याप्यरूपोऽसावुदीर्य्यते ॥
सम्बन्धेन प्रधानस्य हरेर्नास्त्येव कर्त्तृता ।
अकर्त्तारमतः प्राहुः पुराणं तं पुराविदः ॥ १४६ ॥" इति ।

टिप्पणी—निरस्यति, अप्रसिद्धेरिति—कार्त्स्न्येन अवाच्यत्वादित्यर्थः, "कार्त्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः" (भा० १२ । ४ । ३९) इति स्मरणात; अनामशब्दस्य साकल्यावाच्यत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः । अरूपशब्दस्य त्वप्राकृतरूपत्वं तत् ॥ सम्बन्धेनेति—अकर्त्तृशब्दस्य प्रधानसम्बन्धाधीनकर्त्तृत्वराहित्यं तदित्यर्थः । स्वतः कर्त्तृत्वन्तु वर्त्तत एव, "तदैक्षत" (छा० उ० ६ । २ । ३), "सोऽकामयत" (तै० उ० २ । ६) इत्यादौ तत्सम्बन्धात् प्रागपि तच्छ्रवणात, प्रकृतिगन्धशून्येऽपि प्रदेशे विविधक्रीडाभिधानाच्च । तच्च "तस्मै स्वलोकम्" इत्यादिना प्राक् प्रतीतमेव ॥ १४६ ॥

भा०टी०—इस विषयका समाधान यथा श्रीवासुदेवाध्यातममें—"हरिगुणकी अप्रसिद्धिके वशसे अर्थात उसको साकल्यरूपसे न कह सकनेपर वह 'अनामा' कहलाते और रूप अप्राकृत होनेसे अरूप कहकर कीर्त्तित होते हैं । और प्रकृतिके सम्बन्धमें श्रीहरिका किसीप्रकारका कर्तृत्वही नहींहै, इस कारण पुरावृत्तके जाननेवालोंने उस पुराणपुरुषको अकर्त्ता, कहकर पुकारा है"॥ १४६ ॥ इति॥

उक्त शंकावाक्यका समाधान ।

अतश्च मोक्षधर्म्मीयवचनं योग्यमेव तत् ।
तथाहि–
रूपीति हेतोर्दृश्येत यथैव प्राकृतो जनः ।
तथासौ दृश्यत इति त्वया मा स्म विचार्य्यताम् ॥
इत्युक्ता स्वस्य रूपित्वेऽप्यदृश्यत्वमुदीरितम् ।
ततो निजस्वरूपस्याप्राकृतत्वञ्च दर्शितम् ॥
तद्दर्शने त्वकुण्ठात्मा ममेच्छैव च कारणम् ।
इत्याहेच्छन्मुहूर्त्तादित्यर्द्धपद्यं स्वयं पुनः ।
नश्येयमित्यदृश्यः स्यां यतो नशिरदर्शने ॥
तथापि भूतगुणकत्वेन मां त्वं यदीक्षसे ।
एषा माया मया सृष्टा नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥ १४७ ॥

टिप्पणी–चेदेवं तर्हि मोक्षधर्म्मवचनं कथं तथाह, इति चेत् ? तत्राह, अतश्चेति–हरेः प्राकृतेतररूपत्वादित्यर्थः । त्वया तु दुर्बुद्धिना प्राकृतरूपतया शङ्कितमिति ॥ तद्वाक्यस्य वास्तवमर्थं दर्शयति, तथा हीति ॥ रूपित्वेऽपीति–रूपवत्त्वेऽपि अदृश्यत्ववचनं तद्रूपस्या प्राकृतत्वं द्योतयतीत्यर्थः ॥ अप्राकृतस्वरूपस्य तस्य कथं दृशा ग्रहणमित्यत्राह, तद्दर्शने त्विति । तद्दर्शने तददर्शने च मदिच्छैव कारणमित्यर्थः । यद्दृशो-र्भक्त्यञ्जनं रञ्जयामि, स तत पश्यतीत्यर्थः ॥तथापीति॥माया–प्रतारण-शक्तिः, "माया दम्भे कृपायाञ्च" इति विश्वः, "माया स्याच्छाम्ब-रीबुद्ध्योः" इति त्रिकाण्डशेषः । यद्वा, ननु चेत् चिद्घनरूपस्त्वं, तर्हि दृशा तस्य ग्रहणं कथमिति ? तत्राह, यन्मां त्वं पश्यसि, एषा, माया–मदिच्छारूपा कृपापरपर्य्याया चिद्रूपा शक्तिः, मया, सृष्टा–प्रकटिता ॥ १४७ ॥

भा०टी०–इसकारण मोक्षधर्मका वह वचन योग्यही हुआ है तथाहि– रूपी कहकर जिसप्रकार प्राकृतव्यक्ति नेत्रगोचर होता है, वैसही भगवानभी दृष्टिगोचर हुआ करते हैं, तुम इस प्रकारका निश्चय मत करो ॥ भगवान्जीनें यह वार्त्ता कहकर रूपवत्ता होनेपरभी अपना अदृश्यत्व कीर्त्तन किया है । और इससे अपने

स्वरूपका अप्राकृतत्वभी दिखाया है । उस रूपके दर्शन और अदर्शनमें मेरी-

भगवादिच्छाही भगवन्मूर्तिदर्शनका कारण है ।

अकुण्ठित इच्छाही कारण है, इस अभिप्रायसे फिर स्वयं ' इच्छन्मुहूर्त्तो-न्नश्येहं " यह अर्द्धपद्य कहा । नश्येयं—अदृश्य होसकताहूं । कारण कि ' नश' धातुका अर्थ अदर्शन है ॥ तथापि मुझको जो भूतगणोंसे युक्त कहकर देखतेहो इस मायाको मैंनेंही उत्पन्न किया है । तुम इस प्रकारसे मुझको मत जानो ॥ १४७ ॥

मायाशब्देन कुत्रापि चिच्छक्तिरभिधीयते ॥
"स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः ।
अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम् ॥"
चतुर्वेदशिखायाम्—
इत्येषा दर्शिता मध्वाचार्य्यैर्भाष्ये निजे श्रुतिः ॥ १४८ ॥

टिप्पणी—मायाशब्दस्य तदर्थत्वे प्रमाणं, स्वरूपभेदभूतयेति । "आत्ममाया तदिच्छा स्यात्" इति महासंहितोक्तेः, "माया वयुनं ज्ञानम्" इति निघंटूक्तेश्च । तस्मात् चिद्घनरूपं मां त्वं जानीहि, सर्वभूतगुणैर्युक्तं—प्राकृतगुणवद्विग्रहं, मां ज्ञातुं नार्हसीति ॥ १४८ ॥

किसी २ स्थानमें मायाशब्दका अर्थ चिच्छक्तिहै ।

भा०टी०—मायाशब्दसे किसी २ स्थानमें चिच्छक्तिका भी अभिधान है ॥ " मायानामकस्वरूपभूता नित्यशक्तिद्वारा (चिच्छक्तिद्वारा) युक्त कहकर सनातन विष्णुजीको ' मायामय ' कहाकरते हैं । " मध्वाचार्यनें निजकृतवेदान्तभाष्यमें यह (चतुर्वेदशिखाउपनिषदकी) श्रुति दिखाईहै ॥ १४८ ॥

तत्र स्वेच्छैकप्रकाशत्वं—
मोक्षधर्म्मे एव (म० भा० शा० प० ३३८ । १२–२०)—
"प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेवः सनातनः ।
साक्षात्तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥"
"बृहस्पतिस्ततःक्रुद्धःस्रुचमुद्यम्यवेगितः ।
आकाशं घ्नन्स्रुचःपातै रोषादश्रूण्यवर्त्तयत् ॥"
"उद्यता यज्ञभागाहि साक्षात् प्राप्ताः सुरैरिह ।
किमर्थमिह न प्राप्तो दर्शनं स हरिर्विभुः ॥

ततःसतं समुद्भूतं भूमिपालो महावसुः ।
प्रसादयामास मुनिं सदस्यास्ते च सर्वशः ॥"
"अरोषणो ह्यसौ देवो यस्य भागोऽयमुद्यतः ।
नशक्यः स त्वयाद्रष्टुमस्माभिर्वाबृहस्पते ।
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति ॥"
तत्रैकतद्वितत्रितवाक्यम् (म० भा० शा०प० ३३८।२५-२७)-
"अथ व्रतस्यावभृथे वागुवाचाशरीरिणी ।
स्निग्धगम्भीरया वाचा प्रहर्षणकरी विभोः ॥"
"यूयं जिज्ञासवो भक्ताःकथं द्रक्ष्यथ तं विभुम्॥१४९॥" इति ।

टिप्पणी-स्वेच्छया कृपया प्रत्यक्षत्वं द्रढयन् विशदयति, प्रीतस्ततोऽस्येति। तम्-उपरिचरं वसुं प्रति, आत्मानमिति शेषः ॥ स्रुचं-यज्ञाङ्गं पात्रं, येन हविर्विनिक्षिप्यते। वेगितः-त्वरितः सन् ॥ उद्यताः-अर्पिताः॥तं-बृहस्पतिं,समुद्भूतम्-अतिक्रुद्धम्। महावसुः-उपरिचरः ॥ उद्यतः-त्वया अर्पितः। अध्वर्य्युणा बृहस्पतिना दत्ता भागाः सर्वैः सुरैर्गृहीताः, तत्र सर्वे देवाः प्रत्यक्षाः सन्तो भागान् जगृहुः, विष्णुस्त्वप्रत्यक्ष एव सन् भागं जग्राह, ततस्तस्याध्वर्य्योः क्रोधोऽभूत, तदा वस्वादिभिस्तस्य प्रसादनं कृतमिति ॥ तत्रैवेति। एकतादयः-मुनयस्त्रयः, तेषां वाक्यम् ॥ वाक्-गीर्देवी, अशरीरिणी-अदृश्या सती, उवाच ॥ १४९ ॥

भा०टी०--तिसमें केवल अपनी इच्छासे भगवन्मूर्तिके प्रकाशकी कथा, उसमें मोक्षधर्ममेंही कही है-"अनन्तर देवदेव सनातन भगवान्ने, उस उपरिचर वसुके प्रति प्रसन्न हो औरोंके अदृश्य होनेपरभी उसको साक्षात् दर्शन दिया था।" "तदुपरान्त बृहस्पतिजीने क्रोधसहित सवेग स्रुक् (यज्ञपात्रविशेष) को उठायकर तिससे आकाशको आहत करते करते रोषमें भर आँसू डालकर कहा था।" "इस यज्ञमें देवताओंने प्रत्यक्ष हो दियेहुए यज्ञभागको ग्रहण किया । परन्तु किस कारणसे विभु हरिने इस यज्ञमें दर्शन न दिया ? ॥" इसके उपरान्त वह महीपाल उपरिचर वसु और सभासदलोग अत्यन्त क्रोधित हुए उन सुराचार्यको सर्व प्रकारसे प्रसन्न

उक्त स्वेच्छैकप्रकाशत्वसम्बन्धमें पोषक प्रमाण।

करने लगे ।" हे बृहस्पते ! तुमने जिसको यज्ञभाग अर्पण किया है, वह क्रोधरहित हैं । तुम और हमलोग उनके दर्शन करनेको समर्थ नहीं हैं । उनको वही देखपाता है जिसपर वह कृपा करते हैं ॥" उसही मोक्षधर्ममें एकत, द्वित, और त्रितनामक तीन ऋषियोंका वाक्य—"अनन्तर उस यज्ञके अवभृथ समयमें सरस्वतीजीने अलक्षितभावसे रहकर भगवानका आनंद संचार करते करते स्निग्ध और गंभीर वचनसे कहा था । हे भक्तवर्ग ! तुम लोग जिज्ञासु हो, अत एव किस प्रकारसे उन विभुका दर्शन करोगे ?" ॥ १४९ ॥ इति ॥

ततः स्वयं प्रकाशत्वभक्त्या स्वेच्छाप्रकाशया ।
सोऽभिव्यक्तोभवेन्नेत्रे न नेत्रविषयत्वतः ॥
यथा श्रीनारायणाध्यात्मे—
नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजशक्तितः ॥
तामृते परमात्मानं कः पश्येत्तामितं प्रभुम् ॥" इति ।
पाद्मे च—
"सच्चिदानन्दरूपत्वात्स्यात्कृष्णोऽधोक्षजोऽप्यसौ ।
निजशक्तेः प्रभावेन स्वं भक्तान्दर्शयेत्प्रभुः ॥ १५० ॥" इति ।

टिप्पणी—उदाहृतवाक्यानां तात्पर्य्यमाह, ततः स्वयमिति । तथा च कृपाशक्त्या धातृनेत्रयोर्हरेः प्रकाशं, न तु कृपां विना तयोस्तत्र सामर्थ्यम्, इति स्वप्रकाशचिद्घनरूपत्वं सिद्धमिति ॥ एतत्स्फुटयति, नित्याव्यक्तोऽपीति द्वाभ्याम् । निजशक्तितः—कृपातः ॥ अधोक्षजः—अधःकृतचक्षुर्जन्यज्ञानः, अचाक्षुषोऽपीत्यर्थः ॥ १५० ॥

भा०टी०—अत एव वह भगवान् अपनी इच्छासे प्रकाशमान हुई स्वयंप्रकाशशक्तिकरके नेत्रोंमें अभिव्यक्त हुआ करते हैं; परन्तु नेत्रका विषय होनेके कारण नेत्रमें अभिव्यक्त नहीं होते ॥ यथा श्रीनारायणाध्यात्ममें—"भगवानने स्वभावतः अव्यक्त होकर भी निज

---

१ और देवताओंने प्रत्यक्ष होकर यज्ञभागको ग्रहणकियाथा परन्तु विष्णुजीने अप्रत्यक्ष रहकरही यज्ञभागको ग्रहणकिया ॥ इसकारणसेही अध्वर्य्यु बृहस्पतिजीको क्रोधहुआथा ॥ १४९ ॥

२ भगवानकी कृपाशक्ति करके ध्यानकरनेवालोंके दोनों नेत्र प्रकाशमान हुआ करतेहैं । कृपाशक्तिके विना भगवानको प्रकाश करनेमें दोनों नेत्रोंकी सामर्थ्य नहीं होती । इससे भगवद्रूपकी चिद्घनता सिद्ध हुई ॥ १५०–१५२ ॥

शक्तिद्वारा (स्वरूपशक्ति) दृष्टिगोचर हुआकरते हैं ॥ उस स्वरूपशक्तिके विना कौन अपरिमेय प्रभु परमात्मा हरिको देखसकता है?" इति ॥ पद्मपुराणमें कहाहै-"भगवान्, श्रीकृष्ण, सच्चिदानन्दविग्रह, सुतराम् अधोक्षज (अचाक्षुप) हो करभी अपनी शक्तिके प्रभावसे भक्तजनोंके नेत्रोंमें अपनेको प्रकाश किया करते हैं" ॥ १५० ॥ इति ॥

य एव विग्रहो व्यापी परिच्छिन्नः स एवहि ।
एकस्यैवैकदा चास्य द्विरूपत्वं विराजते ॥
यथा श्रीदशमे (भा० १० । ९ । १३-१४)-
"न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥" इति ।
अनेन पद्ययुग्मेन व्रजराजसुतस्य हि ।
दामबन्धनवेलायामेव व्यक्ता द्विरूपता ॥ १५१ ॥

टिप्पणी-हरेर्लीला अनादिकेत्युक्तं; नित्या सेति वक्ष्यते । तत्रैवं विमुखशङ्का-परिच्छिन्नस्यैव खलु लीला, नतु नभोनिभस्य विभोः सास्ति; यद्याद्यस्य वाच्या, तर्हि तस्य अनित्यत्वात् तत्कृतायास्तस्याश्च तत् असन्देहम्, इति चेत् ? तत्राह, य एवेति । परिच्छिन्नस्य व्यापकत्वं युगपदसंख्यसिद्धभावध्यातृगोचरत्वात् बोध्यम् ॥ एकस्योभयधर्म्मशालितायां प्रमाणं, न चान्तरिति । अयमस्य वर्त्तुलितोऽर्थः-यस्यान्तर्बहिरादिदेशपरिच्छेदो नास्ति, अतो यो जगतः पूर्वादिषु देशेषु युगपत् वर्त्तते, यश्च क्षेत्रज्ञप्रकृतिमान् जगन्मयस्तम्, आत्मजं-सुतं, गोपी-व्रजेश्वरी, "गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावत्" (भा० १ । ८ । ३१) इति कुन्तीवाक्यात्, सापराधं मत्वा उलूखले दाम्ना बबन्ध । तं कीदृशम् ? इत्याह, मर्त्यलिङ्गं-"द्विभुजं मौनमुद्राढ्यम्" (गो० ता०, पू० १०) इति श्रुतेः मनुष्याकृतिम्, अधोक्षजं-परित्यक्तैन्द्रियकसुखं, स्वरूपानुबन्धिनित्यानन्तसुखमिति ॥ उदाहरणार्थं ग्राहयति, अनेनेति ॥ १५१ ॥

भा०टी०--भगवानका जो विग्रह सर्वव्यापी है, वह विग्रहही परिच्छिन्न है । अतएव एकही कृष्णजीकी एकसमयमें द्विरूपता (सर्वव्यापकत्व और परिच्छिन्नत्व)विराजमान होरही है॥यथा—श्रीदशममें—"जिसका अभ्यन्तर देश और तिसका प्रतियोगी बहिर्देशभी नहीं है, जिसका पूर्व और अपरभी नहीं है।। जो भगवान् अन्तरमें और बाहिरदेशमें व्यापकर विद्यमान हैं और जो जगन्मय हैं । यशोदाने उन अव्यक्त, अधोक्षज, नराकार श्रीकृष्णजीको पुत्र समझकर प्राकृत बालककी समान रस्सीसे उलूखलमें बांधाथा" इन दो श्लोकोंसे दामबन्धनके समयमें व्रजराजकुमारकी द्विरूपताही अभिव्यक्त हुई है ॥ १५१ ॥

भगवद्विग्रहका सर्वव्यापकत्व और परिच्छिन्नत्व।

तथैव च पुराणेषु श्रीमद्भागवतादिषु ।
श्रूयते कृष्णलीलानां नित्यता स्फुटमेव हि ॥ १५२ ॥

टिप्पणी—तथैवेति—यथा कृष्णस्याचिन्त्यशक्तिर्ना द्विरूपतोक्ता, तथैव लीला तस्य तत एव नित्योच्यते इत्यर्थः । अत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते—लीलायाः क्रियात्वात् प्रत्यंशमप्यारम्भपूर्तिभ्यां तस्याः सिद्धिर्वाच्या, ते विना तत्स्वरूपं न सिध्येत, तथा च तदुभयवत्त्वेन विनाशध्रौव्यात् कथं सा नित्येति ? अत्रोच्यते परेशे हरौ "एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति" (गो० ता०, पू० २०), "एकानेकस्वरूपाय" (वि० पु० १ । २ । ३) इत्यादिप्रामाण्येन आकारानन्त्यात्, "स एकधा भवति द्विधा" (छा० उ० ७ । २६ । २ ।) इत्यादिप्रामाण्येन पार्षदानन्त्यात्, "परमं पदमवभाति भूरि" इत्यादिप्रामाण्येन स्थानानन्त्याच्च नानित्यत्वं तस्याः । तत्तदाकारादिगतयोस्तत्तदारम्भपूर्त्योः सत्त्वेऽप्येकत्रैकत्र तत्तल्लीलांशा यावत् समाप्यन्ते न वा, तावदेवान्यत्रान्यत्रारब्धास्ते भवेयुरित्येवमविच्छेदात् सिद्धं नित्यत्वम् । ननु अस्तु अविच्छेदः, पृथगारम्भात् अन्यत्वं दुर्निवारमिति चेत् ? उच्यते । कालभेदेनोदितानामप्येकरूपाणां लीलानामैक्यं,यथा 'द्विः पाकोऽनेन कृतो नतु द्वौ पाकाविति द्विर्गोशब्दोऽयमुच्चरितो नतु द्वौ गोशब्दाविति' (ब्र० सू० १ । ३ । २८ शां० भा० ३ । ३ । ११ गो० भा०) पाकैक्यं शब्दैक्यञ्च मन्यन्ते, तद्वत् तत्तदाकारादीनां चतुर्णामैक्याच्च न काचिच्छङ्का । इत्थञ्च "एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा ।" इत्यादिश्रुतेर्वक्ष्यमाणस्मृतीनाञ्चानुग्रहः ॥ १५२ ॥

भा०टी०—वैसेही श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमेंभी श्रीकृष्णजीकी नित्यता स्पष्टही सुनी जाती है ॥ १५२ ॥

यथा च श्रीप्रथमे श्रीद्वारकावासिवचनम् (भा० १ । १० २६)-

"अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलम्
अहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् ।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः प्रियः
स्वजन्मना चंक्रमणेन चाञ्चति ॥" इति ।

अञ्चतीति पदं वर्त्तमानकालोपपादकम् ।
द्वारकावासिनामुक्तौ लीलानां वक्ति नित्यताम् ॥

श्रीदशमे श्रीशुकोक्तौ (भा० १० । ९० । ४८)-

"जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्म्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन्कामदेवम् ॥ १५३ ॥"

टिप्पणी--एवं सिद्धां लीलानित्यतां प्रमाणवचनैर्द्रढयति । अहो अलमिति । हस्तिनावासिवचनमेतत् द्वारकावासिवचनत्वेनोक्तं, तद्वासिनां द्वारिकापरिकरत्वादिति बोध्यम् । यदोः, कुलं-वंशः, "कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च ।" इति मेदिनी; यत्र नन्दो वसुदेवश्च बभूव । यत्-यतः, एषः-श्रीकृष्णः, जातः सन्, पुंसां-त्रयाणाम्, ऋषभः-श्रेष्ठः, अंशीत्यर्थः । श्रियः-लक्ष्म्याः, श्रीराधायाः श्रीरुक्मिण्याश्च, प्रियः-कान्तः । चंक्रमणेन-विहारेणेत्यर्थः । अञ्चतीति-वर्त्तमाने लट्, वर्त्तमानत्वं प्रारब्धापरिसमाप्तत्वम् । कृष्णस्य मौषललीलां वर्णयन् श्रीशुकः राज्ञस्तदेकान्तिनः प्रमोदाय स्वसिद्धान्तमादौ कथयति, जयतीति । एतावता ग्रन्थेन यो निगदितमहिमलीलः, स खलु भगवान् कृष्णस्तादृवरूपेणाधुनापि चकास्तीति त्वया ज्ञेयं, न तु मौषलचरितश्रुत्या विपरीतं भाव्यं; यदसौ बहिर्दृष्टिजनागोचरस्तथैव व्रजे पुरे च, वनितानाम्-अनुरागार्त्तानां प्रेयसीनां, कामदेवं वर्द्धयञ्जयतीति, "वनिता जनितात्यर्थानुरागायाञ्च योषिति ।" इत्यमरः । देवक्यां-श्रीयशोदायां देवकपुत्र्याञ्च, जन्मेति, वादः-प्रसिद्धिः, यस्य सः, "द्वेनाम्नी नन्दभार्य्याया यशोदा देवकीति च ।" इति आदि-

पुराणवचनात्, तत्तदात्मजत्वाभिमानीत्यर्थः; तत्त्वबुभुत्सुकथा हि वादः। यदुवराः—श्रीनन्दादयः श्रीवसुदेवादयश्च, ते, परिषदः—परिकराः, यस्य सः, स्वैः—स्वभुजतुल्यैः श्रीदामादिभिः सात्यक्यादिभिश्च, अधर्मं निरस्यन् । यदा शुकः कथामाख्यत ततोऽतिपूर्वं हरेस्तिरोधानमभूत, तथापि वर्त्तमानप्रयोगस्तल्लीलाया नित्यतायामेव संभवेत, नान्यथा ॥ १५३ ॥

भा०टी०—जैसे श्रीप्रथममें श्रीद्वारिकावासियोंकी उक्ति—"अहो ! यदुवंश अत्यन्तही श्लाघ्यतम है । अहो ! मधुवन अतीव पुण्यतम है । क्योंकि पुरुषोत्तम श्रीकान्त अपने जन्मसे यदुकुलको और विहार करके मधुवनको सत्कृत करते हैं ॥" इति ॥ द्वारकावासियोंकी उक्तिमें वर्त्तमान कालका उपपादक "अंचति" यह क्रियापद श्रीकृष्णजीकी नित्यताको प्रतिपादन करता है ॥ श्रीदशममें श्रीशुककी उक्ति—'जो जनगणोंके निवास वा आश्रयस्वरूप हैं, देवकीमें जिनके जन्मकी प्रसिद्धि है, यादवगण जिनके परिकर हैं, जो अपनी भक्तरूप भुजाद्वारा अधर्मको दूर फेंकदेतेहैं, स्थावर और जंगम समस्त संसारके प्राणियोंका नाश करदेतेहैं और मुसकानयुक्त श्रीमुखद्वारा व्रजवनिता और पुरस्त्रियोंके काम (प्रेम) को वर्द्धन करते हैं, वह श्रीकृष्णजी अपनी श्रेष्ठताको प्रगटकरके सबके ऊपर विराजमान हो रहे हैं ॥ १५३ ॥"

श्रीकृष्णलीलाकी नित्यता

श्रीस्कान्दे श्रीमथुराखण्डे श्रीयुधिष्ठिरं प्रति श्रीनारदवाक्यं—

"वत्सैर्वत्सतरीभिश्च साकं क्रीडति माधवः ।
वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः ॥" इति ।
यदानयोस्तु संवादो द्वारवत्यां हरिस्तदा ।
तथापि वर्त्तमानत्वे नोक्तिस्तन्नैत्यवाचिका ॥

---

१ द्वारिकालीलाके अन्तर्गत हस्तिनपुरलीला है, यह निमित्त परवर्त्ती श्लोक हस्तिनापुरवासिनी कुरुरमणियोंसे कहा जाकरभी द्वारकावासियोंकी उक्ति कहागयाहै ॥ १५२ ॥

२ जो क्रियाके पहिले आरंभहुयीहै, परन्तु परिसमाप्ति नहीं हुई, उस क्रियाकोही वर्त्तमानकालकी क्रिया कहतेहैं । श्रीकृष्णलीला अनादि कालसे आरंभ हुई है, परन्तु किसी न किसी ब्रह्माण्डमें उन लीलाओंके धारावाहिकरूपसे विद्यमान होनेपर किसी कालमेंभी उन लीलाओंके समाप्त होनेकी संभावना नहीं । अतएव "अंचति" इस पदसे यही प्रतिपादन किया, अतएव श्रीकृष्णलीला नित्य है ॥ १५३-१५५ ॥

पाद्मे पातालखण्डे श्रीपार्वतीं प्रति श्रीरुद्रवाक्यम्—

"अहो मधुपुरी धन्या यत्र तिष्ठति कंसहा ।
तत्र देवा मुनिः सर्वे वासमिच्छन्ति सर्वदा ॥ १५४ ॥" इति ।

टिप्पणी—अनयोरिति—युधिष्ठिरनारदयोः । नैत्यं—नित्यता, ब्राह्मणादित्वात भावे ष्यञ्, "हलो यमां यमि" इति यलोपः ॥ मधुपुरीति—मथुरामण्डलं बोध्यते ॥ १५४ ॥

भा०टी०—श्रीस्कन्दपुराणके श्रीमथुराखण्डमें श्रीयुधिष्ठिरके प्रति श्रीनारदजीका वाक्य—"वृन्दावनमें श्रीकृष्ण बलदेवके साथ व्रजबालकवृन्दोंसे परिवृत हो बछडे और वत्सतरियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं।" जिसकालमें नारदयुधिष्ठिरसंवाद हुआ उसकाल श्रीकृष्णजी द्वारकामें थे; तथापि "क्रीडति" इस वर्त्तमान क्रियापदका प्रयोग, कृष्णलीलाकी नित्यताको व्यक्त करता है ॥ पद्मपुराणके पातालखण्डमें श्रीपार्वतीजीके प्रति महादेवजीका वाक्य— "जहांपर कंससंहारकारी श्रीकृष्णजी विराजमान हैं, अहो ! वह मधुपुरीही धन्या है ! उस स्थानमें मुनि और देवगण समस्तही सदा वासकरनेकी अभिलाषा करते हैं" ॥ १५४ ॥ इति ।

लीलापरिकराः प्रेष्टजनाः स्युर्यादवास्तथा ।
देवाश्च ब्रह्मजम्भारिकुबेरतनयादयः ।
नारदाद्याश्च दनुजनागयक्षादयश्च ते ॥ १५५ ॥

टिप्पणी—लीलाः परिकरैः सम्बन्धा भवन्त्यतस्तानाह, लीलेति । जम्भारिः—इन्द्रः । दनुजः—केशी, नागः—कालियः, यक्षः—शंखचूडः, तत्प्रभृतयस्तत्परिकरास्तदङ्गानीत्यर्थः । नित्यधाम्नि दनुजादय एते दुर्गादिवत अप्राकृता बोध्याः; "न यत्र माया" इति प्रामाण्यात् तत्र प्राकृतानाम् अभावात । तत्र लीलास्ता अनुकरणरूपा एव ॥ १५५ ॥

भा०टी०—व्रजवासी, यादवगण, ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेरकुमार नलकूबर मणिग्रीवआदि देवगण, नारदादि मुनिगण, केशिआदि दानवगण, कालियआदि नागगण और शंखचूडप्रभृति यक्षगण यह समस्तही लीलापरिकर हैं ॥ १५५ ॥

लीलापरिकरवर्ग

प्रकटाऽप्रकटा चेति लीला सेयं द्विधोच्यते ॥
तथाहि—
सदानन्तैः प्रकाशैः स्वैर्लीलाभिश्च स दीव्यति ।

१ नित्यधाममें लीलापरिकरोंके मध्य जो दनुजादिका लेख हुआ, वे समस्तही अप्राकृत हैं ॥ १५५–१६१ ॥

तत्रैकेन प्रकाशेन कदाचिज्जगदन्तरे ।
सहैव स्वपरीवारैर्जन्मादि कुरुते हरिः ॥ १५६ ॥

टिप्पणी—लीला सा द्वेधेत्याह, प्रकटेति ॥ द्वैविध्यं दर्शयति, तथा हीति ॥ स दीव्यति—प्रपञ्चागोचरे धामसु । तत्रेति—तेषु प्रकाशेषु मध्ये । जगदन्तरे-प्रपञ्चमध्ये, जगन्ति अन्तरे यस्य तस्मिन् वृन्दावने वा इत्येके । एकेन प्रकाशेन स्वपरीवारैः सह प्रादुर्भूय हरिर्जन्मादि कुरुते ॥ १५६ ॥

लीला दो प्रकारकी हैं प्रगट और अप्रगट ।

भा०टी०—वह लीला 'प्रगट' और 'अप्रगट' भेदसे दो प्रकारकी हैं ॥ तथाहि—वह श्रीकृष्णजी, स्वरूपभूत अनन्त प्रकाश और लीलाद्वारा सदाही क्रीड़ा करते हैं । कदाचित् वह उस अनन्त प्रकाशके मध्यमें एक प्रकाशमें अपने परिवारके साथ दूसरे जगतमें प्रादुर्भूत होकर जन्मादि लीलाको विस्तार किया करते हैं ॥ १५६ ॥

कृष्णभावानुसारेण लीलाख्या शक्तिरेव सा ।
तेषां परिकराणाञ्च तं तं भावं विभावयेत् ॥ १५७ ॥

टिप्पणी—ननु ब्रह्मादयश्चेत लीलापरिकरास्तेषां भगवति प्रातिकूल्याचारः कथं ? तत्राह, कृष्णभावेति—कृष्णचेष्टानुगत्येत्यर्थः । ततं, भावम्—स्वभावम् । अयमभिप्रायः—'अस्मत्प्रातिकूल्येनापि चेत् प्रभोस्तत्तल्लीला सिध्येत्, तर्हि भवतु तदस्माकम्' इति तेषामिच्छायां सत्यां तल्लीलाशक्तिस्तत प्रतिपादयति, इति न भगवति किञ्चित असामञ्जस्यम ॥ १५७ ॥

लीलापरिकरगणोंका भगवान्की प्रतिकूलता करनेका कारण ।

भा०टी०—वह लीलानामवाली शक्तिही श्रीकृष्णजीके अभिप्रायके अनुसार उन समस्त परिकरोंका वैसा (अनुकूल और प्रतिकूल) स्वभाव उत्पन्न करदेती है ॥ १५७ ॥

प्रपञ्चगोचरत्वेन सा लीला प्रकटा स्मृता ।
अन्यास्त्वप्रकटा भान्ति तादृश्यस्तदगोचराः ॥
तत्र प्रकटलीलायामेव स्यातां गमागमौ ।
गोकुले मथुरायाञ्च द्वारवत्याञ्च शार्ङ्गिणः ॥
यास्तत्रतत्राप्रकटास्तत्र तत्रैव सन्ति ताः ।
इत्याह जयतीत्यादिपद्यादिकमभीक्ष्णशः ॥ १५८ ॥

टिप्पणी—प्रकटाप्रकटे लीले लक्षयति, प्रपञ्चेति । तद्गोचराः—प्रपञ्चादृश्याः ॥ गोकुले, शार्ङ्गिणः—शृङ्गधरस्य, शृङ्गमेव शार्ङ्गं, स्वार्थिकः प्रज्ञाद्यण, "वेणुशृङ्गधरस्तु वा" इति श्रवणात् ॥ तत्र तत्र—गोकुलादिष्वेवादृश्येषु प्रकाशेषु । ननु प्राकृतिके प्रलये प्रपञ्चविनाशात् तद्गता लीला न स्यात्, ततस्तदनित्यत्वमितिचेत् ? मैवं भ्रमितव्यं, प्रपञ्चगोचरत्वाभावेऽपि लीलाव्यक्तेरनाशात्, 'शिखीध्वस्तः' इतिवत् ॥ १५८ ॥

भा०टी०—प्रपंचके गोचर होनेपर उस लीलाको 'प्रकट' लीला कहते हैं । तिसके सिवाय और समस्तही 'अप्रकट' लीला हैं । यह अप्रकट लीला प्रपंचके गोचर नहीं होती ॥ तिनके मध्य प्रकटलीलामेंही श्रीकृष्णजीका गोकुल, मथुरा और द्वारकामें आना जाना हुआ करता है ॥ जो जो लीलाएं गोकुलादिके और स्थानोंमें अप्रकट होती हैं, वे लीलाएं उन गोकुलादिकेही अदृश्य प्रकाशमें विद्यमान रहती हैं, यह वार्ताही "जयति जननिवासः" इत्यादि श्लोकसमूह वारंवार प्रकाश करते हैं ॥ १५८ ॥

'प्रकट' और 'अप्रकट' लीलाका लक्षण ।

देवाद्यंशावतरणे प्रवृत्ते पद्मजाज्ञया ।
वसुदेवादिकानां ये स्वर्गेऽंशाः कश्यपादयः ।
नित्यलीलान्तरस्थैस्ते वसुदेवादिभिर्गताः ।
सायुज्यमंशिभिस्तत्र जायन्ते शूरमुख्यतः ॥ १५९ ॥

टिप्पणी—अथ प्रकटायाश्च प्रवृत्तौ प्रकारमाह, देवाद्यंशेति । पद्मजाज्ञया—"गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह । गां पौरुषीं मे शृणुतामराः ! पुनर्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम्॥ पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् । स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥" (भा० १० । १ । २१–२२) इति श्रीदशमोक्तप्रकारेण देवान् प्रति ब्रह्मनिदेशेन, देवाद्यंशावतरणे प्रवृत्ते सति ये स्वर्गे वसुदेवनन्दादिकानां नित्यपरिकराणाम्, अंशाः—उपसर्जनीभूताः कश्यपद्रोणादयः, ते नित्यलीलान्तरस्थैस्तैर्वसुदेवनन्दादिभिरंशिभिरवतरद्भिः सह, सायुज्यं—सहयोगं, गताः सन्तः शूरपर्जन्यादिभ्यो जायन्ते । तेऽपि वसुदेवादिनामानो भवन्तीति वसुदेवनन्दादीनां तन्नित्यपरिकरत्वम्। "अथ ब्रह्मादिदेवानां तथा प्रार्थनया भुवः । आगतोऽहं गणाः सर्वे जातास्तेऽपि

मया सह ॥ एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भामिनि ! । सर्वदा मत्प्रिया देवि ! मत्तुल्यगुणशालिनः ॥" इति पाद्मे भामां प्रति कृष्णोक्तेः; तत्रैव, "पश्य त्वं दर्शयिष्यामि स्वरूपं वेदगोपितम् । ततोऽपश्यमहं भूप ! बालं कालाम्बुदप्रभम् । गोपकन्यावृतं गोपं हसन्तं गोपबालकैः ॥" इत्यम्बरीषं प्रति श्रीव्यासोक्तिश्च । गोपबालकैरिति नन्दादीनामाक्षेपकम् ॥ १५९ ॥

भा० टी०—ब्रह्मादिकी आज्ञामें देवादिकी अंशपरम्परा जब अवतरण करनेमें प्रवृत्त होती है, तब वसुदेवादिके अंश स्वर्गमें स्थित जो कश्यपादि हैं वे नित्यलीलास्थित वसुदेवादि अंशियोंके साथ सायुज्य प्राप्त करके शूरप्रभृतिसे मथुरामें उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ १५९ ॥

प्रकटलीलाका आरंभप्रकार ।

यद्विलासो महाश्रीशः स लीलापुरुषोत्तमः ।
आविर्बुभूषुरत्राविष्कृत्य सङ्कर्षणं पुरः ।
अन्तःस्थिताविष्कर्त्तव्यतदन्यव्यूहईश्वरः ।
हृदये प्रकटस्तस्य भवत्यानकदुन्दुभेः ॥
भूमिभारनिरासाय देवानामभियाच्ञया ।
द्वापरस्यावसानेऽस्मिन्नष्टाविंशे चतुर्युगे ।
क्षीराब्धिशायि यद्रूपमनिरुद्धतया स्मृतम् ।
तदिदं हृदयस्थेन रूपेणानकदुन्दुभेः ।
ऐक्यं प्राप्य ततो गच्छेत्प्राकट्यं देवकीहृदि ॥
प्रेमानन्दामृतैस्तस्या वात्सल्यैकस्वरूपिभिः ।
लाल्यमानो हरिस्तत्र वर्द्धते चन्द्रमा इव ॥ १६० ॥

टिप्पणी—एवं पित्रादिष्ववतीर्णेषु कृष्णस्यावतारमाह, यद्विलास इति । पुरुषोत्तमः—श्रीकृष्णः, अत्र—गोकुले मधुपुरे च । तदन्येति—प्रद्युम्नानिरुद्धौ बोध्यौ । आनकदुन्दुभेर्हृदये प्रकटो भवति, "आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥" (भा० १० । २ । १६) इति श्रीशुकोक्तेः ॥ ननु लीलापुरुषोत्तमस्य कृष्णस्य क्षीरसिन्धुलीला व्रजे कस्मात् ? तत्राह, भूमीति । द्वापरस्येति—श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशे चतुर्युगे द्वापरशेषे इत्यर्थः । एवमुक्तं मात्स्ये—"अस्मात्

गाथन्तरात कल्पात् त्रयोविंशतिमो यदा । वाराहो भविता कल्पस्त-स्मिन मन्वन्तरे शुभे ॥ वैवस्वताख्ये सम्प्राप्ते सप्तमे सप्तलोकधृक् । द्वापराख्यं युगं तस्मिन्नष्टाविंशतिमं यदा ॥ तस्यान्ते च महालीलो वासुदेवो जनार्दनः । भारावतारणार्थाय त्रिधा विष्णुर्भविष्यति । द्वैपायनो मुनिस्तद्वत रौहिणेयोऽथ केशवः ॥" इति । अनिरुद्धतया भारते स्मृतं यद्रूपं क्षीराब्धिशायि, तदिदमानकदुन्दुभेर्हृदयस्थेन स्वयं भगवता रूपेण कृष्णेन सहैक्यं प्राप्य देवकीहार्दि प्राकट्यं गच्छे-दित्यन्वयः, "ततो जगन्मंगलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी । दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः ॥" (भा० १० । २ । १८) इति श्रीशुकोक्तेः । यद्यपि देवकीहृदीत्युक्तं, तथापि तद्गर्भस्थितिर्बोध्या, "दिष्ट्याम्ब! ते कुक्षिगतः परः पुमान्" (भा० १० । २ । ४१) इति देवस्तोत्रात ॥ प्रेमानन्देत्यादि-सार्व्वत्रिकमगू-ढार्थम ॥ १६० ॥

भा०टी०—महालक्ष्मीपति नारायणजी जिसके विलासकी मूर्ति हैं, वह लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णजी मथुरामें आनेके अभिलाषी हो प्रथम संकर्षणव्यूहका आविर्भाव करतेहुए, तदुपरान्त वह परमेश्वर, अपने अन्तरमें स्थित प्रद्युम्न व अनिरुद्धनामक, दो व्यूहको समयानुसार आविष्कृत करेंगे ऐसा निश्चय करके आनकदुन्दुभिके हृदयमें प्रगट हुए ॥ इसके उपरान्त देवताओंकी प्रार्थनासे पृथ्वीका भार उतारनेके लिये वैवस्वतमन्वन्तरकी अट्ठाईसवीं चौकड़ीके द्वापरके अंतमें क्षीरोदशायी अनिरुद्ध, वसुदेवजीके हृदयवाले श्रीकृष्णरूपके साथ एक्यता प्राप्तहो आनकदुन्दुभिके हृदयसे देवकीके हृदयमें प्रकट हुए ॥ देवकीके वात्सल्यरूप प्रेमानन्दामृतद्वारा लालित हो श्रीकृष्णजी उस देवकीके हृदयमें चंद्रमाकी समान क्रमशः बढ़ने लगे ॥ १६० ॥

अथ भाद्रपदाष्टम्यामसितायां महानिशि ।
तस्या हृदस्तिरोभूय कारायां सूतिसद्मनि ।
देवकीशयने तत्र कृष्णः प्रादुर्भवत्यसौ ॥
जनयित्रीप्रभृतिभिस्ताभिरित्यवगम्यते ।
लौकिकेन प्रकारेण सुखं शिशुरजायत ॥
अयं चतुर्भुजत्वेऽपि द्विभुजत्वेऽपि कृष्णताम् ।
न त्यजत्येव तद्भावगुणरूपात्मवृत्तितः ॥
तथापि द्विभुजत्वस्य कृष्णे प्राधान्यमुच्यते ।

गूढत्वादेव च क्कापि गौणत्वमिव कीर्त्त्यते ।
'गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्' इति हि प्रथा ॥ १६१ ॥

टिप्पणी—अथेति—सार्द्धद्वयं स्फुटार्थम् ॥ ननु, "यदोर्वंशं नरःश्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते । यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति ॥" (वि० पु० ४ । ११ । २) इति श्रीवैष्णवात द्विभुजं कृष्णरूपं ब्रह्म विज्ञायते, देवक्यान्तु चतुर्भुजं तत् उद्भूत, "चतुर्भुजं शंखगदाद्युदायुधम् " (भा० १० । ३ । ९) इति श्रीशुकोक्तेः । तदिदं विरुद्धमिति चेत ? तत्राह, अयमिति । कृष्णतां—नराकृतिब्रह्मताम् । कुतः ? इत्यत्राह, तद्भावेति । तद्भावः—मनुष्यवच्चेष्टितं, गुणः—सार्वज्ञेऽपि सति मुग्धता, रूपं—तदनुयायिप्रभावः, तेषामनुवर्त्तनात ॥ तथापीति—रूपद्वयवत्त्वेऽपीत्यर्थः । गूढत्वादेवेति । द्विभुजत्वस्य प्रधानस्य क्वचित गौणत्वमिव कीर्त्त्यते । कुतः ? इत्याह, गूढत्वात—महैश्वर्य्यपिहितत्वात । तथा च मुख्यत्वमेवेति हृद्गतम् । अत्रार्थे प्रमाणमाह, गूढमिति—सप्तमे (भा० ७ । १० । ४८; ७ । १५ । ७५) युधिष्ठिरं प्रति नारदवाक्यम् । मनुष्यलिङ्गं—नराकृतिकं, परं ब्रह्म महैश्वर्य्यैः, गूढं—पिहितं सत, येषां युष्माकं गृहानावसतीति सम्बन्धः ॥ १६१ ॥

भा०टी०—अनन्तर भाद्रमासकी कृष्णाष्टमीतिथिको महानिशामें यह श्रीकृष्णजी उस देवकीके हृदयसे तिरोहित हो कंसके कारागारमें बने उस सूतिकागृहमें देवकीकी शय्यापर प्रगट हुए॥ माता आदिने मनमें यही समझा कि,संसारी रीतिसेही बालकने परम सुखसे जन्म लिया है ॥ इन श्रीकृष्णजीने क्या द्विभुज, क्या चतुर्भुज दोनों रूपमें ही मनुष्यकी समान चेष्टा, गुण और तिसके अनुसार प्रभावको चलाया, अत एव वह कभी कृष्णत्वको नहीं छोड़ते ॥ तथापि श्रीकृष्णजीके द्विभुजरूपकोही प्रधान कहा है । परन्तु महैश्वर्य गूढ वा ढकाहुआ रहता है, इस कारण द्विभुजको किसी किसी स्थानमें अप्रधानकी समान कहा है । कारण कि "नराकृति परब्रह्म गूढ़" इस प्रकारसे ख्याति है ॥ १६१ ॥

श्रीकृष्णजी कभी कभी चतुर्भुज होय तो भी उनके कृष्णत्वकी हानि नहीं ।

अथ व्रजेश्वरीगेहे विशन्नानकदुन्दुभिः ।
तत्र न्यस्य सुतं तस्याः सुतामादाय निःसरेत्॥ १६२ ॥

---

१ सप्तमस्कन्धमें नारदजीनें युधिष्ठिरसे कहाहै, 'हे महाराज ! नराकार परब्रह्म गूढ होकर तुम्हारे गृहमें वास करताहै' ॥ १६१–१६२ ॥

टिप्पणी--जन्मोत्तरं चरितमाह, अथेति। तस्याः व्रजेश्वर्य्याः॥१६२॥

भा०टी०-अनन्तर वसुदेवजी महावनमें यशोदाजीके घरमें गये और उस स्थानमें अपने पुत्र श्रीकृष्णजीको रखकर, उस यशोदाकी कन्याको लेकर निकल आये ॥ १६२ ॥

सोऽयं नित्यसुतत्वेन तस्या राजत्यनादितः ।
कृष्णः प्रकटलीलायां तद्द्वारेणाप्यभूत्तथा ॥ १६३ ॥

टिप्पणी—ननु प्रकटलीलायां कृष्णो देवक्या यशोदायाश्च उरस्यः पुत्रः पठ्यते, अप्रकटलीलायां पुत्रभावोऽस्ति न वा ? इति वीक्षायामाह, सोऽयमिति । योऽनादितः, तस्याः-देवक्या यशोदायाश्च, नित्यसुतत्वेन, राजति-सदा विराजन्नस्ति, स श्रीकृष्णः प्रकटलीलायां तद्द्वारेण-देवकीमात्रा, अपिशब्दात् यशोदामात्रा च, तथा-लोकरीत्या, प्रादुर्बभूव । ननु अप्रकटप्रकाशे युगपत् अनादिसिद्धानां देवकीवसुदेवकृष्णानां यशोदानन्दकृष्णानाञ्च पूर्वोत्तरभावेनावगम्यमानो मातापितृपुत्रभावः कथं सम्भवेत ? इतिचेत् उच्यते, भावनिमित्तकस्तद्भाव इति गृहाण, "भावग्राह्यमनीड़ाख्यम्" इति मन्त्रवर्णात् । गुरुलघुभावस्तु पद्मपत्रगणवद्युगपत् सिद्धो बोध्यः । प्रकटप्रकाशे तु देवक्या यशोदायाश्च गर्भात् कृष्णस्य जन्म श्रीशुकेनोक्तम् । तत्र पूर्वस्या गर्भात स्फुटमुक्तं, परस्या गर्भात् तु अस्फुटमुक्तं, तथैव स्वामीष्टैः, जन्मप्रकरणे एव, "निशीथे तम-उद्भूते जायमाने जनार्दने । देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः । आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥" (भा० १० । ३ । ८) इति । उत्तरत्र च, "यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत । न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥" (भा० १० । ३ । ५३) इति । पूर्वस्यार्थः ।-देवक्यामिति-देहलीप्रदीपन्यायेन मध्ये पाठसामर्थ्याच्च उभयत्रान्वेति । तमसा-अन्धकारेण, उद्भूते-व्याप्ते, भाद्रपदकृष्णाष्टम्याः, निशीथे-अर्द्धरात्रे, देवक्यां-देवकपुत्र्यां, विष्णुः-जनार्दनः, आविरासीदित्येकदैव उभयत्र प्राकट्यम् । "गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ। देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा ॥" इति श्रीहरिवंशाच्च । समं-युगपत, इत्युक्तेर्द्वयोः पुत्रावभूतां, देव्याः पश्चाज्जातत्वात । तच्च, "ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात् । यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाजनि नन्दजायया ॥"

(भा० १० । ३ । ४७) इति श्रीशुकवाक्यात् । अतःकृष्णानुजेति सोच्यते । अतः किञ्चित पूर्वोत्तरभावेन पुत्रकन्यारूपमपत्यद्वयं तच्च क्रमाद् वसुदेवयशोदाभ्यां न दृष्टमिति ज्ञेयम् । देवरूपिण्यामित्युक्तेस्तयोः परत्वं बोध्यते, तेन तद्गर्भसम्बन्धात् अपुमर्थत्वं नेत्यागतं, न खलु रत्नमन्दिरे सुरभिणि स्थितोऽपुरुषार्थी नृपतिः प्रतीतः । पुष्कल इति—ज्ञानस्य पूर्णत्वञ्च । द्वितीयस्यार्थः ।—वसुदेवपत्नीव नन्दपत्नी च भगवल्लक्षणान्यवलोक्य, परमेव स्वगर्भाज्जातम् अबुध्यत—परेशोऽयमित्यवैत । ननु कन्याप्यस्या अभूत्, ताञ्च तत्रागतो वसुदेवो नीत्वा स्वपुत्रञ्च तत्र निधाय गतवानित्येतत् सर्वं कुतो नाबुध्यत ? तत्राह, न तद्वेद इति । तत्-कन्यावसुदेवागमादिकं, न वेदेति । न तल्लिङ्गमिति क्वचित् पाठः । तत कन्याजन्म-तदागमादेश्चिह्नं नाबुध्यतेति सम्बन्धः, "लिङ्गं चिह्नानुमानयोः" इति विश्वलोचनकोषः । तदबोधे हेतुः, परीत्यादिः । आदिपुराणे च स्फुटमुक्तं—"नन्दगोपगृहे पुत्रो यशोदागर्भसम्भवः ।" इति श्रीनारदेन । एवंच सति "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" (भा० १० । ५ । १) "भगवान् गोपिकासुतः" (भा० १० । ९ । २१) इत्यादीनि वाक्यानि मुख्यार्थान्येव स्युः । "उपगुह्यात्मजाम्" (भा० १० । ८ । ७) इति वाक्यन्तु 'अष्टमो मे गर्भः कन्यैवाभूत्' इति स्वपुत्रगोपनफलकमौपचारिकं धीपूर्वकमेव, मुनिना तु तदनु उक्तम् इति नाक्षेपकं तत । ननु यशोदायां तज्जन्म गूढभावेन कथमुक्तमिति चेत ? स्वामीष्टयेति गृहाण । 'नन्दगेहे वसुदेवगेहे च मे प्राकट्यं भविष्यति, स्थितिस्त्वेकरूप्येण नन्दगेहे, द्वैरूप्येण स्थितौ कंसो मां विज्ञाय पित्रोःक्लेशं निक्षिपेत्, त्वयापि मच्चरितगायकेन तथैव गातव्यं यथा रहस्यं न भज्येत' इति स्वामिन इष्टिः । ताञ्च तदिष्टिं निर्णताप्येष ग्रन्थकृत तदनुसारेण व्यञ्जयामास च, अपिशब्दादिभिः ॥ १६३ ॥

भा०टी०—इस प्रकारसे वह यही श्रीकृष्णजीके, अनादि कालसे यशोदाके नित्य पुत्ररूपसे विराजमान होनेपर, प्रकट लीलासे देवकीकी समान उन यशोदाजीको द्वार करके प्रगट हुए ॥ १६३ ॥

अथ प्रकटतां लब्धे व्रजेन्द्रविहिते महे ।
तत्र प्रकटयत्येष लीला बाल्यादिकाः क्रमात् ।
करोति याः प्रकाशेषु कोटिशोऽप्रकटेष्वपि ॥

प्रेष्ठानन्दैर्व्रजे तैस्तैरात्मनोऽपि विमोहनैः ।
लीलोल्लासैर्विलसति श्रीलीलापुरुषोत्तमः ॥
असमोर्द्ध्वेन भगवान्वात्सल्येन व्रजेशयोः ।
सुतत्वेनैव स तयोरात्मानं वेत्ति सर्वदा ॥ १६४ ॥

टिप्पणी—अथ प्रकटलामित्यादिकं सार्द्धत्रयं विस्फुटार्थम् ॥ १६४ ॥

भा०टी०—इसके उपरान्त व्रजराजकृत उत्सवमें प्रगट होकर श्रीकृष्णजीने उस स्थानमें क्रम क्रमसे बाल्यादि लीलाओंको प्रकाश किया । वे कोटि कोटि अप्रकट प्रकाशमेंभी इन समस्त लीलाओंको करते हैं ॥ प्रेष्ठजनको आनन्द देनेवाले अपनी भी चमत्कारिक उन लीलाओंके उल्लाससे श्रीलीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णजी व्रजमें विलास किया करते हैं ॥ नन्द यशोदाके असमोर्द्ध वात्सल्यवशसे भगवान् नित्यही अपनेको उनका पुत्र कहकर जानते हैं ॥ १६४ ॥

केचिद्भागवताः प्राहुरेवमत्र पुरातनाः ।
व्यूहः प्रादुर्भवेदाद्यो गृहेष्वानकदुन्दुभेः ।
गोष्ठे तु मायया सार्द्धं श्रीलीलापुरुषोत्तमः ॥
गत्वा यदुवरो गोष्ठं तत्र सूतीगृहं विशन् ।
कन्यामेव परं वीक्ष्य तामादायाव्रजत्पुरम् ।
प्राविशद्वासुदेवस्तु श्रीलीलापुरुषोत्तमम् ॥
एतच्चातिरहस्यत्वान्नोक्तं तत्र कथाक्रमे ।
किन्तु क्वचित्प्रसंगेन सूच्यते श्रीशुकादिभिः ॥
यथा श्रीदशमे (भा० १० । ५ । १)—
"नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ॥"

---

१ प्रेष्ठानन्दैरिति—प्रेष्ठानामानन्ददायिभिरित्यर्थः ॥

२ जिससमय देवकीजीने चतुर्भुजरूपको संवरण करनेकी प्रार्थना की, उस काल भगवान् चतुर्भुजरूपको छिपाय यशोदाके हृदयमें स्थित द्विभुजरूपसे प्रकाशमान हुए थे । यही वैष्णवतोषिणीका मत है । अतएव इस प्रकारसे श्रीकृष्णजी देवकीको द्वार करके उसके हृदयमें स्थित चतुर्भुजरूपसे और यशोदाको द्वार करके उसके हृदयमें स्थित हुए द्विभुजरूपसे अवतरे थे । इसकारण वसुदेवजी यशोदाके हृदयके धन द्विभुजमूर्तिको उसकी शय्यापर रक्षा करके उसके गर्भमें उत्पन्नहुई योगमायाको कंसको वंचितकरनेके लिये लेगए ॥ १६४ ॥

तथा तत्रैव (भा० १०। ६। ४३)—

"नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागत उदारधीः ॥"

तथा च (भा० १० । ९ । २१)—

"नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः ॥"

तथा च तत्र श्रीब्रह्मस्तवे (भा० १० । १४ । १)—

"वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥"

तथा श्रीयामलवचनं समुदाहरन्ति—

"कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः ।
वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति ॥
द्विभुजः सर्वदा सोऽत्र न कदाचिच्चतुर्भुजः ।
गोप्यैकया युतस्तत्र परिक्रीडति नित्यदा ॥ १६९ ॥" इति ।

टिप्पणी—कृष्णस्य नन्दवसुदेवपुत्रतायां मतान्तरमाह, केचिदित्यादिना । आद्यः—वासुदेवव्यूहः ॥ नन्दस्त्वात्मज इति—उरस्ये कृष्णे इत्यर्थः ॥ गोपिकासुतः—यशोदागर्भाज्जात इत्यर्थः ॥ पशुपाङ्गजायेति—पशुपो नन्दस्तस्याङ्गाज्जातायेत्यर्थः ॥ अस्मिन्मते ग्रन्थकृताम् अस्वारस्यमेव; तत्र सति व्रजौकसां तद्विरहाभिधानासम्भवात्, उद्धवप्रेषणस्य, कुरुक्षेत्रे व्रजौकसां गमनस्य, द्वारकातो व्रजे कृष्णागमनस्य च वैयर्थ्यात । न चान्तर्गताद्यव्यूहश्च नन्दसूनोर्मथुरादौ गतत्वात तस्यैव द्वारकातः समागमाच्च तत्तत सङ्गच्छेतेति वाच्यं, तथा सति यामलवचनव्याकोपात; स्वमते तु अप्रकटप्रकाशमादाय संगतिमत ॥ १६९ ॥

भा०टी०—इस प्रकरणमें कोई कोई पुराने भागवतगण कहाकरते हैं—"वसुदेवगृहमें आद्य व्यूह वासुदेव हैं, और गोकुलमें योगमायाके साथ लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णजी उत्पन्न हुए ॥ आनकदुन्दुभिने गोकुलमें जाय यशोदाकी सौरीमें प्रवेशकरके केवल एक कन्याहीको देखा । वे उस कन्याको ले मथुरामें आये । इस ओर वासुदेवभी लीलापुरुषोत्तममें प्रवेश करते हुए ।" इस विषयको अतीव रहस्य जानकर श्रीशुकदेवादिने कथाके क्रमसे उस २ स्थानमें नहीं कहा । किन्तु प्रसंगानुसार किसी २ स्थानमें सूचना की है ॥ यथा श्रीदशममें—"महात्मा नंदजी, पुत्रके उत्पन्न होनेसे अत्यन्त आनंदित हुएथे ॥"

'वसुदेवगृहमें प्रथमव्यूह वासुदेव तथा और नन्दगृहमें स्वयं भगवान श्रीकृष्णका आविर्भाव' यह किसी २ भागवतका मत है .

तथा उस दशममेंही कहाहै—"उदारचित्तवाले नन्दजी, प्रवाससे आय अपने पुत्रको ले, उसके मस्तकको सूंघ परमानन्दको प्राप्त हुए थे।" "यह भगवान्, गोपिकासुत देहाभिमानियोंके सुखलभ्य नहीं है।" तथा उसही दशमकी श्रीब्रह्मस्तुतिमें कहा है;—" जिनके गलेमें वनमाला विराजमान है, दायें हाथकी हथेलीमें दधिभातका ग्रास है, बायें कक्षमें बेंत और शृंग है, कमरमें जो दुपट्टा बंधाहुआहै उसके लपेटमें वेणु उरसीहुई है, छातीमें स्वर्णरेखाके रूपसे श्रीलक्ष्मीजी शोभित हैं और पदतल अतीव कोमल हैं, उन पशुपाङ्गज (नंदांगसे उत्पन्न) श्रीकृष्णजीको प्रसन्न करनेके लिये मैं स्तुति करताहूं॥"तैसेही श्रीयामलके वचनकोभी उदाहरण कियाकरतेहैं—"यदुवंशमें उत्पन्नहुए कृष्ण और (पृथक्) हैं, जो पूर्ण हैं, वे ईश्वर पर अर्थात् मूलतत्त्व हैं। वह वृन्दावनको छोड़कर किसी स्थानमें नहीं जाते॥ वह सदाही द्विभुज हैं, किसीकालमें चतुर्भुज नहीं। वह केवल गोपियोंके साथ मिलकरही सर्वदा वृन्दावनमें विहार किया करते हैं" ॥ १६५ ॥

अथ प्रकटरूपेण कृष्णो यदुपुरीं व्रजेत्।
व्रजेशजत्वमाच्छाद्य स्वां व्यञ्जन्वासुदेवताम्।
यो वासुदेवो द्विभुजस्तथा भाति चतुर्भुजः॥
तास्ता मधुपुरे लीलाः प्रकटय्य यदूद्वहः।
द्वारवत्यां तथा याति तां तां लीलां प्रकाशकः॥
तत्राविष्कुरुते व्यूहं प्रद्युम्नाख्यं तृतीयकम्।
यतो व्यूहोऽनिरुद्धाख्यस्तुर्य्यः प्रकटतां व्रजेत्॥
इति व्यूहचतुष्कस्य लोकोत्तरचमत्क्रियाः।
विवाहाद्याश्च बहुधा लीलास्तत्रैव वर्णिताः॥ १६६॥

टिप्पणी—स्वमते मथुरादिलीलाः दर्शयन्ति, अथ प्रकटरूपेणेत्यादिना। व्रजेशजत्वमाच्छाद्येति—तदाच्छादनं माथुराणां स्वसम्बन्धेन प्रेमवर्द्धनार्थम्। स्वां—स्वनिष्ठां, वासुदेवतां—वसुदेवपुत्रतां, व्यञ्जन्—प्रकाशयन्॥ तां तां लीलां प्रकाशक इति—"तुमुन्-ण्वुलौ क्रियायां

---

१ इस श्लोकमें 'आत्मज' और तीन श्लोकोंमें 'स्वपुत्र' 'गोपिकासुत' और 'पशुपांगज' इन तीन शब्दोंसे यह अवधारित हुआ कि श्रीकृष्णजी व्रजेश्वरके पुत्र हैं ॥ १६५ ॥

२ इस श्लोकका वास्तवार्थ—यदुसंभूत अर्थात् वसुदेवनंदन कहकर विख्यात श्रीकृष्ण, अन्य—अन्यप्रकाश। इसके पश्चात् जो प्रकाश, पूर्ण—पूर्णतम, कहकर विख्यात, वे अप्रकट प्रकाशसे, श्रीवृन्दावनको छोड़कर किसी स्थानमें नहीं जाते, अर्थात् अप्रकट प्रकाशसे वृन्दावनमें स्थिति करके प्रकट प्रकाशसे यदुपुरीमें आयाकरते हैं ॥ १६५ ॥

क्रियार्थायाम्" (पा० ३ । ३ । १०) इति सूत्रात् ण्वुल्, तास्ता लीलाः प्रकाशयितुमित्यर्थः ॥ इति व्यूहचतुष्कस्येति–तस्मिन्नेव आद्यव्यूहत्वस्फुरणादिति भावः ॥ १६६ ॥

भा०टी०--अनन्तर प्रकट प्रकाशसे श्रीकृष्णजी व्रजेश्वरके पुत्रपनको ढककर और अपनेको वसुदेवका पुत्र प्रकाश करके मथुरामें गये । जो वासुदेवजी द्विभुज और चतुर्भुज इन दोनोंही रूपसे प्रकाशित हुआ करते हैं ॥ श्रीकृष्णजी मधुपुरीमें मधुपुरके उन लीलाओंको प्रकाश करके फिर द्वारकामें उन लीलाओंको प्रकाश करनेके लिये द्वारकामें गये ॥ श्रीकृष्णजीने द्वारकामें प्रद्युम्ननामक तीसरे व्यूहको प्रकट किया । कि, जिनसे अनिरुद्ध नामक चौथे व्यूहका प्रकाश हुआ ॥ इस प्रकारसे द्वारकामेंही इन चार व्यूहकी अतीव चमत्कारजनक बहुविधि विवाहादिकी लीलाभी वर्णित है ॥ १६६ ॥

श्रीकृष्णकी मथुरालीला और द्वारकालीला । द्वारकामें तीसरे व चौथे व्यूहका प्रकाश ।

व्रजेप्रकटलीलायां त्रीन्मासान्विरहोऽमुना ।
तत्राप्यजनि विस्फूर्त्तिः प्रादुर्भावोपमा हरेः ॥
त्रिमास्याः परतस्तेषां साक्षात् कृष्णेन सङ्गतिः ॥ १६७ ॥

टिप्पणी–ननु मथुरादौ विहरता कृष्णेन व्रजौकसां स्वैकजीवातूनां किं समाधानं कृतम् ? इत्यत्राह, व्रजे प्रकटेति–मासत्रयन्तु तेषां विरहवह्नौ निमग्नमभूत, तत्रापि तादृस्फूर्त्या स्वात्मधारणम्, इति विरहानन्दास्वादनिर्भरो मासत्रयमित्यर्थः । विस्फूर्त्तिः–विशिष्टा

---
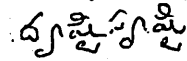
१ इन पुराने भागवतगणोंके मत में ग्रंथकारकी सम्मति नहीं है । क्यों कि श्रीकृष्णजीके मथुरामें गमनकरनेपर, व्रजवासियोंका विरह, माता, पिता और प्यारी गोपियोंको समझाने बुझानेको श्रीकृष्णजीका उद्धवको द्वारकामें भेजना, श्रीकृष्णजीका दर्शन करनेके लिये व्रजवासियोंका कुरुक्षेत्रमें जाना, दन्तवक्रका वधकरनेके पीछे व्रजमें फिर श्रीकृष्णजीका आना, यह समस्त वर्णन अनर्थक हुए जाते हैं । जो यह कहो कि जब कि आदि व्यूह वासुदेव नन्दनंदनके अन्तर्भूत रहे हैं तब उन नंदनंदनके मथुरादिगमनमें क्या बाधा है ? अतएव वह अन्तर्गताद्यव्यूह नन्दनंदनहीं मथुरामें गये और वही फिर द्वारकासे व्रजमें आये ? ऐसा भी नहीं कह जासकता । क्यों उसमें यामल वचनकी संगति नहीं होती । अतएव अप्रकट–प्रकाशमें श्रीकृष्णजी वृन्दावनको न छोड़कर सदैवही व्रजमें विहार करते हैं । प्रकट प्रकाशमें व्रजसे पुरीमें जाया करतेहैं । इसप्रकारके सिद्धान्तसे किसी ग्रंथकी असंगति नहीं होती । अतएव ग्रंथका अभिप्राय है कि, यामलवचन अप्रकट लीला विषयका है ॥ १६६ ॥

२ श्रीकृष्णजीकी अपने में प्रथम व्यूहकी स्फूर्ति थी; दूसरे संकर्षण, तीसरे प्रद्युम्न और चौथे अनिरुद्ध यही चार व्यूह हैं ॥ १६६–१६८ ॥

स्फूर्तिः, यदसौ हरेः प्रादुर्भावोपमेति–कषायितवस्त्ररागवृद्धिन्यायेन विरहसुखस्य संयोगसुखवृद्धिकरत्वम्, इति स्वप्रेष्ठेषु तेषु विरहावस्थाप्रकाशनं बोध्यम ॥ अथ संयोगमाह, त्रिमास्या इति ॥ १६७ ॥

प्रगटलीलामें व्रजमें तीन मास विरह, निर्भविस्फूर्ति।संगति।

भा॰टी॰–प्रगट लीलामें श्रीकृष्णजीके साथ तीनमासतक व्रजवासियोंका विरह हुआ था उसमेंभी आविर्भावसदृशी श्रीकृष्णजीकी विस्फूर्ति होतीथी । तीनमासके पश्चात उनकी श्रीकृष्णजीके संग 'साक्षात्' संगति हुईथी ॥ १६७ ॥

आविर्भावागतिभ्यां सा द्विप्रकारास्य सम्भवेत् ॥
तत्र आविर्भावः ।–
वैश्लेषिकक्लमोद्रेकविवशीकृतचेतसाम् ।
प्रेष्ठानां सहसैवाग्रे व्यग्रः प्रादुर्भवेदसौ ॥
उद्धवात्कृष्णसन्देशं एभिर्यदवधि श्रुतः ।
प्रादुर्भावस्तदवधि स्याद्व्रजे वनमालिनः ॥
व्रजे द्वारवतीस्थस्य प्रादुर्भावो मुरद्विषः ।
बृहद्विष्णुपुराणादावसकृद्बहुधोच्यते ॥
व्रजे विहरमाणेऽस्मिन्प्रादुर्भूय हरौ तदा ।
भवेत्तस्य पुरे यात्रा स्वप्नवद्व्रजवासिनाम् ॥ १६८ ॥

टिप्पणी–सा-कृष्णेन सह सङ्गतिः ॥ सहसा–अतर्कितमित्यर्थः– ननु प्रादुर्भावः कं कालमारभ्य? इत्यत्राह, उद्धवादिति । मासत्रयेऽतिक्रान्ते उद्धवो व्रजमागतः, तत आरभ्य हरेस्तत्र प्रादुर्भाव इत्यर्थः ॥ ननु मथुरायां गतस्य हरेरकस्माद्दर्शने विहारे चानुभूते सति व्रजौकसः किं विमृशन्ति ? तत्राह, व्रजे विहरेति–अस्मान् हित्वा स कदाचिदप्यन्यत्र न गच्छेत, तथापि तस्य मथुरायां गतिख्यातिरस्मत्स्वप्न इत्यर्थः ॥ १६८ ॥

संगति दोप्रकारकी है आविर्भाव और आगति । आविर्भाव

भा॰ टी॰–यह श्रीकृष्णजीका 'आविर्भाव' और 'आगति' हेतुसे वह संगति दो प्रकारकी है ॥ तिनमें आविर्भाव।।विरहजनित क्लान्तिके उद्रेकसे जिन समस्त प्रेष्ठजनोंका चित्त अधीर होजाता है, श्रीकृष्णजी व्यग्र होकर हठात् उनके सामने प्रगटहुए ॥ उन प्रेष्ठजनोंने जबतक उद्धवके निकट श्रीकृष्णजीके संवादको श्रवण किया तबसे वनमाली व्रजमें प्रादुर्भूत हुए ॥ द्वारकाके श्रीकृष्ण-

जीका व्रजमें प्रगट होना, बृहद्विष्णुपुराणादिमें अनेक प्रकारसे वारंवार वर्णित है ॥ जिस कालमें श्रीकृष्णजीनें व्रजमें प्रकट होकर विहार किया, उस कालमें व्रजवासी लोग श्रीकृष्णजीके मथुरामें जानेको स्वप्नकी समान अनुभव किया करते हैं ॥ १६८ ॥

अथ आगमनम् ।—

प्रेम सन्दर्शयन्स्वेषु स्ववचःसत्यताञ्च सः ।
पुनः प्रियं हरिर्गोष्ठमागच्छति रथादिना ॥

स्ववचः, यथा श्रीदशमे (भा० १० । ३९ । ३५)—

"तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः ।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः ॥"

तथा (भा० १० । ४५ । २३)—

"यात यूयं व्रजं तात ! वयञ्च स्नेहदुःखितान् ।
ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥" इति ।

निजप्रियतमस्यापि वचसा यदुमन्त्रिणः ।
एतदेव वचः स्वीयं पुनस्तेनोज्ज्वलीकृतम् ॥

यथा तत्रैव (भा० १० । ४६ । ३५)—

"हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥१६९॥" इति ।

टिप्पणी—अथ आगतिमाह, प्रेमेति ॥ मथुरां गच्छतो हरेः 'शीघ्रमागमिष्यामि' इति दूतद्वारा गोपीः प्रति वाक्यं, तास्तथा इति ॥ तच्च वाक्यं, पितरं नन्दं प्रत्युवाच, यात यूयमिति । ज्ञातीन्—सगोत्रान् । सुहृदाम्—उग्रसेनादीनाम् ॥ तदेव वाक्यमुद्धवमुखेन स्पष्टमभूदित्याह, निजेति । उज्ज्वलीकृतम्—असन्दिग्धतां नीतम् ॥ उद्धववचश्चाह, हत्वा कंसमिति । यत्—वचः, "यात यूयम्" (भा० १० । ४५ । २३) इत्यादि प्राह । करोतीति—"वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" (पा० ३ । ३ । १३१) इति सूत्रात् लट्; शीघ्रमेवायास्यतीत्यर्थः ॥१६९॥

भा॰टी॰—अथ आगमन ॥ स्वजनवर्गके प्रति प्रेम और अपने वाक्यकी सत्यता दिखानेके लिये श्रीकृष्णजी रथादिमें अधिरूढ़ हो, फिर अपने प्यारे गोष्ठमें आया करते हैं ॥ स्वयं श्रीकृष्णजीका वचन, यथा श्रीदशममें—

आगति।

"अपने मथुरा जानेमें उन गोपियोंको वैसा देखकर, मैं शीघ्रही आऊंगा।" इस प्रकार प्रेमयुक्त दूतवाक्यद्वारा, श्रीकृष्णजीनें उनको समझाया था। तथा—"हे पितः! आप लोग व्रजमें जाइये, मैं सुहृद्गणोंको सुखीकर, स्नेहसे दुःखित हुए आप जातिवर्गको देखनेके लिये मैं शीघ्रही लौटा आता हूं।" इति ॥ अपने प्यारे यदुमंत्री उद्धवके द्वाराभी पुनर्वार इस वाक्यकी असन्दिग्धताको उन्हें नें प्रतिपादन किया है ॥ यथा उस दशममेंहीं—"समस्त यदुकुलसे प्रतिकूल हुए कंसको रंगस्थलमें संहार करके श्रीकृष्णजीने जो कुछ कहा था, आप लोगोंके समीप आय वह अति शीघ्र उसको सत्य करेंगे" ॥ १६९ ॥ इति ॥

तत्सत्यता प्रकटिता द्वारकावासिनां गिरा ॥

यथा श्रीप्रथमे (भा० १ । ११ । ९)—

"यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून्मधून्वाथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेत्
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत ! ॥" इति ।

अत्र कारिके ।—

भो अम्बुजाक्ष ! सुहृदां नन्दादीनां दिदृक्षया ।
भवानपससारास्मानपहाय गतो मधून् ।
मथुरामिति विस्पष्टं मथुरामण्डले व्रजम् ।
तदानीं सुहृदां तत्र मधुपुर्य्यामभावतः ॥ १७० ॥

---

१ यदि कहो कि मथुरागमनके तीन मास पश्चात् श्रीकृष्णजी अकस्मात् नेत्रगोचर हुए, केवल नेत्रगोचरही नहीं हुए, वरन व्रजवासीलोग ऐसा अनुभवभी करने लगे कि उनके साथ विहार करते हैं। अच्छा, श्रीकृष्णजीके इस अचानक दर्शन और मिलनलाभके पश्चात्से उनके मथुरागवनसम्बन्ध में व्रजवासियोंके मनमें कैसा भाव उदय हुआ? इस आकांक्षाको वर्तमान श्लोकमें अवतारणाकरके ग्रंथकार कहताहै कि आविर्भावके पीछे व्रजवासियोंनें समझा कि हमको छोड़कर और कहींभी श्रीकृष्णजी नहीं जाते, तथापि यह जो मानतेहैं कि, वह मथुरामें जातेहैं, सो यह तो केवल हमारा भ्रममात्र है ॥ १६९, १७१ ॥

टिप्पणी—"आयास्ये" इत्यस्य "यात यूयम्" इत्यादिकस्य च वचसः सत्यत्वं तु द्वारकावासिवचनात् अवगतमित्याह, तत्सत्यतेति । सत्यभाषी खलु कृष्णः,"नानृतं हि वचो विप्र ! प्रोक्तपूर्वं मया-त्र!" (ह० वं० १२९ । ३७) इति हरिवंशे देवर्षिं प्रति कृष्णव्याख्यानात्, "सत्यवाक् सत्यसङ्कल्पः" इति ब्रह्माण्ड तन्नामस्तोत्राच्च; यः कदाचिदपि कुत्राप्यनृतं न वक्ति, सोऽतिप्रियेषु कथं तद्वदेदिति ॥ वाक्यार्थाचारमाह, यर्ह्यम्बुजाक्षेति । हे अम्बुजाक्ष ! यर्हि अस्मान्, अपहाय—त्यक्त्वा, भवान् पाण्डवानां सुहृदां दिदृक्षया कुरून् अपससार, नन्दादीनां सुहृदां दिदृक्षया मधून् वा देशान्, अपससार—गच्छति स्म, तदा, नः—अस्माकं, क्षणः कोटयब्दतुल्यो भवेत् । रविं विनाक्ष्णोरिति—यथा रविं विना नेत्रयोरान्ध्यं, तथास्माकं त्वां विनेति ॥ कारिकाभ्यां पद्यं व्याचष्टे, भो अम्बुजाक्षेत्यादिना । ननु मधुशब्देन मथुरा आयाति, व्रजः कथमिति चेत् ? तत्राह, व्रजस्य मथुरामण्डलत्वात् ग्रहणम् । एतच्च कस्मात्? तत्राह, तदानीमिति—"तत्र योगप्रभावेन नीत्वा सर्वजनं हरिः ।"(भा० १० । ५० । ५७) इति सर्वशब्दोपादानेन तस्यां प्रजामात्राणामभावात् तद्वर्त्तिनःसुहृदस्तदेकदेशस्था नन्दादयो गृहीता इत्यर्थः ॥ १७० ॥

भा०टी०—द्वारकावासियोंके वचनोंसेभी उन श्रीकृष्णजीके वाक्यकी सत्यता प्रगट होती है ॥यथा श्रीप्रथममें—" भो अम्बुजाक्ष ! जब कि आप सुहृदजनोंको देखनेके लिये हमको छोड़कर कुरु अथवा मधुदेशको जाते हैं, तब हमको क्षणभरभी करोड़वर्षकी समान ज्ञात होता है। हे अच्युत ! जिस प्रकार सूर्यके विना नेत्र अंध होजाते हैं, विना तुम्हारे देखे हमारीभी वैसीही अवस्था होजाती है"इस श्लोककी कारिका।—भो अम्बुजाक्ष ! सुहृदगणोंकी—नन्दादिकी, देखनेकी इच्छासे, अपसरण—हमको छोड़कर मधुपुरमें गमन किया था । मधु मथुरा । उस समय मधुपुरीमें सुहृदवर्गके विद्यमान न होनेसे मथुरा—शब्दसे स्पष्टही मथुरामंडलके व्रजकाही बोध होता है ॥ १७० ॥

किञ्च—

रथेन मथुरां गत्वा दन्तवक्रं निहत्य च ।
स्पष्टं पाद्मे पुराणेऽस्य कृष्णस्योक्ता व्रजागतिः ॥

---

१ कालयवनका वध करनेके पीछे श्रीकृष्णजी योगमायाके प्रभावसे समस्त मथुरावासियोंको द्वारकामें लेगयेथे । अतएव इस स्थानमें 'मथुरा' शब्दसे 'व्रज' समझना चाहिये ॥ १७० ॥

तद्वयं पद्यञ्च यथा (प० पु०, उ० ख० २७९ । २४—२६)—
"कृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनामुत्तीर्य्य नन्दव्रजं गत्वा सोत्कण्ठौ पितरावभिवाद्याश्वास्य ताभ्यां साश्रुसेक-मालिङ्गितः सकलगोपवृद्धान् प्रणम्याश्वास्य बहुरत्न-वस्त्राभरणादिभिस्तत्रस्थान् सर्वान् सन्तर्पयामास ॥
कालिन्द्याः पुलिने रम्ये पुण्यवृक्षसमाचिते ।
गोपनारीभिरनिशं क्रीडयामास केशवः ॥
रम्यकेलिसुखेनैव गोपवेशधरः प्रभुः ।
बहुप्रेमरसेनात्र मासद्वयमुवास ह ॥" इति ।

अत्र कारिका ।—

यदुत्तीर्य्येत्युत्तारणं तदाप्लवनमुच्यते ।
दुष्टं हत्वा व्रजे यानं स्नानपूर्वमिहोचितम् ॥
अतः प्रकटलीलायामप्ययोगोऽल्प एव हि ॥
इति धामत्रये कृष्णो विहरत्येव सर्वदा ॥ १७१ ॥

टिप्पणी--'रथादिना हरिर्गोष्ठमागच्छति' इति अस्मात् वाक्यात न लब्धं, तत् पाद्मवाक्येनोपलम्भयितुमाह, किञ्च रथेनेत्यादिना । चकारात तद्भ्रातरं विदूरथश्चेति ज्ञेयम् ॥ मासद्वयं व्याप्य, उवास-प्रकटं चिक्रीडे इत्यर्थः ॥ पाद्मवाक्यं व्याख्याति, यत् उत्तीर्य्येति । दुष्टं-दन्तवक्रम् ॥ प्रकरणं योजयति, अत इति । अल्पः—त्रैमासिकः ॥ धाम-त्रये लीला नित्येति योजयति, इतीति ॥ १७१ ॥

भा०टी०—रथपर सवार हो मथुरामें जाय दन्तवक्रका संहारकर, श्रीकृष्णजी व्रजमें आये थे, यह कथा पद्मपुराणमें स्पष्टही कही है ॥ वह गद्य और पद्य यथा—"श्री-कृष्णजीभी उस दन्तवक्रका वध करके यमुनाके पार हो, नन्दजीके व्रजमें जाय, उत्कण्ठित माता पिताको अभिवादन और समझाते बुझाते हुए । उन्होंने आँसू गिराते २ उनसे भेंट की । तदुपरान्त श्रीकृष्णजीने गोपवृद्धोंको प्रणाम करके समझाया बुझाया और अनेक प्रकारके रत्न वस्त्र व अलंकारादि देकर उन सबको संतुष्ट किया ॥ श्रीकृष्णजी पवित्र वृक्षोंसे परिवृत हो रमणीय यमुनाकी रेतीमें गोपियोंके साथ निरन्तर क्रीड़ा करनेलगे । इस प्रकारसे गोपवेषधारी प्रभु, रमणीय लीलाका आनन्द और अनेक प्रकारके

प्रेमरसको चखते चखते दो मासतक वृन्दावनमें वास अर्थात् प्रकटलीला करते हुए ।" इसकी कारिका—"उत्तीर्य" इस पदमें जो उतरणका विषय कहा गया है, इस उतरणका अर्थ आप्लवन अर्थात् अवगाहन है । दुष्टका वध करके श्रीकृष्णजीका स्नान करकेही व्रजमें आगमन करना उचित है ॥ अत एव प्रकट लीलामेंभी अति अल्पकालही विरह हुआ करता है । इस कारण तीन धामोंमें अर्थात् गोकुल, मथुपुर और द्वारकामें श्रीकृष्णजी सर्वदाही विहार करते हैं ॥ १७१ ॥

व्रजागमनकाले च पाद्मोक्तेऽन्यच्च वर्त्तते ॥
यथा (प० पु०, उ० ख० २७९ । २७)—
"अथ तत्रस्था नन्दगोपादयः सर्वे जनाः पुत्रदारादि-
सहिताः पशु-पक्षि-मृगादयश्च वासुदेवप्रसादेन दिव्य-
रूपधरा विमानमारूढाः परमं वैकुण्ठलोकमवापुः ॥"

अत्र कारिके ।—

व्रजेशादेरंशभूता ये द्रोणाद्या अवातरन् ।
कृष्णस्तानेव वैकुण्ठे प्राहिणोदिति साम्प्रतम् ॥
प्रेष्ठेभ्योऽपि प्रियतमैर्जनैर्गोकुलवासिभिः ।
वृन्दारण्ये सदैवासौ विहारं कुरुते हरिः ॥ १७२ ॥

टिप्पणी—ननु पाद्मे नन्दादीनां वैकुण्ठगतेरुक्तत्वात् व्रजे तत्सम्बन्धा लीला न स्यात्, ततः कथं व्रजलीला नित्या ? इति शङ्कां विहन्तुमाह, व्रजागमनेति ॥ पाद्मवाक्यमाह, अथ तत्रेति । वासुदेवस्य—वसुदेवादागतस्य नन्दसूनोः, प्रसादेन—अनुग्रहेणेत्यर्थः ॥ गद्यार्थं सङ्गमयति, व्रजेशादेरिति । द्रोणाद्या इति—आद्यपदात् तत्परिकराणां ग्रहणम् ॥ नन्दादींस्तु व्रजस्य अप्रकटे प्रदेशे स्थापयामास, स्वयञ्च तैःसार्द्धं तस्थावित्याह, प्रेष्ठेभ्योऽपीति ॥ १७२ ॥

भा०टी०—पद्मपुराणमें व्रजगमनकाल जिस प्रकारसे वर्णन किया है, उसमें और एकरहस्यभी विद्यमान दिखलाई देता है यथा;—" अनन्तर स्त्रीपुत्रादिके साथ तहांके नन्दगोपादि और पशु पक्षी व मृगादि समस्तही वासुदेवके प्रसादसे दिव्यरूप धारणकर विमानमें बैठ परमवैकुण्ठलोकको प्राप्त करतेहुए " इसकी दो

व्रजलीलाकीनित्यता ।

नन्दादिके अंश द्रोणादिका वैकुण्ठमें जाना, और अंशी नन्दादिका व्रजके अप्रकट देशमें अवस्थान।

कारिका हैं ।–व्रजेश्वरादिके अंश जिन द्रोणादिने अवतार लिया था, श्रीकृष्णजीने उनकोही वैकुण्ठमें भेजा, यह सिद्धान्तही युक्तिसे ठीक है॥ अत्यन्त प्यारे भक्त व्रजवासियोंके साथ श्रीकृष्णजी सदाही वृन्दावनमें विहार करते हैं ॥ १७२ ॥

स्कान्दायोध्यामहिमनि सौमित्रः श्रूयते यथा ॥
तथाहि–
"ततः शेषात्मतां यातं लक्ष्मणं सत्यसङ्गरम् ।
उवाच मधुरं शक्रः सर्वस्य च स पश्यतः ॥
इन्द्र उवाच–
लक्ष्मणोत्तिष्ठ शीघ्रं त्वमारोहस्व पदं स्वकम् ।
देवकार्य्यं कृतं वीर ! त्वया रिपुनिषूदन ॥
वैष्णवं परमं स्थानं प्राप्नुहि स्वं सनातनम् ।
भवन्मूर्त्तिः समायाता शेषोऽपि विलसत्फणः ॥" इत्यादि ।
ततश्च–
"इत्युक्त्वा सुरराजेन्द्रो लक्ष्मणं सुरसङ्गतः ।
शेषं प्रस्थाप्य पाताले भूभारधरणक्षमम् ॥
लक्ष्मणं यानमारोप्य प्रतस्थे दिवमादरात् ॥ १७३ ॥" इति ।

टिप्पणी–ननु नन्दादिषु द्रोणादीनां संयोगः, पुनस्तेभ्यस्तेषां निष्कासनं, वैकुण्ठे नयनमित्यपूर्वमिव किमुच्यते ? इत्यत्र दृष्टान्तत्वेनाह, स्कान्दायोध्येति ॥ तत इति । शेषात्मतां–शेषसंयोगं, यातं लक्ष्मणम् ॥ अयमर्थः ।–श्रीरामेण सहावतीर्णे सङ्कर्षणव्यूहे लक्ष्मणे पातालतलस्थो भूधारी शेषः सायुज्यं प्राप्य अस्थात्, देवकार्य्ये निर्वृत्ते लक्ष्मणात् शेषो निष्क्रम्य पातालमगात्, लक्ष्मणस्तु वैष्णवं पदम्, इत्यंशिन्यंशयोगस्ततो निर्गमश्चेति नापूर्व्वम्, अपि तु शास्त्रसिद्धमेवेति ॥ १७३ ॥

भा०टी०–स्कन्दपुराणके अयोध्यामाहात्म्यमें जिस प्रकार लक्ष्मणजीकी शेषात्मता

१ जिसप्रकार सङ्कर्षणव्यूह लक्ष्मणजीके श्रीरामजीके साथ अवतार लेनेपर, पातालके पृथ्वीधारी शेषी उनमें सायुज्यताको प्राप्तहुए, फिर देवकार्यके होजानेपर शेषजी लक्ष्मणजीसे निकलकर पा–

अंशीके साथ अंशका सायुज्य और कार्यके अन्तमें फिर अंशीसे निकलना प्रतिपादन करनेके लिये लक्ष्मणजीका दृष्टान्त।

श्रवण कीजाती है ॥ तथाहि—"तिसके उपरान्त देवराज इन्द्रजी शेषात्मताको प्राप्तहुए, सत्यप्रतिज्ञ लक्ष्मणजीसे सबके सामने मधुर वचन बोले ॥ इन्द्रजीने कहा । हे लक्ष्मण ! शीघ्र उठकर अपने पदपर आरोहण करो । हे वीर! हे रिपुनिषूदन ! तुमने देवकार्यको पूर्ण करलिया, इस समय अपने सनातन वैष्णवपदपर गमनकरो । जो तुम्हारी मूर्ति है, जो फणामण्डलसे विराजित है, वह शेषजीभी आए हैं ।" इत्यादि ॥ इसके पश्चात्—"देवतागणोंसे परिवृत देवराज इन्द्र लक्ष्मणजीसे यह वार्ता कह, पृथ्वीका भार धारण करनेमें समर्थ शेषजीको पातालमें स्थापितकर, आदरसहित लक्ष्मणजीको यानमें चढ़ाय स्वयं स्वर्गमें चले गये ।" ॥ १७३ ॥ इति ॥

लीलाश्चाप्रकटा तत्र द्वारवत्यां चिकीर्षुणा ।
स्वयं प्रकाश्यते तेन मुनिशापादिकैतवम् ॥
देवाद्यंशावतरणे ये तु वृष्णिष्ववातरन् ।
क्षीराब्धिशायिरूपस्तैः सार्द्धं स्वपदमाप्नुयात् ॥
नित्यलीलापरिकरा ये स्युर्यदुवरादयः ।
तैः सार्द्धं भगवान्कृष्णो द्वारवत्यामेव दीव्यति ॥ १७४ ॥

टिप्पणी—एवमेव द्वारकायां नित्यलीलां निर्णेतुमाह, लीलाश्चेति । स्वयं भगवति कृष्णेऽवतरति सति क्षीराब्धिनिलयोऽनिरुद्धस्तत्र प्राविशत्, देवांशास्तु यदुषु । अथ कृष्णे द्वारवत्यामेवान्तर्द्धिते सौ क्षीराब्धिनाथो देवांशाश्च स्वस्वपदं जग्मुः, कृष्णस्तु स्वीयैः सार्द्धं द्वारवत्यामेव व्युराजदिति ॥ १७४ ॥

द्वारकालीलाकी नित्यता

भा०टी०—जिस समय श्रीकृष्णजी द्वारकालीलाके प्रकटित करनेकी इच्छा करते हैं, तिस काल मुनिशापादिरूप मायाको प्रकाश किया करते हैं ॥ देवादिके अंशावतरणसमयमें जिन्होंने यादवलोगोंमें अवतार लिया था, क्षीरोदनाथने उन समस्त देवताओंके सहित निजधाममें प्रयान किया ॥ और नित्यलीलापरिकर जो यादवादि हैं, उनके साथ श्रीकृष्णजी द्वारकामें विहार किया करते हैं ॥ १७४ ॥

—तालमें, और लक्ष्मणजी वैष्णवपदमें चलेगये । तैसेही व्रजेश्वरादिके अंश द्रोणादि प्रकट लीलासे व्रजेश्वरादिमें सायुज्यताको प्राप्तहुए, फिर प्रकट लीलाकी समाप्ति होनेपर व्रजेश्वरादिसे निकलकर अपने पदपर चलेगये और व्रजेश्वरादि अप्रकट प्रकाशमें स्थित रहे । अतएव अंशीसे अंशका योग और उससे निकलना शास्त्रसिद्ध है ॥ १७३ ॥

धामास्य द्विविधं प्रोक्तं माथुरं द्वार्व्वती तथा।
माथुरञ्च द्विधा प्राहुर्गोकुलं पुरमेव च ॥
यत्तु गोलोकनाम स्यात्तच्च गोकुलवैभवम्।
स गोलोको यथा ब्रह्मसंहितायामिह श्रुतेः ॥
"गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥"
(ब्र० सं० ५। ४३) इति।
तथा च अग्रे (ब्र० सं० ५। ५६–५७)–
"श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमो भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गगनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ॥
स यत्र क्षीराब्धिः सरति सुरभीभ्यश्च सुमहान्
निमेषार्द्धाख्योऽपि व्रजति न हि यत्रापि समयः ॥
भज श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये ॥१७५॥" इति।

टिप्पणी–प्रागुक्तं धामत्रयं कृष्णस्याह, धामास्येति। ननु गोलोकोऽपि तस्य धाम पठ्यते, स किंरूप इति चेत्? तत्राह, यत् त्विति–गोकुलस्य विभूतिः स इत्यर्थः ॥ तं वर्णयति। देवीति व्युत्क्रमेण योज्यम्, हरि-महेश–देवीधामस्वित्यर्थः ॥ श्रिय इति। यत्र परमपुरुषः कान्तः–एकः, कान्तास्तु बह्व्यः, ताश्च गोप्यः सर्वाः श्रिय एव। यत्र, ज्योतिः–चन्द्रादितेजः, चिदानन्दं, तदास्वाद्यं रसगन्धादि च तथा, परांशत्वात् ॥ निमेषार्द्धाख्यो वेति–प्रकाशान्तरेषु कालावयवानां सत्त्वादिति भावः। मायागन्धास्पर्शात् श्वेतं, सर्वोर्द्धत्वात् द्वीपं, न तु क्षीरसिन्धुमध्यस्थम् अनिरुद्धदेवस्थानमित्यर्थः ॥ १७५ ॥

भा०टी०—श्रीकृष्णजीके धाम द्विविध हैं, माथुर और द्वारका। तिनमें गोकुल और मधुपुरीभेदसे माथुरधामभी द्विविध है ॥ गोलोक[1] नामक जो श्रीकृष्णजीका धाम है, सो गोकुलकोही विभूति है। जैसे कि ब्रह्मसंहितामें उस गोलोककी वार्त्ता श्रवण की जाती है ॥ "गोलोकनामक अपने धामका और निगके नीचेवाले क्रमानुसार हरि, शिव और देवीके उन ३ भागोंको जिन्होंने उन उन प्रभावातिशयको प्रगट किया है, मैं उन्हीं आदि पुरुष गोविन्दका भजन करता हूं।" इति ॥ वैसेही आगे भी कहा है "जिस गोलोककी समस्त स्त्रियेंही लक्ष्मीस्वरूपा हैं, कान्त परमपुरुष हैं, वृक्ष कल्पतरु हैं, भूमि चिन्तामणिगणमयी है, जल अमृत है, स्वाभाविक वार्ताही गान है, स्वाभाविक गमनही नृत्य है, वंशी प्रियसखी और चन्द्रादि ज्योति व रसगन्धादि भोगनेयोग्य वस्तु चिदानंदमय हैं, क्योंकि वह पर अर्थात् परमेश्वरके अंशसे उत्पन्न हैं ॥ जिस स्थानकी गायोंसे वह विपुल क्षीरसागर निकलरहा है, और जहांपर निमिषार्ध नामक कालगतिभी दिखाई नहीं देती मैं उसही श्वेतद्वीपका भजन करता हूं। पृथिवीमें विरल प्रचार कितने एक साधु जिसको 'गोलोक' कहा करते हैं और जानते हैं" ॥ १७५ ॥ इति।

> माथुर, द्वारका, गोकुल और गोलोक

तदात्मवैभवत्वञ्च तस्य तन्महिमोन्नतेः ॥

यथा पातालखण्डे—

"अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी।
दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते ॥
अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥
एवं सप्तपुरीणान्तु सर्वोत्कृष्टन्तु माथुरम्।
श्रूयतां महिमा देवि! वैकुण्ठभुवनोत्तमः ॥ १७६ ॥" इति।

टिप्पणी--ननु गोकुलवैभवं गोलोक इति कथं मन्यामहे ? तत्राह, तदात्मेति। गोलोकादपि गोकुलमहिमाधिक्यात् इत्यर्थः ॥ तदा-

---

1 श्रीकृष्णावतार होनेपर क्षीराब्धिनाथ अनिरुद्धजी उसमें और यादवादिके अंश यादवादिमें प्रविष्टहुए। पुनर्वार जब श्रीकृष्णजीने द्वारकाके अन्तर्धान करनेकी इच्छा की, तब श्रीकृष्णजीसे निकलेहुए क्षीराब्धिनाथ, यादवगणोंसे निकलेहुए उन देवताओंके साथ पुनर्वार अपने पदपर आरोहण करतेहुए ॥ १७५ ॥

2 गोकुलके अप्रकट—प्रकाशको गोलोक कहतेहैं ॥ १७५ ॥

धिक्यं प्रमापयति, अहो इत्यादिभिः। वैकुण्ठशब्देन गोलोकपर्य्यन्तं ग्राह्यं, तस्य तदूर्द्धाङ्गत्वात्। ननु सर्वोर्द्धत्वाभावात् तत आवृत्तिदर्शनात् तद्वासिषु साम्प्रतिकेषु जरादिदुःखवीक्षणाच्च न गोलोकात् तस्य श्रैष्ठ्यं? मैवं, हरेरिव सर्वान्तःस्थत्वेऽपि अचिन्त्यशक्त्या सर्वोर्द्धत्वात्, साधनसम्पन्नानां तत्प्राप्तानां ततोऽनावृत्तेः, हरौ नरकदारकत्वस्येव तद्वासिषु जरादिदुःखस्य दृष्टिदोषहेतुकत्वात्। तथा च न्यूनता नास्ति, आधिक्यन्तु वाचनिकमस्त्येव, तत्तु ग्रन्थकृद्भिरेवोदाहृतम् ॥ १७६ ॥

भा०टी०—गोलोककी अपेक्षा गोकुलकी अधिक महिमा है, इस कारण गोलोकको गोकुलका वैभव कहा गया ॥ यथा पातालखण्डमें—"वैकुण्ठकी अपेक्षा भी जो श्रेष्ठ है ऐसी मधुपुरी धन्या है। केवल इस मधुपुरीमें एकदिन वास करनेसेभी हरिभक्तिका संचार हो जाता है अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्ति, और द्वारावती यह सात पुरी मोक्षकी देनेवाली हैं॥ हे देवि! इन सात पुरियोंमें माथुरमंडल सर्वश्रेष्ठ है। वैकुण्ठसेभी अधिक जो माथुरकी महिमा अतिशय है, सो श्रवण करो" ॥ १७६ ॥ इति ॥

गोलोक गोकुलका वैभव क्यों है?

नित्यलीलास्पदत्वञ्च पूर्वमेव प्रदर्शितम्।
अत एवास्य पाद्मे च श्रूयते नित्यरूपता ॥
"नित्यां मे मथुरां विद्धि वनं वृन्दावनं तथा।
यमुनां गोपकन्याश्च तथा गोपालबालकान् ॥ १७७ ॥" इति।

टिप्पणी—ननु प्रपञ्चमध्यगतत्वात् गोकुलमनित्यं स्यात्? इति शङ्कां निराकर्त्तुमाह, अत एवेत्यादि। न खलु तन्मध्यगतत्वात् अनित्यत्वम्, अन्तर्यामिणोऽपि हरेस्तदापत्तिप्रसङ्गात्, तस्मात् प्रमाणमेव शरणम् ॥ १७७ ॥

भा०टी०—यह पहिलेही दिखाया है कि माथुर नित्यलीलास्थान है, अत एव पद्मपुराणमें भी इस माथुरकी नित्यता कही है ॥ "हमारी मथुरा वृन्दावन, यमुना, गोपकन्या, और गोपबालक इन सबको नित्यरूप जानो" ॥ १७७ ॥ इति।

मथुरामंडलकी नित्यता

१ इन दो श्लोकोंमें और दानसे पहिले दो श्लोकोंमें गोलोककी सबसे ऊपर स्थिति और असाधारण महिमा दिखाई। निमेषार्द्धनामक कालगतिभी दिखाई नहींदेती, इसका भावार्थ यह है कि—पल, विपल, अनुपल, दंड, प्रहर, दिन, मास, वत्सर आदि कालके अंग वा कालके विभाग भगवद्धामके अन्यान्य प्रकाशमेंही है, गोलोकमें नहीं। श्वेतद्वीप—मायागन्ध न होनेके कारण श्वेत और सबके ऊर्द्ध होनेसे द्वीप। नहीं तो वह अनिरुद्धजीका क्षीरसागरमध्यस्थ धाम नहीं है ॥ १७६ ॥

स तु माथुरभूरूपः परिच्छिन्नोऽप्यथाद्भुतः ।
स्फारः संकुचितश्च स्यात्कृष्णलीलानुसारतः ॥
अत्रैवाजाण्डमालापि पर्य्याप्तिमुपगच्छति ।
वृन्दावनप्रतीकेऽपि यानुभूतैव वेधसा ॥
अत्यतो रासलीलायां पुलिने तत्र यामुने ।
प्रमदाशतकोटचोऽपि ममुर्यत्तत्किमद्भुतम् ॥
स्वैः स्वैर्लीलापरिकरैर्जनैर्दृश्यानि नापरैः ।
तत्तल्लीलाद्यवसरे प्रादुर्भावोचितानि हि ॥
आश्चर्य्यमेकदैकत्र वर्त्तमानान्यपि ध्रुवम् ।
परस्परमसंपृक्तस्वरूपाण्येव सर्वथा ॥
कृष्णबाल्यादिलीलाभिर्भूषितानि समन्ततः ।
शैलगोष्ठवनादीनां सान्ति रूपाण्यनेकशः ॥ त्रिभिःकुलकम् ।
लीलाढ्योऽपि प्रदेशोऽस्य कदाचित्किल कैश्चन ।
शून्य एवेक्ष्यते दृष्टियोग्यैरप्यपरैरपि ॥ १७८ ॥

टिप्पणी—तस्मादपि तन्महिमाधिक्ये लिङ्गान्तराण्याह, स तु माथुरभूरूप इत्यादिभिः ॥ वृन्दावनेति—चतुर्मुखाख्ये तदेकदेशस्थले इत्यर्थः ॥ प्रमदेति—"अभूदाकुलितो रासो वनिताशतकोटिभिः।" इति स्मरणात् । अपरैः—दृष्टचयोग्यैः, इति दृष्टान्तत्वेनोपादानम् ॥ १७८ ॥

भा॰टी॰—वह भूमिस्वरूप अद्भुत माथुरमंडल परिच्छिन्न होकर भी कृष्णजीकी लीलाके अनुसार विस्तारयुक्त और संकुचित हो जाती हैं ॥ इस माथुर मंडलमेंही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी पर्य्याप्ति हुआ करती है । ब्रह्माजीने इस वृन्दावनके चतुर्मुखनामक स्थानमें इसको अनुभव किया है ॥ अत एव रासलीलाके समय उस यमुनाकी पुलिनमें जो शतकोटि गोपी परिमिलित हुई थीं, तिसमें फिर आश्चर्यका विषय क्या है ? ॥ अपने अपने लीलापरिकर भक्तके अतिरिक्त और कोई भी जिनको नहीं देख पाता, उन उन लीलाओंके अवसरमें जिनका आविर्भाव होना उचित है, बड़ेही आश्चर्यकी बात है कि, एक

परिच्छिन्न होनेपर भी लीलाके अनुसार मथुरामंडलका विस्तार और संकोच ।

समय एकही स्थानमें रहकर भी जो लोग परस्पर निश्चयही सर्वथा असंपृक्त हैं, और जो लोग कृष्णजीकी बाल्यादिलीलाद्वारा विभूषित हैं, उन समस्त पर्वत, गोष्ठ और वनादिके वह्निरूप सर्वत्र विद्यमान हो रहे हैं ॥ तीन श्लोकोंमें कुलक । दर्शनमें अधिकारी और अनधिकारी दोनों प्रकारके मनुष्यही, वृन्दावनके प्रसिद्ध प्रदेशोंको यद्यपि वे प्रदेश कृष्णलीलान्वित हैं (तथापि वे मनुष्य) कभी कभी शून्यरूपसे अवलोकन किया करते हैं ॥ १७८ ॥

अतः प्रभोः प्रियाणाञ्च धाम्नश्च समयस्य च ।
अविचिन्त्यप्रभावत्वादत्र किञ्च न दुर्घटम् ॥ १७९ ॥

टिप्पणी—अविचिन्त्यशक्तिरेवात्र हेतुरित्याह, अतः प्रभोरिति १७९

भा०टी०—अत एव प्रभुके परिकर, धाम और समयके अचिन्त्य प्रभावसे इन श्रीकृष्ण-नामें कुछभी दुर्घट नहीं होता ॥ १७९ ॥

एवमेव द्वारकायां ज्ञेयं सर्वं विचक्षणैः ॥
यथैकादशान्ते (भा० ११ । ३१ । २३--२४)–
"द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात् ।
वर्जयित्वा महाराज ! श्रीमद्भगवदालयम् ॥
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम् ।
नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः ॥" इति ।
अथान्यद् वैभवं तस्य व्यक्तं श्रीनारदेक्षया ।
यत्रैकत्रैकदा नानारूपावसरचित्रता ॥ १८० ॥

टिप्पणी—एवम्भावो द्वारवत्यामप्यस्तीत्यतिदिशति, एवमेवेति ॥ द्वारकामिति । भगवदालयं वर्जयित्वा हरिणा त्यक्तां द्वारकां समुद्रः क्षणात् अप्लावयत । श्रीमदिति–स्वनित्यपार्षदानां, यदुवीराणां निवासैः सहितं, तैरेव श्रीमत्त्वसम्भवात् । आगन्तुकलोकसमावेशाय याचयित्वानीतां भूमिम् अप्लावयदित्यर्थः ॥ भगवदालयवर्ज्जने हेतुगर्भविशेषणानि स्मृत्येत्यादीनि ॥ अथान्यदिति । तस्य–भगवदालयस्य द्वारवतीधाम्न इत्यर्थः । यत्र एकस्मिन्नेव तस्मिन्नालये, एकदा–युगपदेव, हरेर्नानारूपाणि, नानावसराश्च–प्रातः–सङ्गव-मध्याह्नादिसमयाः, तैः, चित्रता–अत्यद्भुतता । एतच्च नारदकृतयोगमायामहोदयदर्शनाध्याये (भा० १० । ६९) व्यक्तं मृग्यम् ॥ १८० ॥

भा०टी०—विचक्षणगण द्वारकामें भी प्रभुकी लीलादिकोंका ऐसा अचिन्त्य प्रभाव कहा करते हैं॥ यथा एकादशान्तमें—"हरिके द्वारकाको छोड़ जानेपर जो स्मरण-मात्रसेही अशेष अशुभका नाश और सर्व प्रकारके मंगलका मंगलत्व साधन करते हैं, हे महाराज ! उस श्रीमद्भगवदालयको छोड़कर, समुद्र अथवा द्वारकाविभागको एक क्षणभरमें जलप्लावित किया था। कारण कि भगवान् मधुसूदन द्वारकामें नित्यही सन्निहित हैं ॥" इति। अनन्तर एकही भगवदालयमें एकही समयमें जो अनेक प्रकारके रूपकी और समयकी विचित्रता, भगवदालय द्वारकाधामका और एक प्रकारका वैभव, देवर्षि श्रीनारदजीके दर्शनानुसार प्रगट है ॥ १८० ॥

मथुरामंडलकी समान, द्वारकाकी भी नित्यतादि।

प्राकृतेभ्यो ग्रहेभ्योऽन्ये चन्द्रसूर्य्यादयस्तुते ।
लीलास्थैरनुभूयन्ते तथापि प्राकृता इव ॥
इति धामत्रये कृष्णो विहरत्येव सर्व्वदा ॥ १८१ ॥

टिप्पणी—ननु तत्तदवसराः सूर्य्यचन्द्रादिगतिघटिताः, ते च नियता एव स्युः, ततश्चैकदैव नानावसरचित्रता इत्युक्तिः कथं ? तत्राह, प्राकृतेभ्य इति । सूर्य्यादेर्ग्रहस्य समयस्य च भगवदात्मकत्वात् तत्तत्सिद्धिरिति भावः । लीलास्थैः—प्रकटप्रकाशगतैर्लीलापरिकरैः, तथापि, प्राकृता इवेति—प्राकृतसूर्य्यादिगतिघटिततत्तत्समयसाम्येनैव, अप्राकृतसूर्य्यादिगतिघटिता अपि स्वस्वसमया विज्ञायन्ते; प्रकाशान्तरसमयविज्ञानस्य रसापोषित्वेन लीलाशक्त्याच्छादनादिति भावः । एतदेव ज्ञापितम् 'आश्चर्य्यमेकदैकत्र' इत्यादिना ॥ उपसंहरति, इति धामत्रये इति ॥ १८१ ॥

भा०टी०—श्रीकृष्णजीके लीलानुगत चंद्रसूर्यादि अप्राकृत हैं। परन्तु प्राकृत ग्रहसे भिन्न होनेपर भी प्रकटप्रकाशगत लीलापरिकरगण, इन चंद्रमा सूर्यको प्राकृतकी समान अनुभव करते हैं ॥ इस प्रकारसे श्रीकृष्णजी त्रिविध धाममें सर्वदाही विहार करते हैं। तथापि गोकुलमें उनकी माधुरी सबसे अधिक है ॥ १८१ ॥

द्वारकाके चंद्रमा सूर्य अप्राकृत हैं. श्रीकृष्णजीकी माधुरी, गोकुलमें सबसे अधिक है।

तत्रापि गोकुले तस्य माधुरी सर्वतोऽधिका ॥
तथा च सम्मोहनतन्त्रे—
"सन्ति तस्य महाभागा अवताराः सहस्रशः ।
तेषां मध्येऽवताराणां बालत्वमतिदुर्लभम् ॥" इति ।

---

१ प्रकटलीलाके समय श्रीकृष्णजीनें समुद्रके निकट प्रार्थनाकरके पृथ्वीके जिस भागको ग्रहणकिया था, प्रकटलीलाके रोकनेपर समुद्रनें उसकोही लेलिया ॥ १८१ ॥

अत्र कारिका ।–

त्रिधा भवेद्वयो बाल्यं यौवनं वृद्धतेत्यपि ।
वर्षादाषोड़शाद्बाल्यमिति लोके मतान्तरम् ॥

तथा च ब्रह्माण्डे--

"सन्ति भूरीणि रूपाणि मम पूर्णानि षड्गुणैः ।
भवेयुस्तानि तुल्यानि न मया गोपरूपिणा ॥" इति ।
इत्यत्रैव महामन्त्रा महामाहात्म्यमण्डिताः ।
दशार्णाष्टादशार्णाद्या बहुतन्त्रेषु कीर्त्तिताः ॥
सर्वप्रमाणतः श्रेष्ठा तथा गोपालतापनी ।
स्वयमादौ विधात्रे या प्रोक्ता गोपालरूपिणा ॥ १८२ ॥

टिप्पणी–एवं स्वयं भगवन्तं कृष्णं नित्यधामानं नित्यपार्षदं नित्य-ञ्च निरूप्य गोकुले तस्य वैशिष्ट्यमाह, तत्रापि गोकुले तस्ये-धाम्नः पार्षदानाञ्च वैशिष्ट्यमित्यर्थः ॥ तत्र प्रमाणं, सन्तीति । त्वं--नराकृतिकिशोरत्वं गोपरूपिण इत्यर्थः ॥ श्रुतिश्चैवमाहेति भ.. गाह, सर्वेति । श्रेष्ठेति–श्रुतिशिरस्त्वादित्यर्थः । "तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्" (गो० ता०, पू० ८) इति तस्यां कृष्णस्य किशोरत्वश्रवणादित्यर्थः । नन्वेतत् कैशोरं प्रकट-प्रकाशगतकृष्णनिष्ठं, न त्वनादि, इति चेत? तत्राह, स्वयमिति । नित्यं तदित्यर्थः ॥ १८२ ॥

भा०टी०–तथा च सम्मोहनतंत्रमें–"यद्यपि श्रीकृष्णजीके सहस्र २ उपादेय अवतार विद्यमान हैं, तथापि उन समस्त अवतारोंमें बालकपन अतिदुर्लभ है ।" इति ॥ इस श्लोककी कारिका ।–दूसरे मतमें बाल्य, यौवन और वार्द्धक्यभेदसे वयस तीन प्रकारकी है, तिसमें सोलह वर्षतक बाल्य है॥ तथाच ब्रह्माण्डपुराणमें–"मेरे षडै-श्वर्यसे परिपूर्ण बहुत बहुतरूप विद्यमान हैं । परन्तु वे मुझ गोपरूपीकी समान नहीं हो सकते ।" इति ॥ इस हेतु गोपरूपी अर्थात नन्दनंदनके विषयमें महामाहा-त्म्यसे युक्त, दश अक्षरवाला अठारह अक्षरवाला इत्यादि महामंत्र बहुतसे तंत्रोंमें कीर्त्तित

वयस बाल्य ।

१ यहांपर बाल कहनेसेभी बाल्य पौगण्ड और कैशोर, अर्थात् नवनस्थरूप ॥ १८२–१८५ ॥

हुए हैं ॥ स्वयं गोपरूपी भगवानने सृष्टिसे पहिले जो कुछ विधातासे कहा है, वह सर्व प्रमाणोंमें श्रेष्ठ गोपालतापिनी श्रुतिभी इस प्रकारसेही कहती है ॥ १८२ ॥

चतुर्द्धा माधुरी तस्य व्रज एव विराजते ।
ऐश्वर्य्यक्रीडयोर्वेणोस्तथा श्रीविग्रहस्य च ॥

तत्र ऐश्वर्य्यस्य ।—

कुत्राप्यश्रुतपूर्वेण मधुरैश्वर्य्यशालिना ।
सेव्यमानो हरिस्तत्र विहारं कुरुते व्रजे ॥
यत्र पद्मजरुद्राद्यैः स्तूयमानोऽपि साध्वसात् ।
दृगन्तपातमप्येषु कुरुते न तु केशवः ॥

यथा श्रीब्रह्माण्डे श्रीनारदवाक्यं—

"ये दैत्या दुःशका हन्तुं चक्रेणापि रथाङ्गिना ।
ते त्वया निहताः कृष्ण नव्यया बाल्यलीलया ॥
सार्द्धं मित्रैर्हरे ! क्रीडन् भ्रूभङ्गं कुरुषे यदि ।
सशङ्का ब्रह्मरुद्राद्याः कम्पन्ते खस्थितास्तदा ॥" इति ।

क्रीडायाः, यथा पाद्मे—

"चरितं कृष्णदेवस्य सर्वमेवाद्भुतं भवेत् ।
गोपाललीलास्तत्रापि सर्वतोऽतिमनोहरा ॥"

श्रीबृहद्वामने—

"सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्ता मनोहराः ।
न हि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत् ॥ १८३ ॥" इति।

गापि
गोर्भी
ला-
करें

टिप्पणी—गोकुले कृष्णस्य वैशिष्ट्ये हेतून् असाधारणान् धर्म्मानाह, चतुर्द्धेति । ऐश्वर्य्येति—ब्रह्माद्यभिमानिपरिभावकः प्रभावो हि ऐश्वर्य्यम्॥ रथांगिना—चक्रपाणिना,द्वारकानाथेन त्वयेत्यर्थः ॥सशङ्का इति—द्वारकाधीशेन तु तेषां सत्कारोऽप्यस्तीति गोकुले महदैश्वर्य्यमुक्तम्॥गोपालेति—गोपाल्यश्च गोपालाश्च तैःसह लीलाः, 'पुमान् स्त्रिया' (पा०१।२।६१) इति सूत्रात् एकशेषः। सर्वतः—मथुरादिराजलीलातः॥ तास्ताः—दामबन्धनाद्या लीलाः ॥ १८३ ॥

भा०टी०–श्रीकृष्णजीकी चार प्रकारकी अर्थात् ऐश्वर्य, क्रीडा, वेणु और श्रीविग्रहकी माधुरी व्रजमेंही विराजमान हैं ॥ तिनमें ऐश्वर्यकी–जो पहिले कहीं भी नहीं सुनी गयी, ऐसी मधुर ऐश्वर्यराशिकरके सेवित हो, हरिजी उस व्रजमें विहार करते हैं ॥ जिस व्रजमें ब्रह्म–रुद्रादिदेवतागणोंके सम्भ्रमसहित स्तुति करनेपरभी, केशव उनके प्रति कटाक्षपातभी नहीं करते ॥ यथा श्रीब्रह्माण्डपुराणमें श्रीनारदजीका वाक्य–"हे कृष्ण ! तुम द्वारकानाथरूपसे चक्रपाणी हो जिन दैत्योंका नाश नहींकर सके परन्तु उनको तुमने अभिनव बाल्य लीलामें संहार किया है । हे हरे ! तुम मित्रवर्गके साथ क्रीड़ा करते २ यदि एकवार भ्रुकुटिके कटाक्षको विस्तार करो तो आकाशके ब्रह्मरुद्रादि देवगण डरके मारे कांपते रहते हैं ॥" इति ॥

श्रीकृष्णजीकी चतुर्विधमाधुरी ।

क्रीडाकी, यथा पद्मपुराणमें;–"श्रीकृष्णजीके सर्वप्रकार चरित्रही आश्चर्य हैं, तिसमें फिर गोपलीला तो सबकी अपेक्षा अतिशय मनोहारिणी है ।" श्रीबृहद्वामनपुराणमें–"यद्यपि मेरी अनेक प्रकारकी मनोहारिणी बहुतसी लीला विद्यमान हैं, परन्तु रासलीलाकी याद करनेसे न जानें मेरा मन किस भावको प्राप्त हो-जाता है, सो कहा नहीं जाता" ॥ १८३ ॥ इति ।

क्रीडामाधुरी

वेणोः, यथा–

यावती निखिले लोके नादानामस्ति माधुरी ।
तावती वंशिकानादपरमाणौ निमज्जति ।
चरस्थावरयोः सान्द्रपरमानन्दमग्नयोः ॥
भवेद्धर्म्मविपर्य्यासो यस्मिन्ध्वनति मोहने ॥
मोहनः कोऽपि मन्त्रो वा पदार्थो वाद्भुतः परः ।
श्रुतिपेयोऽयमित्युक्तो यत्रामुह्यञ्छिवादयः ॥
यथा श्रीदशमे (भा० १० । ३५ । १४–१५)–
"विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः ।
तव सुतः सति ! यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत्स्वरजातीः ॥
सवनशस्तदुपधार्य्य सुरेशाः शक्रशर्व्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
कवयआनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥"इति ।

---

१ "श्रुतिपेयोऽयमित्युक्तो" इत्यत्र "श्रुतिपेयोऽयमित्युक्तो" इति पाठान्तरम् ।

एकविंशे तथा पंचत्रिंशे चाध्याय ईडिता ।
माधुरी व्रजदेवीभिर्वेणोरेव महाद्भुता ॥ १८४ ॥

टिप्पणी—विविधेति-गोपीनां वाक्यम् । हे सति ! साध्वि श्रीयशोदे राज्ञि !, तव सुतः कृष्णो विविधानि यानि गोपानां, चरणानि—क्रीडाः, तेषु विदग्धः—प्रवीणः, यदा बिम्बतुल्ये अधरे दत्तवेणुः सन्, स्वर-जातीः—निषादर्षभादिस्वरभेदान्, अनयत—आलापितवान् । ताः कीदृशीः ? इत्याहुः, वेणुवाद्ये विषये, उरुधा—बहुप्रकारा, निजैव शिक्षा यासु ताः, न त्वन्यतो गृहीता इत्यर्थः ॥ तत्—तदा, सुरेशास्ता उपधार्य, सवनशः—असकृत, कश्मलं—मोहं, ययुः । कीदृशास्ते ? इत्याहुः, कवयः—सर्वज्ञा अपि, अनिश्चिततत्त्वाः—यत् परमानन्दमयं तत्त्वं पुरा निश्चिक्युः, तत् कथं नादरूपमभूदिति तत्र सन्दिहाना इत्यर्थः। आनतकन्धरचित्ताः— यतः प्रदेशात् वेणुध्वनिरायाति, तमनु आनताः कन्धराश्चित्तानि च येषां ते । एषा वेणुमाधुरी द्वारवतीशस्य नास्तीति ततोऽतिशयः ॥ १८४ ॥

भा०टी०—वेणुकी, यथा;—समस्त लोकोंमें नादकी जितनी माधुरी हैं, (वह) समस्तही श्रीकृष्णजीकी वंशीनादके एक परमाणुमेंही निमग्न हो जाती हैं

वेणुमाधुरी

जिस मोहन वेणुकी ध्वनि होनेपर स्थावर और जङ्गम प्राणिवर्ग परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं, उनके धर्मका विपर्यास हो जाता है ॥ जिस मोहिनी वेणुकी ध्वनिको श्रवण करके सदाशिवादिगण, 'श्रवणाञ्जलिपेय यह क्या एक मोहन मंत्र है अथवा यह क्या एक परमाद्भुत पदार्थ है' यह कहकर मोहग्रस्त हुए थे ॥ यथा श्रीदशममें— "हे साध्वि यशोदे ! विविध गोपक्रीड़ामें प्रवीण तुम्हारा पुत्र, जब बिम्बाधरपर वेणु लगाय, जिसमें अपनी वेणुवादनविषयकी स्वाभाविकी अनेक प्रकारकी शिक्षा प्रकटित होती है, तैसी स्वरजातिका आलाप किया था, ॥ तिसकाल ब्रह्मा, शंकर और इन्द्रादि सुरेश्वर गण सर्वज्ञ होनेपरभी तत्त्वके निश्चय करनेमें सन्दिहान हो, गरदन और चित्तको झुकाय, वारंवार मोहग्रस्त हुए थे ।" इति ॥ श्रीदशमके इक्कीसवें और पैंतीसवें अध्यायमें व्रजदेवियोंनें वेणुकीही महाअद्भुतमाधुरीका गुणकीर्तन किया है ॥ १८४ ॥

श्रीविग्रहस्य, यथा—

असमानोर्द्ध्वमाधुर्य्यतरङ्गामृतवारिधिः ।
जङ्गमस्थावरोल्लासिरूपो गोपेन्द्रनन्दनः ॥

यथा तन्त्रे–

"कन्दर्पकोट्यर्बुदरूपशोभानीराज्यपादाब्जनखाञ्चलस्य ।
कुत्राप्यदृष्टश्रुतरम्यकान्तेर्ध्यानं परं नन्दसुतस्य वक्ष्ये ॥"

श्रीदशमे च (भा० १० । २९ । ४०)–

"का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत-
सम्मोहितार्य्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥ १८९ ॥" इति ।

इति श्रीलघुभागवतामृते श्रीकृष्णामृतं नाम पूर्वखण्डं समाप्तम् ॥

टिप्पणी–कुत्रापीति–श्रीमथुराद्वारकाधीशेऽपीत्यर्थः । यद्यपि स एव कृष्णस्तत्रापि, तथापि तादृशस्थानपरिकराभावात् तद्रूपं नोल्लसति, तद्योगे तूल्लसतीति, "तत्रापि शुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः" (भा० १० । ३३ । ६) इत्याद्युक्तेः ॥ रासक्रीडायां वेणुनादेनाहूतां व्रजसुभ्रुवां कृष्णम् उदासीन्यभाषिणं प्रतिवचनं, का स्त्रीति । अङ्ग हे ! ते–तव, कलपदामृतरूपेण वेणुगीतेन मोहिता सती, का स्त्री, आर्य्यचरितात्–निजधर्म्मात्, न चलेत् ? पुमांसोऽपि शक्रशर्वादयो येन मुमुहुस्तत्र का वार्त्ता स्त्रीणामिति भावः । किञ्च त्रैलोक्यसौभगं रूपञ्चेदं निरीक्ष्येति । अबिभ्रन्–अबिभरुः । तथा च त्वद्बोधकशब्दात् स्वधर्म्मत्यागो युक्तः, किं पुनस्त्वदनुभवेन ? इति उपपत्यं दोषावहमिति न शक्यं वक्तुमिति भावः ॥ १८९ ॥

इति श्रीमद्रूपविरचिते श्रीलघुभागवतामृते श्रीकृष्णामृतं नाम पूर्वखण्डं व्याख्यातम् ।

भा०टी०–श्रीविग्रहकी, यथा;–"जिसकी, समान और जिसकी अपेक्षा अधिक कोई नहीं है, तैसमाधुर्य तरंगमय अमृतके समुद्र जो हैं उन्हीं नंदनंदनका रूप स्थावर जंगमके उल्लासका अतिशय बढ़ानेवाला है ॥ यथा

श्रीविग्रहमाधुरी ।

तंत्रमें–"जिनके चरणकमलके नखांचल असंख्य कामदेवोंकी रूपशोभाकरके नीराजनार्ह हैं, और जिनकी रम्यकान्ति किसी स्थानमेंही दर्शन और श्रवणका विषय नहीं होती,

मैं उन्हीं नन्दनंदनका परमध्यानविधि कहूंगा ।" श्रीदशममेंभी कहा है—"त्रिलोकीके मध्यमें ऐसी कौनसी स्त्री है, जो तुम्हारे कलपदामृतरूप वेणुगीतसे विमोहित हो और त्रैलोक्यके सौभाग्य इस रूपको निरखके, आर्यचरित वा निजधर्मसे विचलित नहीं होवै ? कारण कि वेणुगीतश्रवण और रूप दर्शन करके, गो, पक्षी, वृक्ष और मृग इनके भी अंग पुलकायमान हो जाते हैं ॥ १८५ ॥

इति श्रीलघुभागवतामृतमें श्रीकृष्णामृतनामक पूर्वखण्डका भाषानुवाद समाप्त हुआ ।

गो-
पि
नी
लो-

श्रीलघुभागवतामृतम् ।

उत्तरखण्डम् ।

अथ श्रीभक्तामृतम् ।

आराधनं मुकुन्दस्य भवेदावश्यकं यथा ।
तथा तदीयभक्तानां नो चेद्दोषोऽस्ति दुस्तरः ॥

तथाहि पाद्मे—

"मार्कण्डेयोऽम्बरीषश्च वसुर्व्यासो विभीषणः ।
पुण्डरीको बलिः शम्भुः प्रह्लादो विदुरो ध्रुवः ॥
दाल्भ्यः पराशरो भीष्मो नारदाद्याश्च वैष्णवैः ।
सेव्या हरिं निषेव्यामी नो चेदागः परं भवेत् ॥"

तथा च हरिभक्तसुधोदये—

"अर्च्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्च्चयन्ति ये ।
न ते विष्णोः प्रसादस्य भाजनं दाम्भिका जनाः ॥"

पाद्मोत्तरखण्डे—

"आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम् ।
तस्मात् परतरं देवि ! तदीयानां समर्च्चनम् ॥"

तत्रैव—

"अर्च्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्च्चयेत्तु यः ।
न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः ॥"

आदिपुराणे—

"मम भक्ता हि ये पार्थ ! न मे भक्तास्तु ते मताः ।
मद्भक्तस्य तु ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ॥"

श्रीमद्भागवते च (भा० ११ । १९ । २१)—
"मद्भक्तपूजाभ्यधिका" ॥ १ ॥ इति ।

नित्यं निवसतु हृदये चैतन्यात्मा मुरारिर्नः ।
निरवद्यो निर्वृतिमान् गजपतिरनुकम्पया यस्य ॥

टिप्पणी—एवं स्वामिनः सर्वेश्वरस्य स्वरूपगुणविभूतियाथात्म्यं निरूप्य ततस्तत्सेवकानां भक्तानां स्वरूपयाथात्म्यं निरूप्यमित्याह, अथ श्रीभक्तामृतमिति । अथेति—आनन्तर्य्ये, तन्निरूपणेन एतन्निरूपणस्यानन्तरभावात्; तस्मात् तेषां द्वैतं दर्शितम् ॥ आराधनमिति—शास्त्रकृतः प्रतिज्ञावाक्यम् ॥ उदाहरति, मार्कण्डेय इति । वसुः—उपरिचरः, तदेकान्ती । आगः—अपराधः, परम्—अनिवार्य्यम् ॥ दाम्भिकाः—छलिनः, विष्णुवञ्चका इत्यर्थः ॥ तस्मादिति—विष्णवाराधनात् वैष्णवाराधनं, परं—श्रेष्ठं, तन्मध्ये तदन्तर्भावादिति भावः ॥ ममेति । ये भक्तप्रीतिशून्या मम भक्ताः,ते मम भक्ताः श्रेष्ठा न मताः; भक्ततमा इत्युत्तरात् । श्रुतदेवपूजायां व्यक्तमेतत् ॥ मद्भक्तेति;—मत्पूजातोऽपि मद्भक्तपूजा अभ्यधिका, इति कुलादिपरीक्षा निरस्ता, पादोदकोच्छिष्टे च तेषां ग्राह्ये दर्शिते ॥ १ ॥

दोहा—जिन भक्तनपदधूरितें, चारि पदारथ हाथ ।
कृष्णरस-रसिक मग्न जे, नवों नाय निज माथ ॥ १ ॥
धन वृन्दावन धन्यसखि, धनगोपालनहार ।
जिन सँग दीनदयालप्रभु, करें सदैव विहार ॥ २ ॥

अथ श्रीभक्तामृत ।

भा०टी०—मुकुन्दकी आराधना जिस प्रकारसे आवश्यक है । उनके भक्तोंकी आराधनाभी वैसीही आवश्यक है । नहीं तो दुस्तर अपराध होता है ॥ तथाहि श्रीपद्मपुराणमें;—"हरिसेवा करनेके पीछे मार्कण्डेय, अम्बरीष, वसु, व्यास, विभीषण, पुण्डरीक, बलि, शम्भु, प्रह्लाद, विदुर, ध्रुव, दाल्भ्य, पराशर, भीष्म और नारदादिभक्तगणोंकी सेवाकरना, वैष्णवगणोंका कर्त्तव्य है, न करनेसे घोर अपराध होता है ।" ऐसेही हरिभक्तिसुधोदयमेंभी कहा है—"जो लोग गोविन्दकी अर्चना करके, उनके भक्तोंकी अर्चना नहीं करते, वे दाम्भिक भगवानके प्रसादभाजन नहीं हैं ।" पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें—"हे देवि ! समस्त आराधनाओंमें विष्णुजीकी आराधना श्रेष्ठ है, तिसकी अपेक्षा फिर तिसके भक्तोंकी आराधना औरभी अधिक श्रेष्ठ है ।" जो मनुष्य गोविन्दकी अर्चना करके उसके भक्तोंकी अर्चना नहीं करता, उसको भागवत न जानकर, केवल दाम्भिक अर्थात् विष्णुवंचक मान ॥" आदिपुराणमें—"हे पार्थ ! जो लोग केवल मुझमेंही प्रीति किया करतेहैं, वे मेरे श्रेष्ठ भक्त नहीं हैं; परन्तु जो मेरे भक्तोंके भक्त हैं

भक्तपूजाकी आवश्यकता ।

विष्णुकी आराधनासे भी वैष्णवकी आराधना श्रेष्ठ है ।

भक्तोंके भक्तही भक्ततम हैं

१ "मम" इत्यत्र "मया" इति पाठान्तरम् ।

न लोगही मेरे भक्ततम हैं।" श्रीमद्भागवतमेंभी कहाहै कि–"मेरी पूजाकी अपेक्षा मेरे भक्तोंकी पूजा सर्वप्रकारसे श्रेष्ठ है" ॥ १ ॥ इति ॥

एतेषामपि सर्वेषां प्रह्लादः प्रवरो मतः ।
यत्प्रोक्तं तस्य माहात्म्यं स्कान्दभागवतादिषु ॥
यथा स्कान्दे श्रीरुद्रवाक्यम्–
"भक्त एव हि तत्त्वेन कृष्णं जानाति न त्वहम् ।
सर्वेषु हरिभक्तेषु प्रह्लादोऽतिमहत्तमः ॥"
श्रीसप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादस्यैव वाक्यं (भा० ७ । ९ । २६)–
"क्वाहं रजःप्रभव ईश ! तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न च भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥"
तत्रैव श्रीनृसिंहवाक्यं (भा० ७ । १० । २१)–
"भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः ।
भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् ॥ २ ॥" इति ।

टिप्पणी–भगवतो यथा स्वयं–विलास–व्यूहादिरूपत्वं तारतम्यं गुणव्यक्त्यव्यक्तिकृतमुक्तं, तथा भक्तानामपि भक्तिकृतं तदाह, एतेषामपीत्यादिना ॥ भक्त एवेति–तदेकान्ती यः, स एवेत्यर्थः । न त्वहमिति–ममाधिकारित्वेन अन्यावेशात् तत्त्वेन तज्ज्ञानं नास्तीति हीनत्वप्रकाशनं निर्वेदव्यञ्जकम् । तादृशं भक्तं दर्शयति, सर्वेष्विति ॥ भक्तेषु प्रल्हादस्य श्रेष्ठ्यमाह, क्वाहमिति । सुरेतरकुले–दैत्यवंशे, जातोऽहं क? तस्मिन् मयि तवानुकम्पा क? इति दुर्घटोऽयं सम्बन्ध इत्यर्थः । तत्कुले कीदृशि? इत्याह, रजःप्रभवे तमोऽधिके इति । अनुकम्पामाह, यः पद्मकरः प्रसादो ब्रह्मादिशिरःसु नार्पितः, स मे शिरसि यत् त्वया अर्पित इति ॥ भवन्तीति । त्वामनुव्रताः–त्वदनुसारिणः, भविष्यन्ति। मम सर्वेषां भक्तानां भवान् प्रतिरूपधृक्–एकतः सर्वे एकतो भवानिति, सर्वभक्तश्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ २ ॥

भा०टी०–मार्कण्डेयादि इन समस्त भक्तवर्गोंमें प्रल्हाद श्रेष्ठ हैं । क्योंकि स्कन्दपुराण और भागवतादिमें उनकी महिमा विशेषरूपसे कहीगई है । यथा स्कन्दपुराणमें रुद्रवाक्य–" भक्तही स्वरूपतः श्रीकृष्णजीको जानते

प्रह्लाद

हैं, मैं नहीं जानसका। समस्त हरिभक्तोंके मध्यमें प्रल्हाद अतिमहत्तम हैं" श्रीसप्तमस्कन्धमें श्रीप्रल्हादजीकाही वाक्य;—" हे प्रभो! रजोगुणमें उत्पन्न, और तमोगुणसे ढका इस असुर-कुलमें उत्पन्न हुआ मैं कहाँ, और तुम्हारी कृपा कहां? अर्थात् ऐसी घटना हो नहीं सकती। कारण कि जिन पद्मकरका प्रसाद ब्रह्मा शिव और रमादेवीके मस्तकपरभी अर्पित नहीं हुआ, वही मेरे मस्तकपर अर्पित हुआ।" उस सातवें स्कन्धमेंही (प्रल्हादके प्रति) श्रीनृसिंहजीका वाक्य—" हमारे भक्त पुरुषगण तुम्हारे अनुवर्त्ती होंगे, कारण कि तुम हमारे समस्त भक्तोंमें श्रेष्ठ हो" ॥ २ ॥ इति ॥

पाण्डवाः सर्वतः श्रेष्ठाः प्रल्हादादीदृशादपि ।
श्रीभागवतमेवात्र प्रमाणं स्फुटमीक्ष्यते ॥
तथाहि श्रीसप्तमस्कन्धे श्रीनारदवाक्यं (भा० ७ । १० । ४८–५०; ७ । १५ । ७५–७७)—

"यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥
न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितःप्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥३॥"इति।

टिप्पणी—प्रल्हादादपि पाण्डवानां श्रेष्ठ्यमाह । प्रल्हादसौभाग्यं निशम्य स्वं निकृष्टं मन्वानं युधिष्ठिरं प्रति नारदवाक्यं, यूयमिति । ननु कुतो वयं भूरिभागाः? तत्राह, परं ब्रह्म येषां गृहान् आवसतीति विज्ञाय, लोकं पुनाना मुनयः—मार्कण्डेयादयः, तान् युष्मद्गृहान् अभितो यन्तीति ॥ ननु अस्मन्मातुलेयस्य कथं परब्रह्मत्वं ? तत्राह, स इति । सोऽयं—कृष्णः, महद्भिर्विमृग्यं ब्रह्मैव, वः—युष्माकं, प्रियादिभावेन वर्त्तते । ब्रह्मत्वे हेतुः, कैवल्यस्य—विशुद्धस्य, निर्व्वाणसुखस्य—मोक्षानन्दस्य, अनुभूतिः—साक्षात्कारः, यस्मात् सः; दृष्टश्चेदं शिशुपाले; "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" (श्वे० उ० ३ । ८; ६ । १५) इत्यादिश्रुतिः, "मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ।" इति स्मृतिश्चैवमाह । विधिकृत—वचनवर्त्तीत्यर्थः ॥ ननु कृष्णस्य सत्यभा-

मादिनिरतत्वप्रत्ययात् कथं ब्रह्मत्वमात्मारामत्वरूपं प्रत्येतव्यं ? तत्राह, न यस्येति । यस्य, रूपं–स्वरूपं, भवादिभिरपि, धिया–स्वबुद्ध्या, वस्तुतया नोपवर्णितम्–'इदमेव परं ब्रह्म' इति न निश्चितं, तेऽपि यत्र मोहं लभन्ते; यथा बाणयुद्धे, यथा वत्साहरणे, गोवर्द्धनमखे च विदितमेतत् । तथा च पराख्यस्वरूपशक्तिविलासैः सत्यादिभिरुपेतं तासु निरतं तत आत्मारामं ब्रह्मेवेति तदेकान्तिभिर्विज्ञेयं, नाभिमानिभिरधिकृतैरिति ॥ ३ ॥

भा०टी०–ऐसे प्रल्हादकी अपेक्षाभी पाण्डवगण सर्वप्रकारसे श्रेष्ठ हैं । इस विषयमें श्रीमद्भागवतही स्पष्टरूपसे साक्षी देती है ॥ तैसेही सातवें स्कन्धमें (युधिष्ठिरजीके प्रति) श्रीनारदवाक्य–"अहो! नरलोकमें तुम्हीं अतिशय भाग्यवान् हो, कारण कि तुम्हारे घरमें गूढ,नराकार,साक्षात् परब्रह्मको वास करताहुआ जानकर, जगत्को पवित्र करनेवाले मुनिगण सदा तुम्हारे उस गृहमेंही आते हैं ॥ जिनसे विशुद्ध मोक्षानंदकी अनुभूति हुआ करती है, महद्गणोंके खोजने योग्य वह परब्रह्म यह श्रीकृष्णजी हैं, तुम्हारे प्यारे, सुहृद, मातुलेय, आत्मा, पूज्य, वचनानुवर्त्ती और उपदेशकरूपसे वर्त्तमान हैं । महादेव और ब्रह्माजी इत्यादि देवतालोक अपनी बुद्धिके द्वारा यथार्थरूपसे जिनके स्वरूपका निर्णय नहीं करसकते और मौन भक्ति व उपशमके सहित जिनकी पूजा किया करते हैं, वह यदुपति हमारे प्रति प्रसन्न हों" ॥ ३ ॥ इति ॥

पाण्डवगण ।

व्याख्यातञ्च श्रीस्वामिपादैः–

"अहो प्रह्लादस्य भाग्यं, येन देवो दृष्टः, वयन्तु मन्दभाग्याः इति विषीदन्तं राजानं प्रत्याह, यूयमिति त्रिभिः।"

अस्य पद्यत्रयस्य तात्पर्य्यार्थस्तैरेव लिखितः–

"ननु प्रह्लादस्य गृहे परं ब्रह्म वसति, न च तद्दर्शनार्थं मुनयस्तद्गृहान् अभियन्ति, न च तस्य ब्रह्म मातुलेयादिरूपेण वर्त्तते, न च स्वयमेव प्रसन्नम्, अतो यूयमेव ततोऽप्यस्मत्तोऽपि भूरिभागा इति भावः" ४

टिप्पणी–एभिः पद्यैः प्रह्लादादपि पाण्डवानां श्रैष्ठ्यं श्रीधरस्वाम्युक्तेन निष्कर्षेण दर्शयति, ननु प्रल्हादस्य गृहे इत्यादिना ॥ ४ ॥

भा०टी०–श्रीस्वामिपादने व्याख्याभी कीहै–"अहो ! प्रल्हादका क्या सौभाग्य है ! कि जिन्होंने नृसिंहजीका दर्शन किया;केवल हमलोगही मन्दभाग्य हैं,इस प्रकारसे शोकग्रस्त हुए राजाको "यूयं" इत्यादि तीन श्लोकोंसे कहतेहैं।" इन तीन श्लोकोंके तात्पर्यका अर्थ भी

श्रीस्वामिपादने लिखा है—"प्रह्लादके गृहमें परब्रह्म वास नहीं करते, न उनके घरमें प्रह्लादको देखनेके लिये मुनिगण जाते हैं, और परब्रह्म प्रह्लादके मातुलेयादिरूपसे भी वर्तमान नहीं हैं; परब्रह्म स्वयंही प्रह्लादके ऊपर प्रसन्न नहीं हुए; इस कारणसे प्रह्लाद और हमारी अपेक्षा तुमलोगही अतिशय भाग्यवान् हो, यही नारदजीका अभिप्राय है" ॥ ४ ॥

सदातिसन्निकृष्टत्वान्ममताधिक्यतो हरेः ।
पाण्डवेभ्योऽपि यदवः केचिच्छ्रेष्ठतमा मताः ॥
तथाहि श्रीदशमे (भा० १० । ८२ । २८; ३०)—
"अहो भोजपते ! यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।
यत्पश्यथासकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥"
"तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-
शय्यासनाशन-सयौन-सपिंडबन्धः ॥
येषां गृहे निरयवर्त्म-निवर्त्ततां वः
स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥"
तथा (भा० १० । ९० । ४६)—
"शय्यासनाटनालापस्नानक्रीड़ाशनादिषु ।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥ ५ ॥" इति ।

टिप्पणी—अथ पाण्डवेभ्योऽपि यदूनां श्रैष्ठ्यमाह, सदातीत्यादिना.- केचित्—नित्यपार्षदाः ॥ अहो इति । हे भोजपते!—उग्रसेन ! ॥ तद्दर्शनेति । येषां वो गृहे, स्वयं विष्णुः—पूर्णः कृष्णः, आस—वर्त्ततेस्म । यद्वा, स्वयमास, नतु साधनवशतया; इति नित्यपार्षदता तेषाम् । वः कीदृशानाम् ? इत्याह, निरयवर्त्मनः—संसृतिप्रवाहात्, निवर्त्ततां, नित्यमुक्तानामित्यर्थः । कीदृशोऽसौ ? इत्याह, स्वर्गेति—स्वर्गस्य अपवर्गस्य च सुखैश्वर्य्यप्रधानस्य विरमो येन सः; तं तत्र यः स्वैकान्तिभ्यो न ददातीत्यर्थः । तस्य युष्मत्कर्त्तृका ये दर्शनादयः; युष्मत्संपृक्तानि यानि शय्यादीनि च, तैर्विशिष्टश्चासौ सयौन-सपिण्डबन्धश्चेति, मध्यमपदलोपी कर्म्मधारयः।तत्र, यौनबन्धः—विवाहसम्बन्धः, पिण्डबन्धः—दैहिकसम्बन्धः, ताभ्यां सह वर्त्तमानोऽसाविति बहुव्रीहिगर्भता । अनुपथः—अनुगतिः । प्रजल्पः—गोष्ठी ॥ नित्यपार्षदत्वादेव तेषां कृष्णैकावेशमाह, शय्यासनेति ॥ ५ ॥

भा०टी०—सर्वदा श्रीकृष्णजीके निकट रहनेके कारण अतिशय ममताके होजानेसे कितने एक यादव पांडवोंसे भी अधिक श्रेष्ठतम हैं ॥ तथाहि श्रीदशममें—

यादवगण

"अहो प्रजापते ! इस जगत्के मध्य मनुष्योंमें तुम्हाराही जन्म सफल है, कारण कि तुम योगियोंकेभी दुर्दर्श श्रीकृष्णजीका निरन्तर दर्शन करते हो।" तुम लोग जिसका दर्शन स्पर्शन करतेहो, अनुगति और सम्भाषण करतेहो, तुम्हारे साथ जिनकी शय्या, उपवेशन, भोजन, यौनसंबन्ध (विवाहसम्बन्ध) और पिंडबन्ध (दैहिकसम्बन्ध) विद्यमान है, और जो स्वर्ग तथा अपवर्गकी चाहनाको दूर कर देते हैं, संसारके प्रवाह-से पराङ्मुख जो तुमलोग हो, तुम्हारे गृहमें वह विष्णुजी स्वयं प्रकट हुए हैं।" तथा;— "जिन्होंने एक कृष्णजीमेंही चित्त लगाया है ऐसे वृष्णिगण श्रीकृष्णजीके साथ सदा एक-साथ उठते बैठते, एकसाथ घूमते, बात चीत करते,स्नान करते, विहार करते और साथही भोजनादि कार्यमें लगे रहकर अपने आपेकोभी भूल जातेथे" ॥ ५ ॥ इति ॥

यदुभ्योऽपि वरिष्ठोऽसौ सर्वेभ्यः श्रीमदुद्धवः।
श्रीमद्भागवते यस्य श्रूयते महिमाद्भुतः ॥
तथाहि एकादशे श्रीमद्भगवद्वाक्यं (भा० ११ । १४ । १५)—
"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥"
तथा (भा० ११ । १६ । २९)—
"त्वन्तु भागवतेष्वहम्।" इति।
आबाल्यादेव गोविन्दे भक्तिरस्याखिलोत्तमा ॥
तथा च श्रीतृतीये (भा० ३ । २ । २)—
"यः पंचहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्य्यां बाललीलया ॥"
अतएव तत्रैव श्रीभगवद्वचनं (भा० ३ । ४ । ३१)—
"नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः ॥" इति।
अस्यार्थः।—यद्गुणैः—यस्य उद्धवस्य गुणैः, प्रभुरप्यहं, न अर्दितः—न याचितः। यद्वा, यत्—यस्मात्, उद्धवः, गुणैः—सत्त्वादिभिः, न अर्दितः—न पीडितः, गुणातीत इत्यर्थः। तत्र हेतुः, प्रभुः—भक्तिरसास्वादे प्रभविष्णुः ॥ ६ ॥

टिप्पणी--यदुषु उद्धवस्य श्रैष्ठ्यं दर्शयति, यदुभ्योऽपीति ॥ न तथेति । आत्मयोनिः-- ब्रह्मा, आत्मा-श्रीविग्रहोऽहञ्च ॥ श्रैष्ठ्यहेतुं भक्त्यतिशयमाह, आबाल्यादेवेति ॥ य इति । पञ्चहायनः-पाञ्चवार्षिकः। सपर्य्यां-पूजाम् ॥ नोद्धव इति-मयासार्द्धं तुलया मापितो लेशेनापि न न्यून इत्यर्थः ॥ अन्यत्तु व्याख्यातं शास्त्रकृद्भिरेव ॥ ६ ॥

भा०टी०--समस्त यादवोंकी अपेक्षाभी श्रीमान् उद्धवजी श्रेष्ठ हैं; श्रीमद्भागवतमें उनकी अद्भुत महिमा सुनी जाती है ॥ तथाहि एकादशमें श्रीभगवद्वाक्य--

उद्धव ।

"हे उद्धव!तुम मुझको जैसे प्यारे हो, विरंचि, शंकर, संकर्षण, महालक्ष्मी और मेरा निज विग्रह भी मुझको वैसा प्यारा नहीं हैं।"तथा-"हे उद्धव!भागवतमें तुमहीं जो हो, सो मैं हीं हूं " इति ॥ बाल्यकालसेही गोविन्दजीमें इनकी सर्वोत्तमा भक्ति हुई ॥ तथाच श्री० तीसरे स्कन्धमें;-"जिस समय उद्धवजी पांचवर्षके थे तिस कालमें उन्होंने प्रातःकालके भोजनके लिये माता करके प्रार्थित होनेपर भी, बाल्यलीलाके द्वारा श्रीकृष्णजीकी पूजामें लग रहनेके कारण भोजन करनेकी इच्छा नहीं की ।" अतएव उस तीसरे स्कन्धमेंही भगवद्वाक्य--"प्राकृत गुण जिनको किसी प्रकारकी पीड़ा देनेमें समर्थ नहीं होता, वह प्रभु उद्धव किसी अंशमें भी मुझसे कम नहीं हैं ।" इति ॥ इसका अर्थ।--यद्गुणैः--जिस उद्धवके गुणोंसे--प्रभु जो मैं हूं, वह मैंभी न अर्दितः--याचित नहीं हुआ । अथवा,--यत्--जिस हेतुसे, उद्धव, "गुणैः" सत्त्वादि गुणों करके, "अर्दितः"--पीडित नहीं हुए, अर्थात् वे गुणातीत हैं उसका कारण, न "प्रभुः"--भक्तिका रस चखनेमें समर्थ हैं ॥ ६ ॥

व्रजदेव्यो वरीयस्य ईदृशादुद्धवादपि ।
यदासां प्रेममाधुर्य्यं स एषोऽप्यभियाचते ॥
तथाहि श्रीदशमे (भा० १० । ४७ । ५८)--
"एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥ ७ ॥"

टिप्पणी--अथोद्धवात् गोपीनां श्रैष्ठ्यं दर्शयति, व्रजदेव्य इति ॥ अत्रार्थे प्रमाणमाह, एता इति । एताः-श्रीनन्दव्रजस्थिताः, परं-केवलं तनुभृतः-उत्तमतनुविशिष्टा,याः,निखिलात्मनि-सर्वांशिनि, गोविन्दे गोपाललीले कृष्णे, रूढभावाः-उद्भूतमहाभावाः, वर्त्तन्ते । यत्-यं भावं, भवभियः-मुमुक्षवः शौनकादयः, मुनयः-मुक्ता नारदादयः, वाञ्छन्ति; वयञ्च-उद्धवादयो नित्यं तत्संसर्गिणः, वाञ्छामः; भगव-

तस्तद्दृश्यतां प्रतीत्य तत्परिमाणं वाञ्छामः, न तु प्राप्नुम इत्यर्थः । ईदृशाच्चभावालाभे चतुर्म्मुखजन्मभिरप्यलमित्याह । अनन्तस्य-अपारमाधुरीकस्य तस्य, कथासु, अरसः-रागाभावः, यस्य तस्य, तज्जन्मभिः किं ? न किमपीत्यर्थः ॥ ७ ॥

भा०टी०—इस प्रकारके उद्धवकी अपेक्षा भी व्रजदेवीगण वरीयसी हैं, कारण कि यह उद्धवजी भी उनकी प्रेममाधुरीको चाहा करते हैं ॥ तथाहि श्रीदशममें—"इस नंदव्रजमें स्थित हुई गोपियोंनेही देहधारणके फलको पाया है। कारण कि मुमुक्षु, मुक्त और हम (हरिदास) जिस भावकी वांछा किया करते हैं, इन गोपियोंको, अखिलात्मा गोविन्दमें उसही भावका (अधिरूढ़ महाभावका) उद्भव हुआ है अतएव जिनका अनन्तकथामें अनुराग नहीं है, यदि वे ब्रह्मा होकर भी जन्म लें तो क्या होगा" ॥ ७ ॥

श्रीव्रजदेवीगण।

श्रीबृहद्वामने च भृग्वादीन् प्रति श्रीब्रह्मवाक्यं--

"षष्टिवर्षसहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा ।
नन्दगोपव्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये ॥
तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः ॥"

भृग्वादिवाक्यं--

"वैष्णवानां पादरजो गृह्यते तद्विधैरपि ।
सन्ति ते बहवो लोके वैष्णवा नारदादयः ॥
तेषां विहाय गोपीनां पादरेणुस्त्वयापि यत् ।
गृह्यते संशयो मेऽत्र को हेतुस्तद्वद प्रभो ! ॥"

श्रीब्रह्मवाक्यं—

"न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्राः ! श्रेष्ठाः श्रियोऽपि ताः ।
नाहं शिवश्च शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः क्वचित् ॥"

आदिपुराणे च श्रीमदर्जुनवाक्यं—

"त्रैलोक्ये भगवद्भक्ताः के त्वां जानन्ति मर्म्माणि ।
केषु वा त्वं सदा तुष्टः केषु प्रेम तवातुलम् ॥"

श्रीभगवद्वाक्यं—

"न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव ! ।
न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम ॥

---

१ "तत्परिमाणम्" इत्यत्र "तत्परमाणुम्" इति पाठान्तरम् ।

भक्ता ममानुरक्ताश्च कति सन्ति न भूतले ।
किन्तु गोपीजनः प्राणाधिकप्रियतमो मम ॥
न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परन्तप ! ।
न च रुद्रादयो देवा यथा गोप्यो विदन्ति माम् ॥
न तपोभिर्न वेदैश्च नाचारैर्न च विद्यया ।
वशोऽस्मि केवलं प्रेम्णा प्रमाणं तत्र गोपिकाः ॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्य्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ ! नान्ये जानन्ति मर्म्मणि ॥
निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे पार्थ ! निगूढप्रेमभाजनम् ॥ ८ ॥" इति ।

टिप्पणी—उक्तपोषेण तन्महिमातिशयमुदाहरति, षष्टीति ॥ श्रियोऽपि सकाशात् ताःश्रेष्ठाः—अधिकाः ॥ त्रैलोक्ये इति । यतो वशीभूतः ॥ न मामिति । न जानन्ति—तथा न विदन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

भा०टी०—श्रीबृहद्वामनपुराणमें भृग्वादिके प्रति श्रीब्रह्मवाक्य—" नन्दव्रजस्थित गोपियोंकी चरणरेणुप्राप्तिके लिये पूर्वकालमें मैंने साठ हजार वर्षतक तपस्या कीथी, तथापि उनके चरणोंकी धूरिको प्राप्त नहीं करसका " भृग्वादिवाक्य—"भवादृश व्यक्तिकोभी यदि हरिभक्त की चरणरेणु ग्रहण करनी चाहिये, तो नारदादि बहुतसे वैसे हरिभक्त तो लोकमें वर्त्तमान हैं; उनकी चरणरेणुको छोड़कर आपभी गोपियोंकी चरणरेणुको ग्रहण करनेके अभिलाषी हैं, इस विषयमें हमको संशय होता है । हे प्रभो ! इसका कारण कहिये ।" श्रीब्रह्माजीका वाक्य—" हे पुत्र ! व्रजसुन्दरियोंको साधारण स्त्रियें मत समझो, कारण कि ये महालक्ष्मीमांसेभी श्रेष्ठ हैं । शिव, अनन्त, लक्ष्मी और मैं ब्रह्मा, हम लोग कभी भी उनके समान नहीं होसकते ।" आदिपुराणमेंभी श्रीअर्जुनका वाक्य;—"हे प्रभो ! त्रिलोकीमें कौन२भक्त आपके मर्मको जानते हैं, किन भक्तगणके ऊपर आप सदा संतुष्ट हैं, और किन भक्तगणोंपर आपका अतुल प्रेम है ?" श्रीभगवानका वाक्य—"हे अर्जुन ! ब्रह्मा, रुद्र, महालक्ष्मी और हमारा यह श्रीविग्रह यह समस्त मुझको वैसे प्यारे नहीं है जैसी कि गोपियां मुझको प्रियतमा हैं ॥ पृथ्वीमें मेरे कितनेही भक्त और अनुरक्त हैं, परन्तु गोपियें मुझको प्राणोंसे अधिक प्यारी हैं ॥ हे परन्तप! मुनि, योगी और रुद्रादि देवता, यह लोग मुझको वैसा अनुभव नहीं कर सकते, जैसा कि गोपियें मुझको अनुभव कियाकरती हैं ॥ तपः (वानप्रस्थधर्म), वेद (ब्रह्मचारिधर्म) आचार (गृहस्थधर्म) और विद्या (ज्ञानयोग अर्थात् यतिधर्म,) इन चार आश्रमके धर्मोंसे मैं वशीभूत नहीं होता, केवल एक प्रेमही मुझको वशमें करलेताहै, गोपीगणही तिस विषयमें प्रमाण हैं ॥ केवल एक गोपियेंही मेरे माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और

लक्ष्मीजीसे भी अपसराभी व्रजदेवियें श्रेष्ठ हैं ।

मेरे मनागत भावको जानतीहैं, और कोई हमारे मर्मको नहीं जानसकते ॥ जो गोपियें अपने अंगकोभी 'हमारा' (श्रीकृष्णका) कहकर उपासना किया करतीहैं। हे पार्थ! उन गोपियोंके सिवाय हमारे निगूढ़ प्रेमका पात्र और कोई नहीं है" ॥ ८ ॥ इति।

न चित्रं प्रेममाधुर्य्यमासां वाञ्छेद्यदुद्धवः।
पादरेणूक्षितं येन तृणजन्मापि याच्यते ॥
तथाहि श्रीदशमे (भा० १० । ४७ । ६१)–
"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥" इति।
इति कृष्णं निषेव्याग्रे कृष्णस्योपासकैर्जनैः।
सेव्याः प्रसादपुष्पाद्यैरवश्यं व्रजसुभ्रुवः ॥ ९ ॥

टिप्पणी–तद्भाववाञ्छायां कैमुत्यमाह, न चित्रमिति। येन–उद्धवेन॥ आसामिति। वृन्दावने, आसां–व्रजसुन्दरीणां, चरणरेणून्, जुषन्ते–सेवन्ते, या गुल्मलतौषध्यस्तासां मध्ये किमप्यहं तृणरूपं स्याम्, इति तत्पादरजोऽभिषिक्तगुल्मजन्मस्पृहाभिधानात् तद्भावस्पृहा तु दूरतः स्थिता ॥ वक्तव्यमाह, इति कृष्णमिति। शास्त्रसारार्थज्ञानाम् उपासकानां व्रजरामोपासना आवश्यकीति भावः ॥ ९ ॥

भा०टी०–उद्धवजीने जो इन गोपियोंके प्रेममाधुर्यकी प्रार्थना कीथी, सो कुछ आश्चर्यका विषय नहींहै, वह उनके चरणरेणुसिक्त तृणजन्मकीभी याञ्चा कियाकरते हैं॥ तथाहि श्रीदशमे– "अहो! मानों मैं व्रजसुन्दरियोंका चरणरेणुसेवी हूं, वृन्दावनका गुल्म होजाऊं, लता होऊँ या औषधियोंमेंसे कुछ होजाऊं; कारण कि त्याग न करने लायक स्वजन और आर्यपथको छोड़कर श्रुतियोंके खोजने योग्य मुकुन्दपदवीका उन्होंने भजन किया है" इति ॥ इस कारणसे कृष्णजीके उपासकजन; प्रथम कृष्णजीकी सेवा करके प्रसाद पुष्पादिद्वारा अवश्यही व्रजसुन्दरियोंकी सेवा करेंगे ॥ ९ ॥

तत्रापि सर्वगोपीनां राधिकातिवरीयसी।
सर्वाधिक्येन कथिता यत्पुराणागमादिषु ॥
यथा पाद्मे–
"यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ॥"

आदिपुराणे च—

"त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या यत्र वृन्दावनं पुरी ।
तत्रापि गोपिकाःपार्थ ! तत्र राधाभिधा मम ॥ १० ॥" इति ।

इति श्रीलघुभागवतामृते श्रीभक्तामृतं नाम उत्तरखण्डं समाप्तम् ।

टिप्पणी—श्रीराधायाः सर्वाभ्यः श्रैष्ठ्यं पाद्मादिवाक्ये प्रमाणयति, यथा राधेत्यादिना।आगमः-बृहद्गौतमीयादिः; "देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।सर्वलक्ष्मीमयी सर्व्वकान्तिःसम्मोहिनी परा।"इत्येवमादिः।आदिशब्देन पुरुषबोधिनी;यस्यां खलु "गोकुलाख्ये माथुरमण्डले"इत्युपक्रम्य,'गोविन्दोऽपि श्यामः"इत्यादि"द्वे पार्श्वे चन्द्रावली राधिका च" इति चोक्ता "यस्या अंशे लक्ष्मीदुर्गादिका शक्तिः"इति पठ्यते । तथा च सर्व्वभक्तशिरोमणित्वं श्रीराधायाः सिद्धम् ॥ १० ॥

यद्वाक्यात्साधवः कृष्णं संविदन्ति सपार्षदम् ।
श्रीरूपस्तत्त्वविद्रूपः स मे कृपयतु प्रभुः ॥
श्रीविद्याभूषणेनेयं लघुभागवतामृते ।
टिप्पणी रचिता भूयात्तुष्टये रामवर्णिनः ॥
इति श्रीलघुभागवतामृतं व्याख्यातम् ।
शुभमस्तु ।
शास्त्रक्षीराब्धिसम्भूतं रूपधीमन्दरोद्धृतम् ।
जीयात्कविसुरैः सेव्यं श्रीमद्भागवतामृतम् ॥

भा०टी०—उन समस्त गोपियोंके मध्यमें फिर श्रीराधिकाजी अत्यन्त श्रेष्ठ हैं । कारण कि पद्मपुराण और आगमादि शास्त्रमें वह सर्वाधिकरूपसे अभिहित हुई हैं॥यथा पद्मपुराणमें;—"श्रीकृष्णजीको श्रीराधाजी जिसप्रकार प्यारी हैं, श्रीराधाका कुण्डभी श्रीकृष्णजीको वैसाही प्यारा है । समस्तगोपियोंमें केवल वह श्रीराधाजीही श्रीकृष्णजीको अत्यन्त प्यारी हैं ।" आदिपुराणमेंभी;—"त्रिलोकीके बीच जिसमें वृन्दावन विद्यमान है, वह पृथिवीही धन्य है, और उस वृन्दावनमें सबसे अधिक गोपियें धन्य हैं, और तिनमें फिर हमारी राधिकाजी [illegible]न्य हैं" ॥ १० ॥ इति ॥

श्रीराधिका

इति श्रीलघुभागवतामृतमें श्रीभक्तामृतनामक उत्तर[illegible] का हिन्दीभाषानुवाद समाप्त हुआ।

इति श्रीलघुभागवतके आचार्य श्रीमत्कात्यायनवं[illegible]स पंडिताग्रगण्य भागवतजन-[illegible]चरणरेणु श्रीबलदेवप्रसादमिश्रकृ[illegible]नुवाद सम्पूर्ण ।

इति श्रीलघुभागवता[illegible]पूर्णम् ।

खेमराज श्रीकृष्णदास, "श्री[illegible]" स्टीम् प्रेस—मुंबई.